मेरा देश निकाला

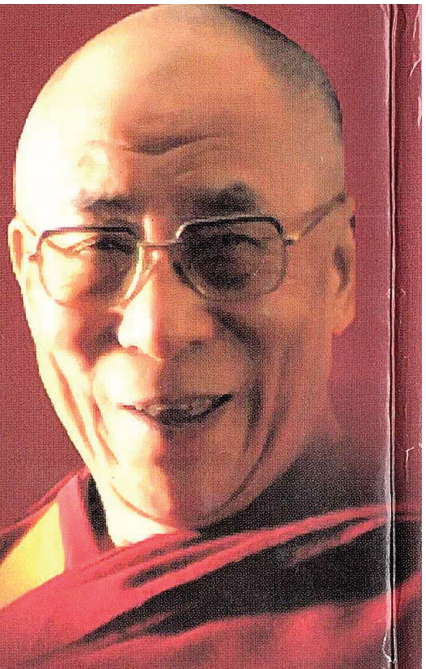

परम पावन दलाई लामा

Freedom in Exile : The Autobiography of the Dalai Lama का अनुवाद

मेरा देश निकाला

अनुवादक
महेन्द्र कुलश्रेष्ठ

मूल्य : तीन सौ पचहत्तर रुपये (Rs. 375.00)
संस्करण : 2010
© Tenzin Gyatso, the fourteenth Dalai Lama of Tibet, 1990, 1998
हिन्दी संस्करण : © राजपाल एण्ड सन्ज़
ISBN : 978-81-7028-867-1
MERA DESH NIKALA (Hindi edition of **Freedom in Exile**
The Autobiography of the Dalai Lama) by Dalai Lama
Published in arrangement with
Aitken, Alexander Associates Limited

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110 006
website : www.rajpalpublishing.com
e-mail : mail@rajpalpublishing.com

मेरा देश निकाला

Freedom in Exile : The Autobiography of the Dalai Lama
का हिन्दी संस्करण

तेनज़िन ग्यात्सो
परम पावन दलाई लामा

राजपाल

क्रम

आमुख 7

श्वेत कमलधारी बोधिसत्व 11

सिंह-तख़्त 26

तिब्बत पर आक्रमण 58

दक्षिण में शरण 66

कम्युनिस्ट चीन की यात्रा 90

नेहरू का इन्कार 110

निर्वासन 130

विवशता का वर्ष 150

एक लाख शरणार्थी 166

भिक्षु-वेश में भेड़िया 181

पूर्व से पश्चिम 198

'जादू और रहस्य' 213

तिब्बत से समाचार 224

शान्ति के प्रयत्न 240

वैश्विक दायित्व और तिब्बत 254

आमुख

'दलाई लामा' का अर्थ भिन्न-भिन्न लोगों के लिए अलग-अलग है। कुछ के लिए मैं जीवित बुद्ध हूँ, करुणा के बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का मानुषी अवतार। कुछ के लिए मैं 'ईश्वर-सम्राट्' हूँ। सन् 1950 के दशक के अन्तिम वर्षों में मैं पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना की राष्ट्रीय पीपुल्स कांग्रेस का एक उपाध्यक्ष था। फिर जब मैं निर्वासन में गया, तो मुझे क्रान्तिविरोधी तथा दूसरों पर आश्रित कीड़ा कहा गया। लेकिन इनमें से कोई शब्द मेरा नहीं है। मेरे लिए 'दलाई लामा' केवल वह पद है जो मुझे प्राप्त है। मैं स्वयं केवल एक मनुष्य हूँ जो तिब्बत में जन्मा है और जिसने बौद्ध भिक्षु का बाना स्वीकार किया है।

इस सामान्य भिक्षु के रूप में ही मैं अपनी यह जीवन की कहानी प्रस्तुत कर रहा हूँ, यद्यपि यह पुस्तक बौद्ध धर्म के बारे में नहीं है। यह कहने के मेरे कारण दो हैं। पहला यह कि काफी लोग दलाई लामा के बारे में जानना चाहते हैं। दूसरा यह कि ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जिनके बारे में मैं सचाई स्पष्ट करना चाहता हूँ।

समय की कमी होने के कारण मैंने यह कहानी सीधे अंग्रेज़ी में ही लिखना तय किया है। यह आसान नहीं रहा है, क्योंकि इस भाषा में मेरी योग्यता सीमित है। मैं यह भी जानता हूँ कि कुछ सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ मैं इस भाषा में सही-सही नहीं कर सकूँगा। लेकिन तिब्बती से अनुवाद करने में भी यही समस्या उत्पन्न होती है। मैं यह भी कहूँगा कि मेरे पास शोध के साधन भी सीमित हैं और मेरी स्मृति भी दूसरों की स्मृतियों की ही तरह अपूर्ण है।

इसके बाद मैं निर्वासन में कार्यरत तिब्बत सरकार के सम्बन्धित अधिकारियों तथा इस कार्य में सहायता करने के लिए श्री एलेक्ज़ेंडर नार्मन को विशेष धन्यवाद देता हूँ।

धर्मशाला
मई 1990

—दलाई लामा

तिब्बत और उसके पड़ोसी देश
M
U S S R
EAST
TURKESTAN
AFGHANISTAN
T I B
Dharamsala
PAKISTAN
Lhasa
Delhi
NEPAL
BHUTAN
Gangtok
BANGLADESH
Dacca
Calcutta
I N D I A

Ulan Bator
ONGOLIAN
REPUBLIC
INNER MONGOLIA
MANCHURIA
KOREA
Beijing
E T
Chamdo
PEOPLE'S
REPUBLIC
OF CHINA
Hong Kong
BURMA
Rangoon
N

1

श्वेत कमलधारी बोधिसत्व

मैं 31 मार्च 1959 को तिब्बत से भागा। तब से आज तक मैं निर्वासित के रूप में भारत में रह रहा हूँ। सन् 1949-50 के दौरान पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना ने मेरे देश पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी। लगभग एक दशक तक मैं अपने देशवासियों का राजनीतिक तथा धार्मिक नेता रहा और कोशिश करता रहा कि दोनों देशों के बीच फिर से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाए लेकिन यह असम्भव सिद्ध हुआ। मैं इस निर्णय पर पहुँच गया कि अब मैं बाहर रहकर ही अपने देशवासियों के लिए कुछ कर सकता हूँ।

जब मैं उस पिछले समय पर नज़र डालता हूँ जब तिब्बत भी स्वतन्त्र था, मुझे लगता है कि वे ही मेरे जीवन के सर्वोत्तम वर्ष थे। अब मैं निश्चित रूप से प्रसन्न हूँ, लेकिन अब मेरा जीवन उस जीवन से बिलकुल भिन्न है जिसमें मेरा पालन-पोषण हुआ था और यद्यपि अब उन दिनों के सुख की याद करने का कोई अर्थ नहीं है, लेकिन उन बातों को सोच कर मन उदास हो जाता है। मेरे देशवासियों ने इस बीच अपार कष्ट सहे हैं। प्राचीन तिब्बत कोई आदर्श देश नहीं था, लेकिन यह भी सत्य है कि हमारी जीवन-पद्धति दूसरों से बिलकुल भिन्न थी और उसमें निश्चित रूप से ऐसा बहुत कुछ था जिसे बचाए रखा जा सकता था, लेकिन जो अब सदा के लिए समाप्त हो गया है।

'दलाई लामा' शब्द का अर्थ अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग है, लेकिन मेरे लिए वह उस पद से ज़्यादा नहीं है, जो मुझे उसके कारण प्राप्त हुआ। 'दलाई' शब्द वास्तव में मंगोलिया की भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'समुद्र', और 'लामा' तिब्बती भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'गुरु' या 'शिक्षक' होता है। दोनों को मिलाकर इनका सामान्य अर्थ 'ज्ञान का समुद्र' किया जा सकता है, लेकिन मेरा ख्याल है कि यह सही नहीं है, भ्रम है। मूलतः, तीसरे दलाई लामा का नाम सोनम ग्यात्सो था, और 'ग्यात्सो' का तिब्बती भाषा में अर्थ 'समुद्र' होता है। दूसरी गलती मुझे यह लगती है कि चीनी भाषा में 'लामा' को 'बुओ फू' कहा जाता है, जिसका अभिप्राय 'जीवित बुद्ध' से लिया जाता है। लेकिन हमारे लिए यह गलत है। क्योंकि तिब्बती

बौद्ध धर्म ऐसा कोई व्यक्तित्व नहीं मानता। यह केवल इतना ही मानता है कि कुछ व्यक्ति, जिनमें दलाई लामा भी एक हैं, अपने पुनर्जन्म का चुनाव कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को 'तुल्कू', अर्थात् अवतार कहते हैं।

यह सही है कि जब तक मैं तिब्बत में रहा, दलाई लामा होने का बहुत ज़्यादा महत्त्व था। एक बात तो यही थी कि मैं अधिकांश जनता के कष्टमय जीवन से मुक्त था। मैं जहाँ भी जाता, मेरे साथ नौकरों का झुंड चलता था। मेरे इर्द-गिर्द कीमती वस्त्र पहने मंत्री और उच्च अधिकारी होते थे, जिनका चुनाव देश के सर्वोपरि धनी-मानी परिवारों से किया जाता था। मेरे दैनंदिन जीवन के साथी उच्च श्रेणी के विद्वान और पहुँचे हुए साधक होते थे। दलाई लामा का पोटाला, हज़ार कमरों का सर्दियों के लिए विशेष रूप से निर्मित विशाल महल था, और जब कभी मैं उससे बाहर क़दम रखता, सैकड़ों सजे-धजे लोग जुलूस के रूप में मेरे आगे-पीछे चलते थे।

इस जुलूस में सबसे आगे एक व्यक्ति 'जीवन-चक्र' को प्रदर्शित करने वाला एक प्रतीक चिह्न लेकर चलता था, जिसे 'न्गाग्पा' कहते थे। उसके पीछे 'तातारा' कहे जाने वाले शानदार घुड़सवारों की पंक्तियाँ चलती थीं जो पारम्परिक विशेष वस्त्र पहने हुए होते थे, और जिनके हाथों में ध्वज होते थे। इनके पीछे अनेक व्यक्ति पिंजड़ों में रखे मेरे प्रिय पक्षी तथा मेरे उपयोग की अन्य वस्तुएँ लेकर चलते थे, जो सुनहरी सिल्क की चादरों से ढके होते थे। इनके पीछे दलाई लामा के अपने मठ नामग्याल से आए अनेक भिक्षु होते थे। प्रत्येक के हाथों में ध्वज होता था जिसमें धर्मवाक्य लिखे होते थे। इनके पीछे घोड़ों पर सवार गायकों की कतार चलती थी। इनके बाद भिक्षु राज्याधिकारियों के दो दल होते थे—आगे सामान्य श्रेणी के अधिकारी, फिर उनके पीछे 'सेद्रुंग' अधिकारी, जो शासन के सदस्य होते थे। इनके पीछे दलाई लामा की अपनी घुड़सालों के घोड़ों की कतार चलती थी, जिन सबके साथ उनके अलग-अलग रक्षक होते थे।

इनके बाद फिर घोड़ों का एक दल चलता था, जिनपर राज्य की शासकीय मुहरें तथा अन्य सामग्री होती थी। अब इनके पीछे मैं स्वयं होता था, पीले रंग की पालकी में विराजमान, जिसे बीस व्यक्ति खींचते थे—ये सभी सेना में अधिकारी, हरे रंग के वस्त्र पहने और लाल टोप लगाए होते थे। इनके बाल खूब लम्बी पोनी टेल की तरह पीछे लटक रहे होते थे, जबकि बड़े अधिकारियों को ही अपने बाल सिर के ऊपर बाँधने का अधिकार प्राप्त था। पालकी का रंग पीला इसलिए था क्योंकि भिक्षु के वस्त्र पीले होते हैं, और इसे आठ व्यक्ति चलाते थे—ये सब भी पीले रंग के लम्बे कोट पहने होते थे। पालकी के बगल में 'काशाग' यानी दलाई लामा के व्यक्तिगत मंत्रिमंडल के चार सदस्य चलते थे—जिनकी अगुवाई दलाई लामा का बॉडीगार्ड, कुसुन देपोन, तथा तिब्बत की छोटी-सी सेना का कमांडर-इन-चीफ, माकची,

कर रहे होते थे। ये दोनों सेल्यूट की कड़ी मुद्रा में अपनी तलवारें ताने मार्च करते थे। इनकी वर्दी में नीले रंग के पाजामे और सुनहरी पट्टी से मढ़े कोट और सिर पर झब्बेदार टोपियाँ होती थीं। इस मुख्य दल को घेरकर मठ की पुलिस का 'सिंग घा' दस्ता चलता था, छह फीट से ज़्यादा लम्बे ये सब लोग काफी भयानक दिखते थे, और गुदगुदे वस्त्र पहनकर ज़रा ज़्यादा ही प्रभावशाली लगने लगते थे। इन सबके हाथों में लम्बे चाबुक होते थे, जिनका प्रयोग करने की उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

मेरी पालकी के पीछे मेरे वरिष्ठ और कनिष्ठ दोनों शिक्षक चलते थे—मेरे वयस्क होने से पहले वरिष्ठ शिक्षक तिब्बत के रीजेन्ट रहे थे। इनके पीछे मेरे माता-पिता तथा परिवार के अन्य लोग चलते थे। इनके पीछे सामान्य तथा जनता के अधिकारियों की पंक्तियाँ चलती थीं जो सब अपने-अपने पदों की वरीयता के अनुसार आगे-पीछे नियत होते थे।

मैं जब कभी बाहर निकलता, ल्हासा नगर की लगभग सारी जनता मेरे दर्शन के लिए निकल पड़ती थी। चारों तरफ एकदम शान्ति छाई होती और लोग ज़मीन पर लेट-लेटकर आँखों में आँसू भरकर मेरा दर्शन करते थे।

मेरा यह जीवन उस समय के जीवन से बिलकुल भिन्न था, जब मैं एक मामूली बच्चा था। मेरा जन्म 6 जुलाई 1935 को हुआ था और मेरा नाम ल्हामो थोंडुप रखा गया था—इस शब्द का अर्थ है इच्छा पूर्ण करने वाली देवी। तिब्बत में व्यक्तियों, स्थानों तथा वस्तुओं के नामों के अनुवाद बहुत चित्रमय लगते हैं। उदाहरण के लिए, तिब्बत की एक प्रमुख नदी का नाम जो भारत की विशाल ब्रह्मपुत्र नदी की जननी भी है, 'सांग्पो' है—जिसका अर्थ होता है 'शुद्ध करने वाला'। हमारे गाँव का नाम था ताक्तसेर—यानी 'गरजता हुआ चीता'। यह बहुत छोटा और गरीब आबादी का गाँव था, जो एक घाटी के ऊपर खड़ी पहाड़ी पर बसा था। इसकी हरियाली ज़मीन पर बस्ती स्थायी रूप से नहीं बसी थी, न लोग खेती करते थे, यहाँ से बंजारे ही गुज़रते थे—जिसका कारण यह था कि यहाँ की जलवायु बहुत अस्थिर थी। मेरे बचपन में यहाँ बीस के करीब ही परिवार थे, जो मुश्किल से अपनी जीविका अर्जित करते थे।

तिब्बत के उत्तर-पूर्व, आमदो नामक प्रदेश में ताक्तसेर गाँव है। भौगोलिक दृष्टि से देश को चार विभागों में बाँटा जाता है। उत्तर-पश्चिम में चेंग-टांग प्रदेश बर्फ से ढका रेगिस्तान है जो पूर्व से पश्चिम तक आठ सौ मील फैला हुआ है। यहाँ एकदम नहीं के बराबर पेड़-पौधे हैं और बहुत ही थोड़े मेहनती लोग यहाँ रह पाने में सफल होते हैं। चेंग-टांग के दक्षिण में ऊ और त्सांग नामक प्रदेश हैं। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में यह प्रदेश ऊँचे हिमालय पर्वतों से घिरा है। ऊ-सांग के पूर्व में खाम नामक प्रदेश है, जो देश का सबसे उपजाऊ हिस्सा है और जिस कारण यहाँ की आबादी सबसे अधिक है। खाम के उत्तर में आमदो प्रदेश है। खाम और आमदो दोनों के पूर्व में तिब्बत की चीन से सटी हुई राष्ट्रीय सीमा है। मेरे जन्म

के समय मा बूफेंग नामक एक मुस्लिम लड़ाके ने आमदो में चीनी सरकार का समर्थक शासन स्थापित कर लिया था।

मेरे माता-पिता साधारण किसान थे, वे किसी बड़े ज़मींदार के मातहत तो नहीं थे, लेकिन कुलीन वर्ग के तो वे कदापि नहीं थे। वे थोड़ी-सी ज़मीन किराए पर लेकर उस पर खुद खेती करते थे। तिब्बत की मुख्य फसलें जौ और मोथी हैं और मेरा परिवार ये आलू के साथ ही उगाता था। लेकिन अक्सर ज़बरदस्त बर्फबारी या सूखे के कारण उनकी फसलें बरबाद हो जाती थीं। वह कुछ पशु भी पालता था, जो खेती से ज़्यादा विश्वसनीय साधन है। मुझे याद है कि हमारे यहाँ पाँच-छह ज़ोमो—याक (बैल और गाय के बीच का एक पशु) थे जिनसे दूध निकाला जाता था और कुछ मुर्गियाँ जो अंडे देती थीं। इनके अलावा अस्सी के करीब बकरे और भेड़ें थीं, और पिताजी के पास दो-तीन घोड़े भी हमेशा रहते थे, जिन पर उनको बहुत गर्व था।

याक एक तरह से मनुष्य के लिए प्रकृति का वरदान है। यह दस हज़ार फीट से ज़्यादा की ऊँचाइयों पर भी जीवित रह सकता है, इसलिए तिब्बत जैसे पर्वतीय प्रदेश के लिए यह आदर्श पशु है। इन ऊँचाइयों से नीचे इनकी मृत्यु होने लगती है। अपनी भारवाही क्षमता तथा दूध देने के गुणों के कारण, साथ ही माँस के रूप में भी उपयोग किया जाने के कारण (इसकी मादा को 'द्री' कहते हैं) इतने ऊँचे प्रदेशों में खेती करने के लिए इससे उत्तम पशु और कोई नहीं है। मेरे माता-पिता जो जौ पैदा करते थे, वह भी इसी तरह उपयोगी है। जौ को भूनकर पीस लेने के बाद जो वस्तु बनती है, उसे 'सांपा' (सत्तू) कहते हैं, और तिब्बत के प्रत्येक भोजन में इसका उपयोग किया जाता है। यहाँ निर्वासन में भी मैं नित्य इसका उपयोग करता हूँ। लेकिन आटे की तरह इसे नहीं खाया जाता। इसमें कोई द्रव मिलाना आवश्यक है—सामान्यतः इसमें चाय मिलाई जाती है, लेकिन दूध (जो मुझे अधिक प्रिय है), दही या 'छंग' या तिब्बती बियर भी मिलाई जा सकती है। फिर उँगलियों से इसके छोटे-छोटे गोले बना लेते हैं। इसके अलावा दलिये में भी इसे मिलाया जा सकता है। तिब्बतियों को यह बहुत स्वादिष्ट लगता है हालाँकि, मेरा ख्याल है कि विदेशियों को यह उतना पसन्द नहीं आता। चीनी तो इसे बिलकुल पसन्द नहीं करते।

मेरा परिवार जो भी उगाता था, उस सबका ज़्यादातर घर में ही उपयोग कर लिया जाता था। लेकिन कभी-कभी मेरे पिता अनाज या कुछ भेड़ों के बदले गाँव से निकलने वाले बंजारों अथवा निकट के सिलिंग गाँव में लगने वाले बाज़ार से (यह स्थान आमदो की राजधानी भी था और यहाँ घोड़े से तीन घंटे में पहुँचा जा सकता था) अन्य वस्तुएँ ले लेते थे। इन दूरदराज़ इलाकों में उस समय सिक्कों का व्यवहार बहुत कम होता था और इसी तरह अदला-बदली के द्वारा व्यापार किया जाता था। हर मौसम में जो भी अनाज बच रहता, उसके बदले में इसी तरह मेरे पिता चाय, चीनी, कपड़ा, कभी-कभी कोई गहना और लोहे का बर्तन इत्यादि ज़रूरत की चीज़ें

ले लेते थे। वे अक्सर नया घोड़ा लेकर भी आते थे और तब बड़े खुश दिखाई देते थे। उन्हें घोड़ों की अच्छी पहचान थी और उनके इलाज के लिए भी प्रसिद्ध थे।

जिस घर में मैं पैदा हुआ, वह तिब्बत में बनने वाले आम घरों जैसा ही था। यह पत्थर और मिट्टी का बना था, ऊपर सपाट छत थी, जो दीवार के तीन तरफ फैली थी। इसका परनाला भी दूसरों से भिन्न था, जो पेड़ की शाखाएँ और खपच्चियाँ जोड़कर बनाया गया था और जिससे वर्षा का पानी भी निकाला जाता था। घर के सामने छोटा-सा आँगन था, जिसके बीच में एक खम्भा खड़ा था। इसमें ऊपर और नीचे से बाँधकर एक झंडा लगा था, जिसमें अगणित प्रार्थनाएँ लिखी थीं।

जानवर घर के पीछे बाँधे जाते थे। घर में छह कमरे थे, एक रसोईघर था जहाँ हम अपना ज़्यादातर समय बिताते थे। एक कमरा प्रार्थना के लिए था जिसमें एक छोटी-सी वेदी बनी थी, यहाँ हर रोज़ सवेरे हम प्रार्थना के लिए एकत्र होते थे। एक माता-पिता का कमरा, एक कमरा कभी-कभार आने वाले मेहमान के लिए, एक कमरा खाने-पीने का सामान रखने के लिए, और पशुओं के लिए बंद स्थान। बच्चों के सोने के लिए कोई अलग कमरा नहीं था। जब मैं छोटा था, माँ के साथ सोता था, कुछ बड़ा हुआ तो रसोईघर में सोने लगा। मेज़, कुर्सी या खाट जैसा फर्नीचर नहीं होता था लेकिन सोने के लिए ऊँची पट्टियाँ बनी थीं। लकड़ी से बनी अलमारियाँ थीं जिनपर रंगीन पॉलिश की गई थी। फर्श भीलकड़ी का ही था जिसपर लम्बे तख्ते सावधानी से लगे थे।

मेरे पिता मध्यम क़द के थे, और उन्हें गुस्सा बहुत जल्दी आता था। मुझे याद है कि एक दफा मैंने उनकी मूँछें पकड़ीं तो ज़ोर से चाँटा मुझ पर पड़ा। लेकिन स्वभाव उनका दयालु था और वे शिकायत नहीं पालते थे। मेरे जन्म के समय की एक कहानी इस तरह है। वे कई हफ्ते से बीमार थे और चारपाई पर पड़े रहते थे। उन्हें क्या बीमारी है, इसका पता नहीं चल पा रहा था, और लगने लगा था कि उनका अन्त समय आ गया है। लेकिन जिस दिन मैं पैदा हुआ, उसी दिन से वे अचानक ठीक होने लगे, जिसका कोई स्पष्ट कारण नहीं दिखाई देता था। मेरा जन्म उत्साह का तो कारण हो ही नहीं सकता था क्योंकि माँ अब तक आ़ठ बच्चों को जन्म दे चुकी थीं—जिनमें से चार ही बचे थे। उस समय जीवन की आवश्यकताओं के मद्देनज़र बड़े परिवार ही सही माने जाते थे और मेरी माँ ने कुल मिलाकर सोलह सन्तानों को जन्म दिया, जिनमें से सात ही जीवित रहे। यह लिखते समय मुझसे एकदम बड़ा भाई, लोबसांग सामतेन, और सबसे बड़ी बहिन सेरिंग डोलमा, मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं, लेकिन इनसे बड़े दो भाई, मुझसे छोटी बहिन और छोटा भाई जीवित हैं और सुखपूर्वक ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं।

मैंने अपने जीवन में जितने भी लोग देखे हैं, उनमें मेरी माँ मुझे सबसे ज़्यादा दयालु लगीं। उनका स्वभाव विलक्षण था, और, मुझे निश्चय है, कि जो भी उनके

सम्पर्क में आता था, उनसे प्यार करने लगता था। उनमें अपार करुणा थी। एक दफ़ा, मुझे यह घटना बताई गई, पड़ोस के चीन में भयंकर अकाल पड़ा। बहुत-से गरीब चीनियों को खाने की तलाश में इधर-उधर भागना पड़ा। एक दिन एक दम्पति अपनी बाँहों में एक मृत बच्चा लिए हमारे दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ। उन्होंने माँ से खाने के लिए कहा, जो उन्होंने उन्हें दिया। फिर माँ ने मृत शिशु की तरफ इशारा करके पूछा कि क्या इसे दफ़नाने में उनकी मदद करे। जब उन्हें यह बात समझ में आई तो उन्होंने सिर हिलाकर बताया कि वे इसे खाएँगे, दफनाएँगे नहीं। यह सुनते ही माँ भय से काँप उठी और उन्हें घर में बुलाकर सारा अनाज उन्हें दे दिया, इसके बाद उन्हें विदा किया। माँ भिखारियों को कभी खाली हाथ जाने नहीं देती थी, भले ही उसे अपने परिवार का खाना-पीना भी क्यों न देना पड़े।

उसकी सबसे बड़ी सन्तान, सेरिंग डोलमा, मुझसे अट्ठारह साल बड़ी थी। मेरे जन्म के समय घर चलाने में वह माँ की मदद करती थी और माँ के लिए दाई का काम भी उसी ने निभाया। जब मैं पैदा हुआ तो उसने देखा कि मेरी एक आँख ठीक से नहीं खुली है। उसने बेहिचक अँगूठा लगाकर उसे खोल दिया—सौभाग्य से कोई हानि नहीं हुई। सेरिंग डोलमा ने मुझे पहला भोजन भी खिलाया, जो परम्परा से एक पौधे की छाल का रस होता है। इसे पीकर बच्चा स्वस्थ होगा, यह विश्वास किया जाता है। मेरे लिए तो यह अच्छा ही साबित हुआ। बाद में बहिन ने मुझे बताया कि बचपन में मैं बहुत गंदगी करता था—जैसे ही बाँहों में लिया, सब गंदा कर देता था।

मेरा अपने तीनों बड़े भाइयों के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। सबसे बड़ा भाई थुप्तेन जिग्मे नोरबू को एक बड़े लामा ताक्तसेर रिन्पोचे, का अवतार मान लिया गया था—'रिन्पोचे' का अर्थ है 'बहुमूल्य' और यह पद आध्यात्मिक साधकों को प्रदान किया जाता है। वह कुमबुम मठ का अध्यक्ष था, जहाँ कई घंटे घोड़े की सवारी करके पहुँचा जा सकता था। दूसरा भाई, ग्यालो थोंडुप, मुझसे आठ वर्ष बड़ा था और मेरे जन्म के समय पड़ोस के एक गाँव की पाठशाला में पढ़ता था। इसके बाद वाला तीसरा भाई लोबसांग सामतेन ही, जो मुझसे तीन वर्ष बड़ा है, घर में मेरे साथ था लेकिन फिर उसे भी भिक्षु बनाकर कुमबुम भेज दिया गया, इसलिए उसे भी मैं ठीक से जान नहीं सका।

उस समय यह किसी को भी अनुमान नहीं था कि मैं साधारण बच्चे की जगह कुछ और बनकर जीवन व्यतीत करूँगा। यह कोई सोच भी नहीं सकता था कि एक ही परिवार में दो तुल्कू पैदा हो सकते हैं, और मेरे पिता को तो यह बिलकुल भी अनुमान नहीं था कि मुझे दलाई लामा घोषित कर दिया जाएगा। मेरा जन्म होते ही उनकी अचानक रोग मुक्ति शुभ तो मानी गई लेकिन उसे विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। इसी तरह मुझे भी भविष्य का कोई ज्ञान नहीं था। मेरी आरम्भिक स्मृतियाँ

बड़ी साधारण हैं। कुछ लोग व्यक्ति के जीवन की आरम्भिक बातों को बहुत महत्त्व देते हैं, लेकिन मैं नहीं देता। मेरी एक, प्रारम्भिक स्मृति यह है कि कुछ बच्चे आपस में लड़ रहे हैं और मैं दौड़कर कमज़ोर बच्चों के दल में शामिल हो गया हूँ। पहली दफ़ा जब मैंने ऊँट देखा, उसकी भी मुझे याद है। मंगोलिया में ये आम होते-हैं और कभी-कभी हमारी सीमा पर भी लाए जाते हैं। ये ऊँचे और शानदार दिखते हैं और इनसे डर भी लगता है। एक दिन मुझे पता लगा कि मेरे पेट में कीड़े हैं, जो पूर्वी प्रदेशों के लिए आम बीमारी है।

उन दिनों की जो एक और बात मुझे याद है, वह यह है कि अपनी माँ के साथ मुर्गियों के दड़बों में जाना मुझे बहुत अच्छा लगता था। माँ जब अंडे इकट्ठे करके वापस चली जाती, तब भी मैं वहाँ डटा रहता और मुर्गियों की तरह कुकुडूँ-कूँ की आवाज़ें निकालने की कोशिश करता रहता था। मुझे यह भी बहुत अच्छा लगता था कि किसी थैले में बहुत-सी चीज़ें भर लूँ और फिर उसे कंधे पर लटकाकर कहूँ, "मैं तो ल्हासा जा रहा हूँ...ल्हासा जा रहा हूँ।" इसके अलावा मैं यह भी ज़िद करता था कि मैं मेज़ पर मुखिया की तरह बैठूँ। इन दोनों बातों को जोड़कर बाद में यह कहा गया कि मुझे यह ज्ञान था कि बड़े होकर मुझे बड़े काम करने हैं। बचपन में मैंने ऐसे कई सपने भी देखे जिनका अर्थ मेरे भावी जीवन से जोड़कर लगाया गया, लेकिन मैं स्वयं यह निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि मुझे इसकी कोई स्पष्ट अनुभूति थी। बाद में माँ ऐसी कई कहानियाँ बताती रही जिन्हें मेरी श्रेष्ठता से जोड़कर देखा गया। जैसे, मैं माँ के अलावा किसी और को अपना कटोरा छूने नहीं देता था? मैं अजनबियों को देखकर डरता भी नहीं था।

अपनी दलाई लामा के रूप में खोज की कहानी सुनाने से पहले मैं बौद्ध धर्म तथा तिब्बत के इतिहास के बारे में कुछ बताना चाहूँगा। बौद्ध धर्म के संस्थापक, सिद्धार्थ, ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जो बाद में बुद्ध शाक्य मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। ढाई हज़ार से अधिक वर्ष पूर्व उनका जन्म हुआ था। उनकी शिक्षाएँ, जिन्हें धर्म या बौद्ध मत कहा गया, चौथी शताब्दी में तिब्बत में पहुँचीं। यहाँ के अपने बॉन धर्म का स्थान ग्रहण करने में उसे कई शताब्दियाँ लगीं, लेकिन वह इतनी गहराई से देश में प्रस्थापित हो गया कि यहाँ की पूरी संस्कृति बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से भरपूर हो गई। तिब्बत के लोग यद्यपि स्वभाव से आक्रामक और युद्धप्रिय हैं, लेकिन धर्म में उनकी बढ़ती रुचि ने उन्हें अन्य समाजों से अलग-सा बना दिया। इससे पहले तिब्बत का बहुत बड़ा साम्राज्य था, जिसमें मध्य एशिया, उत्तर भारत का कुछ भाग, और नेपाल तथा भूटान भी शामिल थे। सन् 763 में तिब्बत की सेनाओं ने चीन की राजधानी पर भी कब्ज़ा कर लिया था, और उन्हें वहाँ से कर तथा अन्य सुविधाएँ

तिब्बत
N
A L Y T A N T A G H M T S
K U N L U N M T S
CHANGTANG
THANGLA
T I B
Senghekhabab (Indus)
Gartok
U-TSANG
H I M A L A Y A S
N E P A L
Tsangpo (Brahmaputra)
DREPUNG
Shigatse
Tingri Dzong
Gyantse
Nangartse
MT EVEREST A 29 028 FT
Kathmandu
Gangtok
BHUT
Dromo
Darjeeling
I N D I A
BANGLA-
DESH

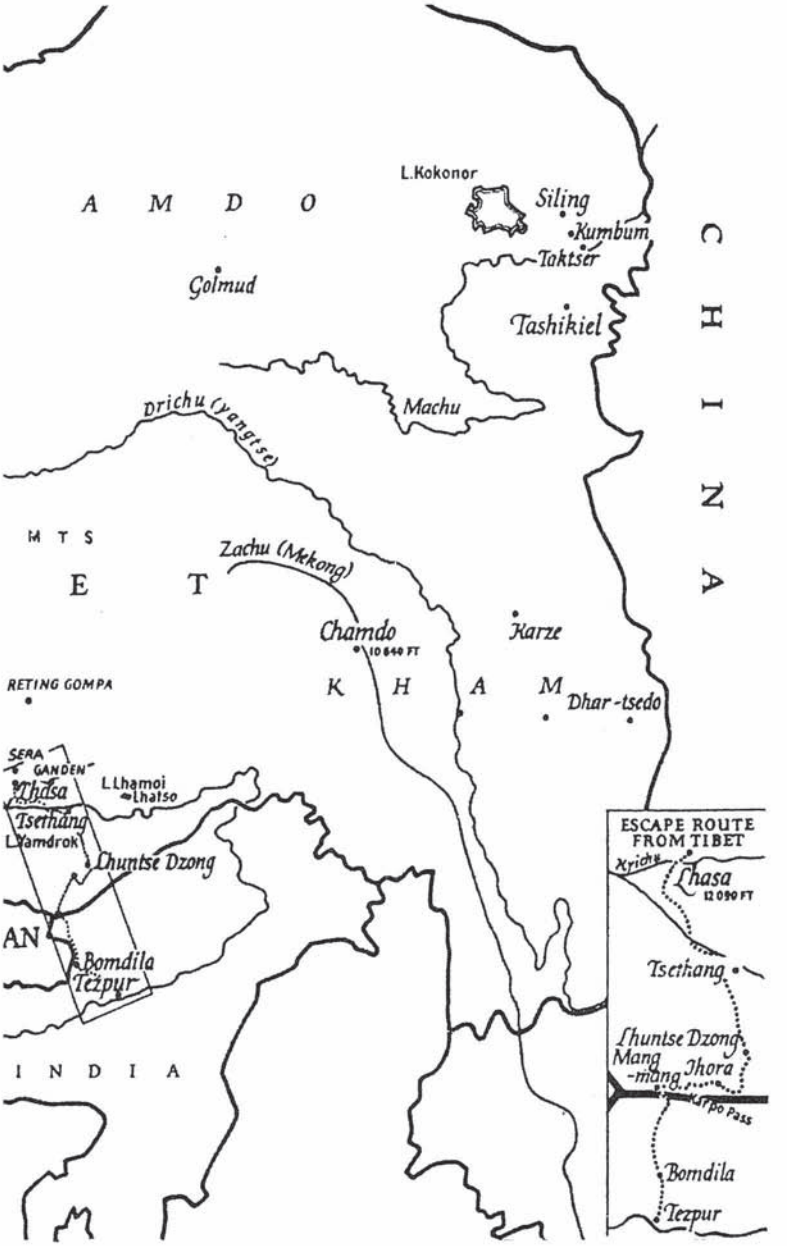
L.Kokonor
A M D O
Siling
Kumbum
Taktser
Golmud
Tashikiel
C H I N A
Machu
Drichu (Yangtse)
M T S
E T
Zachu (Mekong)
Chamdo
10 640 FT
Karze
RETING GOMPA
K H A M
Dhar-tsedo
SERA
GANDEN
Lhasa
L.Lhamoi Lhatso
Tsethang
Lamdrok
Chuntse Dzong
AN
Bomdila
Tezpur
I N D I A
ESCAPE ROUTE FROM TIBET
Xrichu
Lhasa
12 090 FT
Tsethang
Lhuntse Dzong
Mang-mang
Jhora
Tipo Pass
Bomdila
Tezpur

प्राप्त होती थीं। लेकिन जैसे-जैसे बौद्धधर्म में उनकी रुचि बढ़ी, उनके अन्य देशों से सम्बन्ध राजनीतिक न रहकर आध्यात्मिक होते चले गए। चीन के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से सच थी और उसके साथ तिब्बत के सम्बन्ध कुछ 'पुजारी-संरक्षक' जैसे हो गए। मंचू सम्राटों ने, जो बौद्ध थे, दलाई लामा को 'विस्तारशील बौद्ध धर्म का सम्राट' कहा था।

बौद्ध धर्म का मूल सिद्धान्त 'परस्पर निर्भरता' अथवा 'कारण और क्रिया' का सिद्धान्त है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि व्यक्ति जो भी अनुभव करता है, वह इच्छा या प्रेरणा से उत्पन्न क्रिया का परिणाम होता है। इस प्रकार इच्छा ही क्रिया और अनुभव का मूल है। इसी विचार से चेतना तथा पुनर्जन्म की बौद्ध धारणाएँ विकसित हुई हैं।

इनमें से प्रथम धारणा यह है कि चूँकि कारण से परिणाम उत्पन्न होता है इसलिए परिणाम ही अगले परिणाम का कारण बन जाता है, इसलिए चेतना को निरन्तर प्रवाहित तत्त्व मानना होगा। यह बहती रहती है और प्रतिक्षण होने वाले अनुभवों तथा प्रभावों को एकत्र करती चली जाती है। शारीरिक मृत्यु के समय व्यक्ति की चेतना में उसके जीवन के सभी अनुभवों, प्रभावों तथा क्रियाओं का अंकन होता है—इसे 'कर्म' कहते हैं। यही चेतना, अपने सभी अंकनों के साथ, पशु, मनुष्य या देवता के रूप में पुनर्जन्म लेती है।

इसका एक सरल-सा उदाहरण यह होगा, कि यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन में पशुओं के प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है, तो अगले जन्म में वह कुत्ते का जन्म लेकर किसी ऐसे व्यक्ति के पास रह सकता है जिसका पशुओं के प्रति व्यवहार क्रूरतापूर्ण है। इसके विपरीत, इस जन्म में अच्छे कार्य करने वालों को अगले जन्म में इसका अच्छा फल मिल सकता है।

बौद्ध धर्म इससे आगे यह मानता है कि चूँकि चेतना की मूल प्रकृति निर्लिप्त है इसलिए उसके लिए यह सम्भव है कि जीवन में अनिवार्य दुख, कष्ट, मृत्यु, पुनर्जन्म और इसके अनन्त चक्र से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर सके, लेकिन यह तभी सम्भव है, जब जीवन के सब बन्धनों तथा कर्म के सभी नकारात्मक प्रभावों से उसे छुटकारा प्राप्त हो जाए। मनुष्य को जब यह स्थिति प्राप्त हो जाएगी, तब उसकी चेतना पहले मुक्ति प्राप्त करेगी, फिर बुद्धत्व को प्राप्त हो जाएगी। लेकिन तिब्बत की बौद्ध परम्परा के अनुसार, जो व्यक्ति जीवन-मरण के सांसारिक चक्र से मुक्त होकर बुद्धत्व को प्राप्त हो जाता है, उसे भी उस समय तक जीवन धारण करके संसार में बार-बार अन्य जीवधारियों की तब तक सहायता करने के लिए आना पड़ेगा, जब तक प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार मुक्ति को प्राप्त न कर ले।

अब जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं तिब्बत के सभी तेरह पूर्व दलाई लामाओं का अवतार माना जाता हूँ—सन् 1351 में प्रथम दलाई लामा का जन्म हुआ था—और

वे सब अवलोकितेश्वर या चेनरेज़िग के अवतार माने जाते हैं—करुणा के बोधिसत्व, जिनके हाथों में श्वेत कमल शोभायमान है। चेनरेज़िग को उस ब्राह्मण बालक से जोड़ा जाता है जो बुद्ध शाक्यमुनि के काल में विद्यमान था, और ये उसकी परम्परा में 74वें व्यक्ति थे।

मुझसे अक्सर प्रश्न किया जाता है कि क्या मैं इस पर विश्वास करता हूँ। इसका उत्तर देना आसान नहीं है। लेकिन 50 वर्ष की इस आयु में, जब मैं अपने वर्तमान जीवन के अनुभवों पर दृष्टि डालता हूँ, और मेरे जो बौद्ध विश्वास हैं, मुझे यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि मैं पिछले तेरहों दलाई लामाओं से, चेनरेज़िग से, और स्वयं बुद्ध से आध्यात्मिक रूप से जुड़ा हूँ।

जब मैं तीन वर्ष पूरे कर रहा था, तिब्बत सरकार द्वारा प्रेषित एक दल कुमबुम मठ में दलाई लामा के नए अवतार की खोज करने आया। वह कुछ चिह्नों की सहायता से यहाँ पहुँचा था। इनमें से एक मेरे पूर्ववर्ती तेरहवें, दलाई लामा थुप्तेन ग्यात्सो के सुरक्षित शरीर से सम्बन्धित था—सन् 1933 में सत्तावन वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ था। बैठी हुई स्थिति में अचानक यह देखा गया कि उनका सिर दक्षिण दिशा से उत्तर-पूर्व की ओर घूम गया है। इसके तुरन्त बाद तत्कालीन रीजेन्ट को, जो स्वयं बड़े लामा थे, एक दृश्य दिखाई दिया। दक्षिण तिब्बत की पवित्र झील ल्हामोई ल्हात्सो के जल पर नज़र डालते ही उनके सामने तीन तिब्बती अक्षर उभर कर आए : आब, क और म। इन के पीछे एक तोनमंजिले मठ का चित्र उभरा, जिसकी छत सोने और मूंगे की बनी थी, और जहाँ से एक पगडंडी निकलकर ऊपर पहाड़ी पर जाती थी। अन्त में उन्हें एक छोटा-सा घर दिखाई दिया जिसका परनाला भिन्न प्रकार का था। उन्हें लगा कि 'आब' अक्षर का अर्थ उत्तर-पूर्व का प्रदेश आमदो है, इसलिए खोज दल को यहाँ भेजा गया।

ये लोग जब तक कुमबुम पहुँचे, उन्हें विश्वास होने लगा था कि वे सही दिशा में जा रहे हैं। यदि 'आब' अक्षर का अर्थ आमदो हो सकता है तो 'क' का अर्थ कुमबुम होना चाहिए—और यह मठ भी तिमंज़िला था और इसकी छत भी सोने और मूँगे से बनी थी। अब उन्हें उस पहाड़ी तथा उस घर की खोज थी जिसका परनाला विचित्र-सा था। इसलिए इस क्षेत्र के गाँवों में उन्होंने इसकी खोज शुरू की। जब उन्हें हमारे घर की छत और टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ियाँ दिखाई दीं, तो उन्हें लगने लगा कि वे नए दलाई लामा के पास पहुँचने ही वाले हैं। लेकिन, उन्होंने एकदम अपने उद्देश्य की घोषणा न करके यह रात उसी गाँव में बिताने का फैसला किया। दल के नेता के उत्सांग रिन्पोचे नौकर बन गए और घर के सबसे छोटे बच्चे के साथ खेलने और उसके व्यवहार का अध्ययन करने लगे।

बच्चे ने उसे तुरन्त पहचान लिया और 'सेरा लामा, सेरा लामा', कहकर उन्हें पुकारा। उत्सांग रिन्पोचे के मठ का नाम सेरा था। इसके बाद दूसरे दिन वे वापस लौट गए और कुछ दिन बाद अधिकृत प्रतिनिधिमंडल लेकर वापस आए। इस समय वे अपने साथ बहुत-सी चीज़ें भी लाए, जिनमें से कुछ दलाई लामा के उपयोग की वस्तुएँ थीं, और कुछ नहीं भी थीं। जब ये चीज़ें शिशु के सामने रखी गईं तो उसने उन्हीं चीज़ों को यह कहकर उठाया कि 'यह मेरी है', 'यह मेरी है' और बाकी को छोड़ दिया। इससे दल में मोटे तौर पर यह विश्वास हो गया कि दलाई लामा का नया अवतार उन्हें मिल गया है। लेकिन इसे अन्तिम रूप से मानने के लिए उन्हें एक अन्य शिशु का भी परीक्षण करना था। कुछ समय बाद उन्होंने घोषणा कर दी—ताक्तसेर का शिशु ही दलाई लामा है। यह शिशु मैं था।

यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि मुझे इन घटनाओं की ज़्यादा याद नहीं है। तब मैं बहुत छोटा था। सिर्फ एक व्यक्ति की याद है जिसकी नज़र बड़ी तीखी थी। यह व्यक्ति था केनराप तेनज़िन, जिसने बाद में मुझे लिखना सिखाया और मेरे वस्त्रागार का अधीक्षक बना।

जाँच दल ने अन्तिम निर्णय लेने के बाद यह समाचार ल्हासा स्थित रीजेन्ट को भेज दिया। कई महीने बाद इसकी स्वीकृति का समाचार प्राप्त हुआ। तब तक मुझे घर पर ही रहना था। इस बीच प्रदेश के गवर्नर, मा बूफेंग, ने कुछ परेशानियाँ पैदा करनी शुरू कीं। लेकिन अन्ततः मेरे पिता मुझे कुमबुम मठ पहुँचा आए, जहाँ एक सुबह मेरा तख्तारोहण समारोह आयोजित किया गया। यह घटना मुझे इसलिए याद है क्योंकि मुझे सूरज निकलने से पहले जगाकर कार्यक्रम के लिए तैयार किया गया। मुझे सिंहासन पर बैठने की भी याद है।

इसके बाद मेरे जीवन क़ा कुछ-कुछ दुखद अध्याय आरम्भ हुआ। मेरे माता-पिता मेरे साथ ज़्यादा दिन नहीं ठहरे, और मैं इन सब अजनबी चेहरों के बीच अकेला रह गया। इतने छोटे बच्चे के लिए माँ-बाप से अलग रहना कठिन काम है। लेकिन मठ में मेरे लिए दो बातें अच्छी भी थीं। एक तो यही कि मुझसे बड़ा भाई लोबसांग सामतेन उसी मठ में था। मुझसे केवल तीन साल बड़ा होने पर भी वह मेरी देखभाल काफी अच्छी तरह कर लेता था, और बहुत जल्द हम दोनों घनिष्ठ हो गए। दूसरी अच्छी बात यह थी कि उसका शिक्षक एक बहुत भला वृद्ध भिक्षु था जो मुझे अपने लबादे में छिपा लेता था। एक दफा उसने मुझे एक आड़ू खाने को दिया। लेकिन कुल मिलाकर मैं ज़्यादातर दुखी ही रहा। मेरी समझ में नहीं आता था कि दलाई लामा होने का क्या अर्थ है। मैं तो अपने को अन्य बच्चों की तरह एक साधारण बच्चा ही समझता था। बच्चों को बहुत कम उम्र में मठ में रखने की तिब्बत में परम्परा है और अन्य बच्चों की ही तरह मेरे साथ भी व्यवहार किया जाता था। अपने एक चाचा की याद, जो यहाँ भिक्षु थे, मुझे आज तक डराती है। एक दिन

शाम के समय जब वे अपनी प्रार्थना-पुस्तक पढ़ रहे थे, मैंने उनकी पोथी गिरा दी। यह पुरानी पोथियों की तरह कपड़े से बँधी थी और इसके पन्ने इधर-उधर बिखर गए। मेरे चाचा ने मुझे धर पकड़ा और तमाचे लगाए। उनका गुस्सा देखकर मैं भयभीत हो उठा। इसके बाद सालों तक उनका काला, चेचक के दागों से भरा चेहरा और खतरनाक मूँछें डराती रहीं। इसके बाद भी जब भी वे मुझे दिखाई पड़ जाते, तो मैं बहुत आंतकित हो उठता था।

जब यह स्पष्ट हो गया कि अब मेरे माता-पिता मेरे पास आ जाएँगे और हम सब ल्हासा एकसाथ जाएँगे, तो मैं उत्साह से उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा। दूसरे बच्चों की तरह मैं भी यात्रा की संभावना से प्रसन्न था। लेकिन पूरे अट्ठारह महीने बाद यह दिन आया क्योंकि बिना काफी पैसा लिए बूफेंग ने मुझे ल्हासा जाने की आज्ञा देने से इन्कार कर दिया। पैसा पाने के बाद उसने और ज़्यादा पैसे की माँग की, हालाँकि इस बार उसे कुछ नहीं मिला। इस तरह सन् 1939 की गर्मियों से पहले मैं ल्हासा के लिए रवाना नहीं हो सका।

फिर जब, मेरी चौथी वर्षगाँठ के एक सप्ताह बाद, यह दिन आया, तो मैं बहुत उत्साहित हुआ। इस दल में बहुत से लोग थे। मेरे माता-पिता और भाई लोबसांग सामतेन के अलावा इसमें जाँच दल के सभी सदस्य और अनेक तीर्थयात्री भी थे। कई सरकारी अधिकारी हमारी देखभाल के लिए तैनात थे, और खच्चरों पर सवार बहुत से लोग तथा स्काउट भी थे। ये व्यक्ति सारा जीवन तिब्बत में लम्बी यात्राएँ करने वाले लोगों की सहायता करने में कुशल थे। इन लोगों को सही-सही पता होता था कि किस नदी को कहाँ से पार किया जा सकता है और पहाड़ के किस दर्रे को पार करने में कितना समय लगेगा।

कुछ दिन की यात्रा करने के बाद हमने बूफेंग द्वारा शासित प्रदेश को पार किया, और तिब्बत सरकार ने मेरे चुनाव की आधिकारिक घोषणा की। अब हमने दुनिया के एक सबसे खूबसूरत प्रदेश में प्रवेश किया—विशाल ऊँचे पहाड़ और बगल में फैले विस्तृत मैदान, जिनमें हम लोग छोटे-छोटे कीड़ों की तरह रेंगते हुए आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे थे। कहीं-कहीं पिघली हुई बर्फ का ज़बरदस्त रेला सामने आ जाता और हम छपाके मारते उसे पार करते। और कुछ दिन के बाद कोई छोटी-सी बस्ती आती जो हरी घास के झुरमुट में चुपचाप छिपी होती या किसी पहाड़ी को जैसे हाथ की अँगुलियों से कसकर पकड़े लटक रही होती। लेकिन ज़्यादातर ये खुश्क, खाली जगहें होतीं जहाँ धूलभरी आँधियाँ या बर्फ के ज़बरदस्त तूफान प्रकृति की भयंकर शक्तियों का प्रदर्शन करते रहते थे।

ल्हासा की हमारी यात्रा तीन महीने में पूरी हुई। इस यात्रा की बहुत ज़्यादा याद तो नहीं है, सिवाए कुछ आश्चर्यजनक दृश्यों के, जैसे कि जंगली याक के, जिन्हें 'द्रौंग' कहते हैं, बड़े-बड़े झुंडों में मैदान पार कर रहे हैं; या 'क्यांग' कहलाने वाले

जंगली गधों के छोटे-छोटे दल धीरे-धीरे आराम से चले जा रहे हैं, या छोटे हिरन जो तेज़ी से भागकर सामने से इस तरह एक झलक दिखाकर गुज़र जाते हैं मानो भूत क्षण-भर के लिए प्रकट हो गया हो। इसी तरह समय-समय पर आसमान में उड़ते हुए पक्षी देखकर भी मुझे बहुत अच्छा लगता था।

यह अधिकांश यात्रा मैंने 'ड्रेलजाम' नामक पालकी में अपने भाई लोबसांग सामतेन के साथ बैठकर पूरी की। इसे दो खच्चर खींच रहे थे। हम उसमें बैठे लड़ते-झगड़ते ही रहे, जैसा बच्चों का स्वभाव है, और कभी-कभी मुक्के भी चलाए गए। इससे अक्सर पालकी के सन्तुलन खोकर उलट जाने का खतरा पैदा हो जाता था। इस स्थिति में चालक पालकी रोककर माँ को बुलाकर लाता। जब वह भीतर देखती तो हमेशा एक ही स्थिति दिखाई देती—मेरे भाई की आँखों में आँसू भरे होते और मैं स्वयं शान से बैठा होता। उसकी उम्र मुझसे ज़्यादा थी लेकिन मैं उससे ज़्यादा तेज़ था। यूँ हम दोनों बहुत अच्छे दोस्त थे लेकिन एकसाथ रहने पर लड़ते-झगड़ते ही रहते थे। हममें से कोई एक बात कहता, दूसरा उसका जवाब देता और बहस शुरू हो जाती, जिसका अन्त मुक्कों और आँसुओं में होता था—लेकिन आँसू हमेशा उसी के होते थे, मेरे नहीं। लोबसांग सामतेन का स्वभाव बहुत अच्छा था, और वह मेरे खिलाफ़ कभी बलप्रयोग नहीं कर सकता था।

आखिरकार हमारा दल ल्हासा के पास पहुँचने लगा। शरद ऋतु आरम्भ हो गई थी। जब हम ल्हासा से कुछ दिन की दूरी पर पहुँच गए, तब उच्च सरकारी अधिकारियों का एक दल हमारा स्वागत करने आया, और हमें राजधानी के मुख्य द्वार से दो मील दूर दोएगुथांग मैदान में ले गया। यहाँ अनेक तम्बू लगे हुए थे। इनके बीचों-बीच नीले और सफेद रंग का एक बड़ा सा तम्बू था जिसे 'माचा चेनमो', अर्थात् 'महान मयूर पक्षी', कहते हैं। यह बहुत शानदार लग रहा था और इसमें बहुत खूबसूरत कारीगरी से बना लकड़ी का एक सिंहासन रखा था—जिस पर शिशु दलाई लामा को बिठाकर उसका स्वागत किया जाना था।

इसके बाद वह समारोह हुआ जिसमें मुझे तिब्बत की जनता का धार्मिक नेता घोषित किया गया—यह समारोह पूरे दिन चला। मुझे इसकी बहुत कम याद है। सिर्फ लोगों की ज़बरदस्त भीड़ याद है और यह कि मैं घर आ गया हूँ। इतने ज़्यादा लोग मैंने कभी नहीं देखे थे। यह कहा जा सकता है कि चार साल के बच्चे की दृष्टि से मेरा व्यवहार अच्छा रहा; कुछ बहुत वरिष्ठ भिक्षु विशेष रूप से यह जाँच करने आए थे कि मैं सचमुच तेरहवें दलाई लामा का अवतार हूँ अथवा नहीं। कार्यक्रम समाप्त होने के बाद अन्त में लोबसांग सामतेन के साथ मुझे नोरबुलिंग्का—जिसका अर्थ है हीरे-मोती का पार्क—जो ल्हासा के पश्चिम में स्थित है, ले जाया गया।

सामान्यतः इसका उपयोग दलाई लामा के ग्रीष्मकालीन निवास के रूप में किया जाता है। लेकिन रीजेन्ट ने अगले साल तक प्रतीक्षा करने का निश्चय किया, जिसके

बाद तिब्बत सरकार के केन्द्र पोटाला महल में मेरा तख्तारोहण किया जाना था। इस समय तक मैं वहाँ नहीं रह सकता था। लेकिन यह मेरे लिए अच्छा ही रहा क्योंकि पोटाला की तुलना में नोरबुलिंग्का अधिक मनोहर स्थल है। यहाँ अनेक बाग हैं और कई छोटी-छोटी खुली हुई इमारतें हैं। यहाँ से मुझे पोटाला की आलीशान इमारत दिखाई देती थी, जो अँधेरी, ठंडी और उदास प्रतीत होती थी।

इस तरह मैं यहाँ पूरा एक साल अपने भाई के साथ मज़े से खेलता-कूदता, और माता-पिता से नियमित रूप से मिलता-जुलता, बिताता रहा। ये मेरे जीवन में स्वतन्त्रता के अन्तिम दिन थे।

2

सिंह-तख़्त

उन पहली सर्दियों की मुझे बहुत कम याद है। बस, एक घटना मन में, अब तक चिपकी हुई है। वर्ष के अन्तिम महीने में नामग्याल मठ के लामा पारम्परिक चाम नृत्य का आयोजन करते थे, जो पिछले वर्ष की हानिकर शक्तियों के मार्जन के लिए किया जाता था। परन्तु चूँकि अभी तक मेरा विधिपूर्वक तख्तारोहण नहीं हुआ था, शासन ने सोचा कि मेरा पोटाला महल जाना उचित नहीं होगा। लेकिन मेरे भाई लोबसांग सामतेन को माँ अपने साथ ले गईं। इस कारण मुझे उससे बड़ी जलन हुई। देर रात जब वह घर लौटा, तो वह अजीबोग़रीब भारी-भरकम वस्त्र पहने नर्तकों के करतब विस्तार से सुना-सुनाकर मुझे चिढ़ाता रहा।

इसके बाद 1940 के पूरे वर्ष मैं नोरबुलिंग्का में रहा। वसन्त और गर्मियों के महीनों में मेरे माता-पिता मुझसे अक्सर मिलते-जुलते रहे। फिर जब दलाई लामा के रूप में मेरी नियुक्ति हो गई, वे भी समाज के सर्वोपरि वर्ग में सम्मिलित हो गए और उनकी सम्पत्ति में भी बहुत वृद्धि हो गई। महल क्षेत्र में इन दिनों उन्हें भी एक घर प्राप्त हो गया था, जहाँ मैं, एक सेवक के साथ, अक्सर चुपके-चुपके उनसे मिलने चला जाता था। दरअसल इसकी आज्ञा नहीं थी, लेकिन राज्य के रीजेन्ट, जो मेरे अभिभावक भी थे, इसकी उपेक्षा कर देते थे। मुझे भोजन के समय वहाँ जाना ज़्यादा पसन्द था। इसका कारण यह था कि लामा भिक्षु बनने वाले मुझ युवा के लिए अंडे और माँस खाना वर्जित था, और ये चीज़ें मुझे अपने घर में ही खाने के लिए मिल सकती थीं। एक दफ़ा, मुझे याद है, ग्योप केनपो राज्य के एक उच्च अधिकारी, ने मुझे अंडे खाते हुए देख लिया। उसे यह देखकर बड़ा धक्का लगा, और मैं भी चौंक गया। मैं ज़ोर से चिल्ला उठा, 'जाओ, जाओ यहाँ से!'

एक दफ़ा और, मुझे याद है, कि मेरे पिता मेरे सामने बैठे माँस चबा रहे थे, और मैं कुत्ते के पिल्ले की तरह उनकी तरफ़ टुकर-टुकर देख रहा था, कि मुझे भी खाने को दें—तो उन्होंने दिया, और मुझे बहुत स्वादिष्ट लगा। इस प्रकार, कुल मिलाकर ल्हासा में मेरा पहला साल बहुत खुशनुमा रहा। मैं अभी तक भिक्षु नहीं बना था

और मेरी शिक्षा भी होनी थी। लोबसांग सामतेन भी कुमबुम में अपने स्कूल से साल-भर की छुट्टी लेकर मेरे साथ मज़े करता रहा।

सन् 1940 की सर्दियों में मैं पोटाला गया और मुझे तिब्बत के धर्मगुरु पद पर बिठा दिया गया। इस अवसर पर हुए समारोह की मुझे कोई विशेष यादें नहीं हैं, सिर्फ यह कि मैं पहली दफ़ा सि शी फ़ुन्सोग (आध्यात्मिक तथा सांसारिक जीवन के सर्वोत्तम कर्मों का सभागार) में रखे विशाल रत्नजड़ित और नक्काशीदार लकड़ी के बने हुए—सिंह-तख़्त पर विराजमान हुआ, यह भवन पोटाला महल के बाएँ कक्ष में राज्य का प्रमुख सभागार है।

इसके तुरन्त बाद मुझे शहर के बीच में स्थित जोखांग मन्दिर ले जाया गया, जहाँ मुझे भिक्षुत्व की दीक्षा दी गई। इसमें ताफुए नामक अनुष्ठान किया गया, जिसका अर्थ है 'बाल काटना'। इसके बाद मुझे मुंडित सिर और भिक्षुओं के गहरे लाल-भूरे वस्त्रों में ही आजीवन रहना था। इस आयोजन की भी मुझे कोई विशेष यादें नहीं हैं, सिर्फ ये कि ज़ोर-शोर से नाचते समारोह के नर्तकों को देखकर मैं विभोर हो उठता था, और बार-बार भाई लोबसांग सामतेन की ओर देखकर कह उठता, 'अरे, इधर देखो!'

रीजेन्ट रेटिंग रिन्पोचे ने, जो शासन के अध्यक्ष होने के अतिरिक्त बालिग़ होने के समय तक मेरे प्रमुख शिक्षक भी थे, सांकेतिक रूप से मेरे केशों का मोचन किया। शुरू में तो उनके प्रति मेरा रुख़ सतर्कता भरा था लेकिन शीघ्र ही मैं उन्हें बेहद चाहने लगा। मेरी दृष्टि में उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनकी एक नासिका हमेशा बंद रहती थी। व्यक्ति के रूप में वे बड़े कल्पनाशील थे, हर बात को बड़ी सहजता से ग्रहण करते थे और कभी परेशान नहीं होते थे। उन्हें सैर-सपाटा और घुड़सवारी बहुत पसन्द थी, जिस कारण वे पिता जी के अच्छे मित्र बन गए थे। परन्तु खेद की बात यह है कि अपने शासन-काल में वे विवादास्पद व्यक्ति बन गए थे और शासन भी काफ़ी भ्रष्ट हो गया था। इसका एक उदाहरण यह है कि राज्य के उच्च पदों की खरीद-बिक्री आम बात थी।

मेरे तख्तारोहण के समय लोग कहते थे कि रेटिंग रिन्पोचे इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति नहीं हैं। उन्होंने अपना ब्रह्मचर्य व्रत भंग कर दिया है, इसलिए वे अब भिक्षु ही नहीं हैं। उन्होंने राष्ट्रीय सभा में अपनी आलोचना करने वाले एक व्यक्ति को जिस प्रकार दंडित किया, उसकी लोग खुलकर निन्दा करते थे। जो हो, प्राचीन परम्परा के अनुसार, मैंने अपना वास्तविक नाम ल्हामो थोंडुप बदलकर, उनका नाम जामफेल येशे ग्रहण कर लिया—कुछ अन्य लोगों ने भी अपना नाम बदला—और अब मेरा पूरा नाम हुआ जामफेल येशे न्गावांग लोबसांग येशे तेनज़िन ग्यात्सो।

रेटिंग रिन्पोचे मेरे प्रमुख शिक्षक थे, इनके अलावा ताथाग रिन्पोचे मेरे कनिष्ठ शिक्षक नियुक्त किए गए—ये बड़े आध्यात्मिक और दयालु व्यक्ति थे। मुझे पढ़ाने

के बाद वे अक्सर मुझसे अन्य विषयों पर बातें, और हँसी-मज़ाक भी करते थे, जो मुझे बहुत अच्छा लगता था। इनके अलावा, आरम्भिक वर्षों में, खोज दल के नेता, क्यूत्सांग रिन्पोचे को मेरा तीसरा शिक्षक बनाया गया। जब पहले दो शिक्षकों में से कोई अनुपस्थित होता, तो ये उसका स्थान ग्रहण करते थे।

मुझे क्यूत्सांग रिन्पोचे बहुत प्रिय थे। वे भी आमदो के ही निवासी थे। उनका स्वभाव इतना मधुर था कि मैं कभी भी उन्हें गम्भीरता से नहीं लेता था। शिक्षा के समय जब मुझे पाठ दोहराना होता, तो मैं स्वयं उसे न बोलकर उनकी गर्दन से लटक जाता और कहता, 'आप बोलिए।' इसका परिणाम यह हुआ कि उन्नीस वर्ष की उम्र में जब त्रिजांग रिन्पोचे मेरे कनिष्ठ अध्यापक नियुक्त किए गए, तब उन्होंने उसे चेतावनी दी कि मुस्कराना मत, नहीं तो तुम्हारा बेजा फ़ायदा उठाया जाएगा।

परन्तु यह व्यवस्था ज़्यादा दिन तक नहीं चली क्योंकि मेरे भिक्षु बनने के बाद रेटिंग रिन्पोचे ने रीजेन्ट पद छोड़ दिया, जिसका मुख्य कारण जनता का उनके प्रति अविश्वास था। इस समय मेरी आयु छह वर्ष ही थी, फिर भी मुझसे पूछा गया कि मुझे कौन व्यक्ति पसन्द है। मैंने ताथाग रिन्पोचे का चुनाव किया और उन्हें मेरा प्रमुख अध्यापक नियुक्त कर दिया गया; उनके स्थान पर लिंग रिन्पोचे कनिष्ठ अध्यापक नियुक्त किए गए।

जहाँ ताथाग रिन्पोचे का स्वभाव बहुत मधुर था, लिंग रिन्पोचे बहुत कम बोलने वाले और कठोर स्वभाव के थे, इतने कि आरम्भ में तो मैं उनसे बहुत डरने लगा था। मैं उनके सेवक को आते देखकर ही डर जाता था, और उसके पैरों की आहट भी पहचानने लगा था। इसे सुनते ही मेरे दिल की धड़कन रुकने सी लग जाती थी। लेकिन समय बीतने के साथ मैं उनके निकट आता गया और हमारे सम्बन्ध बहुत अच्छे हो गए। सन् 1983 में देहान्त के समय तक वे मेरे घनिष्ठ विश्वासपात्र बने रहे।

इन तीन अध्यापकों के अतिरिक्त तीन व्यक्ति मेरे व्यक्तिगत सेवक भी नियुक्त किए गए—ये तीनों भी लामा थे। इनमें से एक चोपान खेनपो यानी धार्मिक कर्मकांड का अधिकारी था, दूसरा सोलपॉन खेनपो यानी भोजनालय का अधिकारी, और तीसरा सिनपॉन खेनपो यानी वस्त्रागार का अधिकारी। यह तीसरा व्यक्ति केनराप तेनज़िन था जो खोज दल का सदस्य था, जिसकी पैनी नज़रों ने मुझे बहुत प्रभावित किया था।

जब तक मैं बालक था, मेरा भोजनालय के अधिकारी से बहुत लगाव रहा। यह लगाव इतना ज़बरदस्त था कि वह मेरी नज़रों से कभी दूर नहीं होता था, भले ही दरवाज़े के भीतर उसके कुर्ते का निचला छोर ही मुझे दिखाई देता रहे या तिब्बती घरों में लगे पर्दों के बाहर से ही मेरी नज़र उस पर पड़ती रहे। उसे मेरे इस व्यवहार पर कभी आपत्ति नहीं हुई। वह बहुत सरल व्यक्ति था और सिर से एकदम गंजा

था। वह न कहानी सुनाने में निपुण था, न मेरे साथ खेलने में, लेकिन इन बातों से मुझे कोई अन्तर नहीं पड़ता था।

मैं हमेशा अपने इस सम्बन्ध के बारे में विचार करता रहा हूँ। अब मुझे लगता है कि यह किसी बिल्ली के बच्चे या बहुत छोटे जानवर का उस व्यक्ति के साथ सम्बन्ध के समान था, जो उसे खाना खिलाता है। मैं अक्सर यह सोचता हूँ कि खाना खिलाने की क्रिया मानवी सम्बन्धों के मूल कारणों में एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

लामा के रूप में दीक्षित होने के तुरन्त बाद मेरी शिक्षा आरम्भ हो गई। पहले केवल पढ़ना सिखाया गया। लोबसांग सामतेन और मैं, दोनों को साथ पढ़ाया जाता था। मुझे अपने दोनों स्कूल के कमरों की—एक पोटाला में और दूसरा नोरबुलिंग्का में—अच्छी तरह याद है। इनकी दीवार पर दो चाबुकें लटकी रहती थीं, एक पीली सिल्क की और दूसरी चमड़े की। हमें बताया गया कि पहली दलाई लामा के लिए है और दूसरी उसके भाई के लिए। इनको देखकर हमें बहुत डर लगता था। अध्यापक की इन पर नज़र पड़ती तो हम काँप उठते थे। लेकिन पीली चाबुक का कभी भी प्रयोग नहीं हुआ, हाँ, चमड़े वाली का एक-दो बार अवश्य हुआ। बेचारा लोबसांग सामतेन! वह अपने भाई की तरह पढ़ने में तेज़ नहीं था। लेकिन, कभी-कभी मैं यह भी सोचता हूँ कि पुरानी तिब्बती कहावत के अनुसार, कि 'भेड़ को डराने के लिए बकरे को पीटो' उसकी पिटाई का कारण मैं ही हो सकता था।' मेरे कारण उसे यह सज़ा भुगतनी पड़ती थी।

यद्यपि मुझे और लोबसांग सामतेन दोनों को अपनी उम्र के बच्चों के साथ दोस्ती करने की आज्ञा नहीं थी, फिर भी हमारे लिए साथियों की कभी कमी नहीं रही। नोरबुलिंग्का और पोटाला दोनों जगह सफाई करने वालों और सेवकों की कमी नहीं थी—परन्तु इन्हें नौकर नहीं कहा जा सकता था। इनमें से अधिकतर लोग अल्पशिक्षित या अशिक्षित थे जो सेना से आए थे। इनका काम कमरों को साफ़-सुथरा रखना और यह देखना था कि उनके फर्श चमकते रहें—मैं इन पर फिसलता था इसलिए इन्हें ज़्यादा महत्त्व दिया जाने लगा। फिर जब लोबसांग सामतेन को यहाँ से हटा दिया गया—क्योंकि हम दोनों की आपस में बनती नहीं थी, तब ये कर्मचारी ही मेरे साथ रह गए। लेकिन ये बड़े अच्छे साथी थे—बड़ी उम्र के होते हुए भी ये बच्चों की तरह मेरे साथ खेलते-कूदते थे।

जब मैं आठ साल का हुआ, लोबसांग सामतेन को एक प्राइवेट स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिया गया। इससे मेरा जीवन उदास हो गया क्योंकि अपने परिवार में उसी के साथ मेरा सम्बन्ध था। अब उससे मेरी भेंट पूर्णिमा के समय होने वाली छुट्टियों में ही होती। हर दफ़ा जब वह मुझसे विदा लेता, मैं खिड़की पर खड़ा होकर दुखी मन से उसे बाहर जाते देर तक देखता रहता।

इस मासिक मुलाकात के अलावा कभी-कभी माँ भी मुझसे मिलने आती; उसके साथ मेरी बड़ी बहन सेरिंग डोलमा भी होती थी। मुझे इस अवसर की विशेष प्रतीक्षा रहती क्योंकि इनके साथ खाने-पीने की चीज़ें भी होती थीं। मेरी माँ खाना बनाने में बड़ी निपुण थी और उसकी बनाई बेकरी की वस्तुएँ और पेस्ट्रियाँ तो बहुत स्वादिष्ट होती थीं।

जब मैं कुछ और बड़ा हुआ तो माँ मेरे सबसे छोटे भाई तेनज़िन चोग्याल को भी अपने साथ लाने लगीं। यह मुझसे बारह साल छोटा है और मुझसे कहीं ज़्यादा शैतान माना जाता था। उसका एक प्रिय खेल यह था कि वह टट्टुओं को घर की छत पर चढ़ा ले जाता था। मुझे याद है कि एक दफ़ा उसने धीरे से मुझे आकर बताया कि माँ ने कसाई से सूअर का माँस ला देने को कहा है। ऐसे कामों पर हमारे लिए प्रतिबन्ध था, जबकि खुद जाकर माँस खरीद लाना गलत नहीं माना जाता था—क्योंकि कोई विशेष माँस मँगाने का अर्थ यह होता था कि हमारे लिए पशु को मारा जाएगा।

माँस-भक्षण के विषय में तिब्बतियों के विचार कुछ विचित्र ही हैं। बुद्ध धर्म माँस खाने पर स्पष्ट प्रतिबन्ध नहीं लगाता; वह यह कहता है कि भोजन के लिए पशुओं को नहीं मारा जाना चाहिए। तिब्बती समाज में माँस खाने की आज्ञा है—वास्तव में, यह ज़रूरी भी है क्योंकि सांपा के अलावा ज़्यादा कुछ खाने को होता ही नहीं है—लेकिन पशु हत्या का स्पष्ट निषेध है। उनके अलावा दूसरे लोग यह काम करते हैं। ल्हासा में मुसलमान काफ़ी हैं, उनकी अपनी मस्जिद भी है, इसलिए कुछ कसाई तो मुसलमान ही हैं? पूरे तिब्बत में कई हज़ार मुसलमान होंगे, जिनमें से आधे कश्मीर से आए थे और शेष चीन से।

एक दफ़ा माँ मेरे लिए ताक्तसेर के विशेष पकवान, माँस के कबाब, बनाकर लाई, तो मैं वे सब दूसरों को बिना बताए सारे-के-सारे एकदम चट कर गया, क्योंकि अगर सेवकों को बताता तो उन्हें भी देने पड़ते, लेकिन दूसरे ही दिन मैं बहुत बीमार पड़ गया। इसका नतीजा यह हुआ कि रसोईघर के अधिकारी की नौकरी पर बन आई। ताथाग रिन्पोचे को लगा कि इसके लिए वही ज़िम्मेदार हैं, तो मुझे सच बात बतानी पड़ी। लेकिन यह मेरे लिए एक सबक साबित हुआ।

पोटाला महल देखने में तो बहुत भव्य और सुन्दर है लेकिन रहने की दृष्टि से यह अच्छा नहीं है। ईसाई केलेन्डर के अनुसार सत्रहवीं शताब्दी में महान पंचम दलाई लामा ने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में एक छोटी-सी इमारत के बगल में खड़ी 'लाल पहाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध चट्टान पर बनवाया था। सन् 1682 में जब उनकी मृत्यु हुई, तब इसका निर्माण चल ही रहा था; उनके स्वामिभक्त प्रधानमंत्री देसी सांग्यो ग्यात्से, ने पन्द्रह वर्ष तक, जब तक महल का निर्माण कार्य पूरा न हो

गया इस तथ्य को जनता से छिपाए रखा, और यही बताता रहा कि दलाई लामा लम्बी यात्रा और विश्राम पर चले गए हैं।

पोटाला केवल राजमहल ही नहीं था। इसमें अनेक सरकारी दफ्तर और भंडार घर तो थे ही, नामग्याल—जिसका अर्थ है 'विजयी'—मठ भी था, जिसमें 175 लामा रहते थे, और कई मन्दिर थे, तथा युवा लामाओं के शिक्षण के लिए एक स्कूल भी था जिसमें शिक्षा प्राप्त कर वे त्सेद्रंग अधिकारी बनते थे।

जब मैं बच्चा था, तब मुझे रहने के लिए सबसे ऊपर की सातवीं मंज़िल पर स्वयं महान पंचम दलाई लामा का कमरा दिया गया था। यह बेहद ठंडा और अँधेरा था, और मुझे शक है कि उनके देहान्त के बाद किसी ने इसे छुआ भी होगा। इसकी हर चीज़ प्राचीन और टूटी-फूटी थी, और चारों दीवारों पर टँगी झालरों के पीछे सदियों पुरानी धूल-धक्कड़ जमा थी। कमरे के एक सिरे पर एक वेदिका थी जिस पर मक्खन से भरे अनेक दीपक रखे थे और बुद्ध मूर्तियों के सामने छोटी-छोटी प्यालियों में भोजन और जल रखा था। हर रोज़ चूहे इन पर हमला करके इन्हें चट करते—और ये छोटे-छोटे प्राणी मुझे बहुत अच्छे लगते थे। ये बहुत सुन्दर थे और निर्भय होकर अपने भोजन का उपभोग करते थे। रात को जब मैं सोने के लिए बिस्तर पर लेटता, तो इनकी दौड़-भाग की आवाज़ें देर तक मुझे सुनाई देती रहतीं। कभी-कभी ये मेरे पलंग पर भी चढ़ आते। कमरे में वेदिका के अलावा एक और मुख्य वस्तु थी—बहुत बड़ा लकड़ी का बक्सा जिस पर बड़े-बड़े गद्दे और रज़ाइयाँ पड़ी थीं, और जिसके चारों तरफ लाल रंग के पर्दे लगे थे। चूहे इनके भीतर उठा-पटक करते और जब मैं सोने के लिए रज़ाइयों के भीतर घुसता, तो उसमें उनका मूत्र बिखरा होता।

पोटाला और नोरबुलिंग्का दोनों स्थानों पर मेरी दिनचर्या एक जैसी होती; हाँ, दूसरे स्थान पर समय एक घंटा बढ़ा दिया जाता था, क्योंकि गर्मियों में दिन बड़े होते थे। लेकिन इस कारण मुझे कोई परेशानी नहीं होती थी; सूरज निकलने के बाद उठना मुझे कभी पसन्द नहीं था। एक दफ़ा मैं बहुत देर तक सोता रहा और उठने पर मैंने देखा कि लोबसांग सामतेन बाहर खेल रहा है, तो मैं एकदम गुस्सा हो उठा।

पोटाला में मैं हर सुबह छह बजे उठ जाता था। कपड़े बदलने के बाद मैं करीब एक घंटा प्रार्थना और ध्यान में व्यतीत करता था। फिर, सात बजे मेरा नाश्ता आता था। इसमें ज़्यादातर चाय और सांपा, शहद या शक्कर के साथ, होते थे। फिर मेरी पहली कक्षा लगती थी, जिसे केनराप तेनज़िन पढ़ाते थे। पढ़ना सीखने के बाद तेरह साल की उम्र तक लिखने की कला सिखाई गई। तिब्बती भाषा की दो प्रमुख लिपियाँ हैं, ऊ चेन और ऊ-मे; पहली का प्रयोग पांडुलिपियों में और दूसरी का सरकारी कामकाज तथा परस्पर व्यवहार के लिए किया जाता है। मेरे लिए ऊ-मे सीखना ही आवश्यक था, लेकिन चूँकि इसे मैं बड़ी जल्दी सीख गया, इसलिए दूसरी लिपि भी मैंने सीख ली।

जब मैं सवेरे की इस कक्षा के बारे में सोचता हूँ, तो मुझे हँसी आए बिना नहीं रहती। जब मैं वेशभूषा अधिकारी की पैनी नज़र के नीचे कपड़े पहन रहा होता, तब बगल के कमरे में कर्मकांड के अधिकारी की प्रार्थनाएँ सुनाई देती रहतीं। स्कूल का अर्थ एक बरामदा-भर था जो मेरे सोने के कमरे से सटा हुआ था और जिसमें फूल-पौधों के गमलों की क़तारें लगी थीं। यहाँ भी अक्सर सर्दी होती, लेकिन बहुत ज़्यादा भी नहीं, और यहाँ छोटी, काली और लाल चोंच वाली डुंकर चिड़िया के खेल देखना बहुत अच्छा लगता था—ये पोटाला की ऊँचाइयों पर अपने घोंसले बनाती हैं। इस समय कर्मकांड का अधिकारी मेरे सोने के कमरे में बैठा रहता था। उसकी यह बुरी आदत थी कि प्रार्थना करते-करते सो जाता था। जब उसे नींद आने लगती, तब ग्रामोफ़ोन की आवाज़ की तरह, जब उसकी बिजली खत्म होने लगे, तब वह जिस तरह धीरे-धीरे गैं-गैं करके मन्द पड़ती और फिर एकदम बंद हो जाती है, उसकी प्रार्थना हल्की पड़कर चुप हो जाती। फिर जब तक उसकी आँखें बंद रहतीं, उसका मुँह भी बंद रहता, और आँख खुलते ही फिर शुरू हो जाता। लेकिन इस बीच वह प्रार्थना का क्रम भूल जाता और याद करने की कोशिश में एक ही शब्दों को बार-बार दोहराता रहता। मुझे यह सब मज़ाक-सा लगता। लेकिन इसका एक लाभ भी हुआ कि जब मुझे प्रार्थनाएँ सीखने का समय आया, तब तक ये मुझे पूरी याद हो चुकी थीं।

लिखना सीखने के बाद याद करने की शिक्षा शुरू हुई। याद करने के लिए बौद्ध सुत्त ही होते थे जिनका शाम को पाठ किया जाता था। मैं बहुत जल्द याद कर लेता था, इसलिए मुझे यह काम उबाऊ लगता था। लेकिन, इसके साथ ही मैं यह भी कहूँ, कि उतनी ही जल्दी मैं भूल भी जाता था।

दस बजे यह शिक्षा खत्म होती तो मुझे ज़रा आराम मिलता था। इसके बाद शासन के अधिकारियों की बैठक होती थी, जिसमें छोटा होते हुए भी मेरे लिए भाग लेना ज़रूरी था। आरम्भ से ही मुझे तिब्बत के आध्यात्मिक गुरु होने के साथ-साथ लौकिक विषयों का नेतृत्व करने के लिए भी तैयार किया जा रहा था। पोटाला में मेरे कमरे के बगल वाले कमरे में ही यह बैठक होती थी, और दूसरी और तौसरी मंज़िल में बने दफ्तरों से निकल-निकलकर अधिकारी इसमें शामिल होने आते थे। ये बैठकें बहुत औपचारिक होती थीं, इनमें हर अधिकारी को उसके उस दिन के काम के बारे में बताया जाता था—और मेरे साथ किए जाने वाली औपचारिकताओं का पूरी सावधानी से पालन किया जाता था। मेरा प्रतिहारी, डॉनयेर चेनमो मेरे कमरे में आकर मुझे बाकायदा सभागार तक ले जाता, जहाँ सबसे पहले रीजेन्ट और उनके बाद केशोग के चार अधिकारी वरिष्ठता क्रम के अनुसार, मेरा स्वागत करते थे।

इस बैठक के बाद मैं फिर अपने स्कूल में वापस आ जाता और कनिष्ठ अध्यापक को अपना सवेरे याद किया हुआ पाठ सही उच्चारण के साथ सुनाता। इसके बाद

वह मुझे अगले दिन याद किया जाने वाला पाठ पढ़कर बताता, साथ ही उसका अर्थ भी बताता जाता। यह कक्षा दोपहर तक चलती। अब एक घंटी बजती—जो हर घंटे बजती थी, सिर्फ एक दफ़ा को छोड़कर जब वह एक बजे के लिए एक ही जगह तेरह घंटियाँ बजा गया। इस समय शंखध्वनि भी की जाती, और बालक दलाई लामा के दिन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ होता : खेल।

इस मामले में मैं बहुत भाग्यवान था; मेरे पास बहुत से खिलौने थे। जब मैं बहुत छोटा था, भारत की सीमा से लगे द्रोको गाँव का एक अधिकारी मेरे लिए देश के बाहर से लाए खिलौने भेजता रहता था, और सेबों का मौसम होने पर सेबों से भरे डिब्बे भी भेजता था। इसी के साथ ल्हासा की यात्रा करने वाले विदेशी अफसर भी मेरे लिए तरह-तरह की भेंटें लाते थे। इनमें मेरा सबसे प्रिय मेकानों खिलौनों के सेट थे जो ल्हासा-स्थित ब्रिटिश ट्रेड मिशन के अध्यक्ष मेरे लिए हर साल लाते थे। ये खेल बहुत सरल से लेकर कठिन, कठिनतर और कठिनतम, बहुत से होते हैं और पन्द्रह साल का होने तक मेरे पास ये सारे सेट इकट्ठे हो गए थे।

मैं जब सात वर्ष का था, दो अमेरिकी अधिकारियों का एक मंडल ल्हासा आया। वे मेरे लिए राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के पत्र के साथ-साथ दो सुन्दर पक्षियों का एक जोड़ा और एक शानदार घड़ी लाए। ये चीज़ें मुझे बहुत पसन्द आईं। लेकिन, चीन से आने वाले अधिकारियों की भेंटें मुझे कभी अच्छी नहीं लगीं—छोटे से बच्चे के लिए सिल्क के थान भेजने की क्या तुक थी!

इसी तरह एक छुक-छुक करनेवाली रेलगाड़ी मुझे बहुत पसन्द थी। मेरे पास सीसे से बने सिपाहियों का एक सेट था, जिसे पिघलाकर, जब मैं बड़ा हुआ, मैंने भिक्षुओं का सेट तैयार कर लिया। लेकिन जब वे सिपाही थे, उनसे मैं लड़ाई के खेल खेला करता, और मैदान तैयार करने में घंटों बिता देता था। फिर जब लड़ाई शुरू होती, तब मिनटों में सब सिपाही गिरते-पड़ते खत्म हो जाते और बड़े परिश्रम से बनाई सैन्य-पंक्तियाँ बिखर जातीं। इसी तरह का एक खेल सांपा का आटा गूँधकर उसकी लोइयों से बनाए गए टैंक और हवाई जहाज़ों के मॉडलों की लड़ाइयाँ थीं।

इस काम के लिए मैं सबसे पहले अपने बड़ी उम्र के साथियों की एक प्रतियोगिता करता, कि कौन अच्छे मॉडल बना सकता है। इन सबको बराबर मात्रा में साँपा आटे की लोइयाँ देकर उनसे एक निश्चित समय में, जैसे आधे घंटे में मॉडल बनाने को कहा जाता, और फिर उनकी बनाई चीज़ों की मैं जाँच करता। मैं इस काम में काफ़ी निपुण था, इसलिए मेरे लिए यह सब बहुत आसान था। जो लोग अच्छे मॉडल न बना पाते, उन्हें मैं अलग कर देता था। फिर मैं विरोधियों को अपने मॉडल दुगनी बड़ी लोइयाँ देकर बेचता और इस तरह अपनी सेना को मज़बूत करने के साथ-साथ अदला-बदली का व्यापार करने का सन्तोष भी प्राप्त करता। इसके बाद हमारी सेनाएँ युद्ध करतीं। अब तक हर काम मेरी इच्छा के अनुसार होता, लेकिन जब मेरे हारने

की बारी आती थी। मेरे सेवक किसी भी दशा में पीछे हटने को तैयार नहीं होते थे। मैं दलाई लामा का अधिकार भी उनपर जमाना चाहता लेकिन सफल नहीं होता था। मैं बड़े ज़ोर-शोर से, कभी-कभी गुस्से में मुट्ठियाँ तान कर भी, युद्ध करता, और रोने भी लगता था।

खिलौनों के अलावा मुझे सैनिक ड्रिल भी बहुत प्रिय थी। यह मैंने अपने सफाई कर्मचारी नोरबू थोंडुप से सीखी थी, जो सेना में रह चुका था। बचपन में मेरे शरीर में इतनी शक्ति थी कि मैं हर मेहनत का काम करने को तैयार हो जाता था। मुझे कूदने का एक खेल, जिसमें तेज़ी से दौड़ते हुए आकर 45 डिग्री पर रखे एक बोर्ड के ऊपर से कूदना होता था—और जिसपर शासन ने रोक लगा दी थी—बहुत पसन्द था। इस आक्रामक प्रवृत्ति ने मुझे एक बार बड़ी कठिनाई में डाल दिया। मुझे एक बार पिछले दलाई लामा के सामान में हाथी दाँत के मूँठ से मढ़ी एक घुमाने वाली छड़ी मिली। यह मैंने ले ली और इसे घुमाने में मुझे मज़ा आने लगा। एक दिन जब मैं इसे अपने सिर के चारों ओर तेज़ी से घुमा रहा था, यह मेरे हाथ से छूटकर थोड़ी दूर पर खड़े लोबसांग सामतेन के मुँह पर जाकर लगी। और वह चीखकर ज़मीन पर जा गिरा। क्षण-भर के लिए मुझे लगा कि मैंने उसे मार डाला है। लेकिन ज़रा देर बाद वह उठकर खड़ा हो गया; उसकी आँखों से आँसू और दायीं कनपटी पर लगी गहरी चोट से खून की धार बह रही थी। यह घाव बाद में पक गया और ठीक होने में काफी समय लगा। और इसके बाद उसके माथे पर ज़िन्दगी-भर के लिए यह निशान बन गया।

एक बजे के तुरन्त बाद हल्का भोजन होता। पोटाला महल की स्थिति कुछ ऐसी थी कि जब मेरी सवेरे की पढ़ाई-लिखाई खत्म होती, उस समय मेरे कमरे में खुली धूप होती, लेकिन दो बजते ही यह उतरने लगती और अँधेरा छाने लगता। इससे मुझे नफ़रत थी : जैसे-जैसे कमरे में अँधेरा बढ़ता, मेरा दिल भी अँधेरे से भरने लगता। भोजन के तुरन्त बाद मेरी पढ़ाई फिर शुरू हो जाती। डेढ़ घंटे तक कनिष्ठ अध्यापक मुझे सामान्य ज्ञान की शिक्षा देते। वे हर विषय की शिक्षा देते लेकिन मुझे किसी भी विषय में रुचि नहीं होती थी। मैं अच्छा विद्यार्थी नहीं था।

बौद्ध धर्म-दर्शन में डॉक्टरेट प्राप्त करने के लिए सामान्य भिक्षुओं के लिए जो पाठ्यक्रम निर्धारित था, वही मुझे भी पढ़ाया जाता था। यह पाठ्यक्रम बहुत ही असन्तुलित था, और उस व्यक्ति के लिए तो, जिसे बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में देश का नेतृत्व करना था, यह एकदम अपूर्ण और कमज़ोर था। इसमें मुझे पाँच प्रमुख और पाँच ही सामान्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करना था, और पाँच प्रमुख विषय थे : तर्कशास्त्र, तिब्बती संस्कृति और कला, चिकित्सा शास्त्र, संस्कृत भाषा और बौद्ध

दर्शन। इनमें से अन्तिम ही सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे कठिन भी है और इसे पाँच विभागों में पढ़ाया जाता है : 'प्रज्ञा-पारमिता' अर्थात् पूर्ण ज्ञान, माध्यमिक अर्थात् मध्यम मार्ग का दर्शन, विनय अर्थात् भिक्षुओं के आचार-संबंधी नियम, अभिधर्म अर्थात् तत्त्ववाद, और प्रमाण अर्थात् तर्कशास्त्र तथा ज्ञानमीमांसा।

पाँच सामान्य विषय हैं : कविता, संगीत और नाटक; ज्योतिष; छंद, और वाक्य-रचना; तथा पर्याय। वास्तव में डॉक्टरेट बौद्ध धर्म-दर्शन, तर्कशास्त्र और द्वन्द्वात्मक पद्धति पर ही प्रदान की जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि मैंने सत्तर के दशक में संस्कृत व्याकरण सीखी, और चिकित्सा-शास्त्र जैसे कई विषय मैंने अनौपचारिक ढंग से ही पढ़े।

तिब्बती भिक्षु के शिक्षण का मुख्य विषय द्वन्द्वात्मक पद्धति अर्थात् वाद-विवाद की कला की शिक्षा ही होता है। दो व्यक्ति एक-दूसरे से प्रश्न पूछते हैं और साथ-साथ एक निश्चित भाव-भंगिमाएँ भी करते हैं। प्रश्न पूछते समय व्यक्ति अपना दाहिना हाथ सिर तक उठाकर आगे बढ़े हुए बाएँ हाथ पर मारता है और इसी के साथ बायाँ पैर ज़मीन पर पटकता है। फिर वह अपना दायाँ हाथ अपने सिर से उठाकर विरोधी के सिर तक ले जाता है। यह व्यक्ति चुप खड़े रहकर प्रश्न के उत्तर पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किए रहने के साथ-साथ विरोधी के छक्के छुड़ाने का प्रयत्न करता है, जो सारा समय उसके चारों ओर चक्कर लगा रहा होता है। इस संघर्ष में हाज़िरजवाबी बहुत महत्त्वपूर्ण होती है और प्रश्नकर्ता के तर्क को ही हथियार बनाकर उसे पराजित करने की कला, जिससे लोग हँसने भी लगें, का अभ्यास करना होता है। इस कारण अशिक्षित तिब्बती समाज में भी विवाद की यह कला बहुत लोकप्रिय है क्योंकि दर्शन के कठिन विचार न समझने पर ही इससे लोगों का मनोरंजन होता रहता है। प्राचीन काल में मठों में होने वाले इन वाद-विवादों को देखने के लिए गाँव-गाँव घूमने-फिरने वाले और बहुत-से नगरवासी दिन का कुछ समय इन्हें देखने में भी व्यतीत करते थे।

वाद-विवाद की इस विशिष्ट पद्धति में कुशलता प्राप्त करना भिक्षु का एक महत्त्वपूर्ण गुण माना जाता था, इसलिए दलाई लामा के रूप में मुझे न केवल बौद्ध दर्शन और तर्क शास्त्र में, बल्कि वाद-विवाद में भी कुशलता प्राप्त करना आवश्यक था। इसलिए मैंने दस वर्ष की उम्र से इन विषयों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन करना आरम्भ कर दिया और बारह वर्ष का होते ही मुझे द्वन्द्वात्मक पद्धति की शिक्षा देने के लिए दो सेनशाप नियुक्त कर दिए गए।

दोपहर बाद की कक्षा में एक घंटे के बाद मेरे अध्यापक घंटा भर उस दिन के विषय पर बहस करने की शिक्षा देते थे। फिर, चार बजे चाय आती थी। दुनिया में अंग्रेज़ों से कहीं ज़्यादा चाय तिब्बत के लोग पीते हैं। एक चीनी रिपोर्ट के अनुसार आक्रमण से पहले तिब्बत चीन से प्रतिवर्ष एक करोड़ टन चाय का आयात करता

था। लेकिन यह गणना सच नहीं हो सकती क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक तिब्बती को प्रतिवर्ष दो टन चाय पीनी ज़रूरी है। इस रिपोर्ट का उद्देश्य यह दिखाना हो सकता है कि आर्थिक दृष्टि से तिब्बत चीन पर कितना ज़्यादा निर्भर है, लेकिन इससे उनका चाय-प्रेम तो स्थापित होता ही है।

अब मैं यह कहूँ कि मुझे अपने देशवासियों का इतना चाय-प्रेम पसन्द नहीं है। तिब्बती समाज में चाय नमक डालकर पी जाती है और उसमें दूध के स्थान पर द्री मक्खन मिलाया जाता है। अगर इसे सही ढंग से बनाया जाए, तो यह बहुत स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक पेय बन जाती है, लेकिन यह मक्खन की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। पोटाला की भोजनशालाओं में रोज़ ताज़ा और गाढ़ा मक्खन पहुँचाया जाता था, और इस तरह बहुत बढ़िया चाय तैयार होती थी। वही चाय मुझे अच्छी लगती थी; अब जो चाय मैं पीता हूँ, वह अंग्रेज़ी ढंग की चाय है और सवेरे तथा शाम को पी जाती है। दोपहर के समय मैं सादा गर्म पानी पीता हूँ, यह आदत 1950 के बाद के वर्षों में, जब मैं चीन में रहा, मुझे पड़ गई—यह बात सुनने में अनोखी लग सकती है, लेकिन स्वास्थ्य की दृष्टि से यह बहुत अच्छी है। तिब्बती चिकित्सा-पद्धति में भी गर्म पानी को पहली औषधि बताया गया है।

चाय पीने के बाद, दोनों सेनशाप भिक्षु आते थे और मैं एक घंटे से कुछ ज़्यादा समय अमूर्त प्रश्नों को समझने में लगाता था, जैसे, मन का स्वरूप क्या है? इसके बाद साढ़े पाँच बजे के करीब शिक्षा का यह कार्यक्रम समाप्त होता। मैं समय तो सही-सही नहीं बता सकता, क्योंकि दुनिया के अन्य लोगों की तरह तिब्बत के लोग घड़ियों पर बहुत ज़्यादा निर्भर नहीं करते, और जब जैसी सुविधा हो, उसके अनुसार काम करते रहते हैं। जल्दबाज़ी उनके स्वभाव में नहीं है।

अध्यापक से छुट्टी पाते ही मैं, जब पोटाला में होता, अपना टेलिस्कोप लेकर छत पर पहुँच जाता। यहाँ से ल्हासा का बहुत ही भव्य दृश्य मेरे सामने दिखाई देता—समीप के चाकपोरी मेडिकल स्कूल से नगर के उस भाग तक जो जोखांग मन्दिर के इर्द-गिर्द बसा था। लेकिन मेरी रुचि विशेष रूप से शोल नामक ग्राम में थी जो लाल पहाड़ी की तलहटी में काफी दूर स्थित था। यहाँ राज्य की जेल थी और इसी समय क़ैदियों को बाहर निकलकर अहाते में घूमने-फिरने की छूट मिलती थी। मैं उन्हें अपना मित्र मानता था और उनकी गतिविधियों को देखता रहता था। उन्हें भी यह बात पता थी, और जब कभी मुझ पर उनकी नज़र पड़ती, वे एकदम ज़मीन पर लेट जाते और मुझे प्रणाम करते। मैं उन सबको पहचानने लगा था और जब किसी की रिहाई होती या कोई नया क़ैदी आता, तो मुझे एकदम पता चल जाता। अहाते में जलावन और चारे के जो गट्ठर रखे होते, उन्हें भी मैं गिन लेता।

इस जाँच-पड़ताल के बाद भी मेरे पास खेलने का समय होता और इस वक्त मैं चित्र बनाता। सात बजे मेरा शाम का भोजन आता। इसमें अक्सर चाय होती,

रसेदार सब्ज़ी जिसमें कभी-कभी माँस भी होता, दही या शो और तरह-तरह की डबल रोटी, जिसे माँ हर हफ़्ते मेरे लिए ताज़ी बनाकर भेजती थी। इनमें भी मुझे आमदो में बनने वाली डबलरोटी सबसे ज़्यादा पसन्द थी—जो ऊपर से कड़क और भीतर से एकदम मुलायम होती है।

कई दफ़ा मैं अपने एकाध सेवक के साथ यह भोजन करता। वे सबके सब खूब खाते थे। उनके कटोरे काफ़ी बड़े होते थे, जिसमें एक पूरी केतली चाय समा जाती थी। कई दफ़ा नामग्याल मठ से आए भिक्षु भी भोजन में मेरा साथ देते। फिर भी, ज़्यादातर मेरे तीनों भिक्षु सेवक भोजन में मेरे साथी होते, और कभी कर्मचारियों का प्रमुख चिक्याब केनपो भी शामिल हो जाता। लेकिन इस प्रमुख की अनुपस्थिति में तीनों भिक्षु बहुत शोर-शराबे के साथ खाते-पीते और बहुत मज़ा आता। मुझे सर्दियों की वे शामें विशेष रूप से याद हैं जब हम झिलमिलाती मक्खन के दीयों की रोशनी में गर्मागर्म सूप पीते होते और बाहर बर्फ से लदी हवाओं की शूँ-शूँ सुनाई देती रहती।

भोजन के बाद मैं सात सीढ़ियाँ उतरकर सामने के आँगन में जाता और घूमते हुए धर्मसूत्रों का सस्वर पाठ करता। लेकिन जब मैं छोटा था, मैं इस पर ध्यान नहीं दे पाता था, और इसके बदले या तो खुद कोई कहानी सोचना शुरू कर देता, या यह सोचता कि आज सोने से पहले मुझे कौन-सी कहानी सुनाई जाएगी। ये कहानियाँ ज़्यादातर भूत-प्रेतों से जुड़ी होतीं और नौ बजे के लगभग काफ़ी डरा हुआ दलाई लामा कीड़े-मकोड़ों से भरे अपने अँधेरे कमरे में घुस जाता! एक बहुत डरावनी कहानी दैत्याकार उल्लुओं की थी जो अँधेरा होने के बाद छोटे बच्चों को उठा ले जाते थे। यह कहानी जोखांग मन्दिर के एक प्राचीन भित्ति-चित्र पर आधारित थी। इसके प्रभाव से मैं रात होते ही कमरे में पहुँच जाता था।

पोटाला और नोरबुलिंग्का दोनों ही स्थानों पर मेरी दिनचर्या यही थी। इसमें तभी कुछ अन्तर आता जब कोई बड़ा त्यौहार होता या मैं कहीं विश्राम करने जाता। बाहर जाने पर मेरे साथ एक या दोनों अध्यापक होते या नामग्याल मठ के कुछ बड़े लामा होते। सामान्यतः प्रतिवर्ष एक यात्रा होती, विशेषकर सर्दियों के दिनों में, और हम तीन हफ्ते बाहर रहते थे। इन दिनों एकाध साधारण क्लास ही होती और बाहर जाकर खेलने की बिल्कुल अनुमति नहीं थी। मेरा अधिकांश समय भिक्षुओं के मार्गदर्शन में प्रार्थना और ध्यान करने में ही व्यतीत होता। जब मैं छोटा था, तब मुझे ये काम पसन्द नहीं आते थे। तब मैं अपना समय कमरे की पहली या दूसरी खिड़की से बाहर देखने में ही बिताता था। उत्तर दिशा की खिड़की से सेरा मठ दिखाई देता था, जिसके पीछे पहाड़ खड़े थे। दक्षिण दिशा की खिड़की विशाल सभागार में खुलती थी, जहाँ रोज़ शासन के अधिकारियों की बैठक होती थी।

इस बड़े हॉल की दीवारों पर सिल्क के प्राचीन थांका चित्र टँगे थे जिनमें तिब्बत के विख्यात धर्म नेता मिलारेपा की जीवनी अंकित थी। मैं बड़े आश्चर्य से इन्हें देखता रहता अब इनकी क्या स्थिति है, मुझे नहीं पता।

इन दिनों मेरी शामें और भी बुरी होती थीं क्योंकि इस समय मेरी उम्र के बच्चे अपनी गायें हाँककर पोटाला महल के तले स्थित शोल गाँव की तरफ ले जा रहे होते। मुझे याद है, मैं उतरती रोशनी में अपनी प्रार्थनाएँ गुनगुनाते हुए चरागाहों से लौटते इन लड़कों के गीत चुपचाप बैठा सुनता रहता। कई दफा मैं सोचता कि काश! मैं इनकी जगह होता और ये मेरी जगह होते। लेकिन समय बीतने के साथ मुझे इन यात्राओं का महत्त्व ज्ञात होने लगा और आज मैं सोचता हूँ कि काश ये यात्राएँ और लम्बी होतीं।

मैं पढ़ने-लिखने में अच्छा था, इसलिए अध्यापकों के साथ मेरी खूब बनती थी। कुछ समय बाद जब मुझे तिब्बत के 'महान विद्वानों' के साथ रखा गया, तब मुझे यह जानकर सन्तोष हुआ कि मेरा मस्तिष्क काफी तेज़ है। लेकिन परेशानी से बचने के लिए मैं मेहनत भी कम नहीं करता था। फिर भी, एक समय ऐसा आया जब मेरे अध्यापक मेरी प्रगति से सन्तुष्ट नहीं लगे। इसलिए केनराप तेनज़िन ने एक नकली परीक्षा की योजना बनाई जिसमें मुझे अपने प्रिय सफ़ाई कर्मी नोरबू थोंडुप के साथ प्रतियोगिता करनी थी। मुझे बताए बिना केनराप तेनज़िन ने उसे इस तरह तैयार किया कि मैं प्रतियोगिता में हार गया। इससे मुझे बड़ी चोट पहुँची, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि मेरी पराजय सार्वजनिक थी।

यह तरकीब बहुत कारगर साबित हुई और मैं गुस्से के मारे कड़ी मेहनत करने में जुट गया। लेकिन कुछ समय बाद मेरा उत्साह ठंडा पड़ गया और मैं पुरानी आदतों पर उतर आया। इसके बाद जब मैं पूरी तरह युवा हुआ, तभी मुझे अपनी शिक्षा का महत्त्व समझ में आया और मैं अध्ययन में गहरी रुचि लेने लगा। आज मुझे अपने उन दिनों के आलस्य पर पछतावा होता है और मैं हर रोज़ कम-से-कम चार घंटे अध्ययन में व्यतीत करता हूँ। अब मैं सोचता हूँ कि उस समय मेरे लिए एक कमी यह थी कि मेरा कोई प्रतियोगी नहीं था। मैं अपने स्कूल में अकेला था, इसलिए किसी से अपनी तुलना नहीं कर सकता था।

जब मैं नौ वर्ष का हुआ, मुझे अपने पूर्ववर्तियों के सामान में दो पुराने हाथ से चलाने वाले फिल्म प्रोजेक्टर और उनके साथ कुछ फिल्म की रीलें मिलीं। लेकिन वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो इन्हें चलाना जानता हो। अन्त में, एक बूढ़ा चीनी भिक्षु, जिसे सन् 1908 में उसके माता-पिता ने उसके बचपन में ही तेरहवें दलाई लामा को, जब वे चीन यात्रा पर गए थे, भेंट कर दिया था, और जो इस समय स्थायी रूप से नोरबुलिंग्का में ही रहता था, मिला, जो अच्छा तकनीशियन भी था। वह बड़ा धार्मिक और निष्ठावान व्यक्ति था, हालाँकि कई चीनियों की तरह उसका दिमाग़ भी बहुत गरम था।

इनमें से एक रील सम्राट जार्ज पंचम के राज्यारोहण की फिल्म थी, जो मुझे बहुत प्रभावशाली लगी, क्योंकि इसमें दुनिया के अनेक देशों के सैनिकों की क़तारों पर कतारें एक-दूसरे के पीछे मार्च कर रही थीं। एक रील में ट्रिक फोटोग्राफ़ी के ज़रिए नर्तकियाँ अंडों से निकलती दिखाई गई थीं। लेकिन सबसे ज़्यादा रोचक मुझे एक और फ़िल्म लगी जिसमें खदानों से सोने की खुदाई दिखाई गई थी। इससे मुझे पता चला कि खदानों में खुदाई का काम कितना खतरनाक है और इनमें काम करनेवाले मज़दूरों को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसके बाद जब कभी मुझे मज़दूरों के शोषण के बारे में कुछ पता चलता था—जो बाद के वर्षों में अक्सर ही होता था—तब मुझे हमेशा इस फिल्म की याद आ जाती थी।

लेकिन दुर्भाग्य की बात यह हुई कि यद्यपि चीनी भिक्षु मेरा अच्छा मित्र बन गया, उसकी बहुत शीघ्र मृत्यु हो गई। परन्तु मैंने खुद अपने हाथ से मशीनें चलाना सीख लिया और इसके साथ मुझे बिजली और डायनेमो के कार्य का काफ़ी ज्ञान हो गया। यह ज्ञान मेरे तब बहुत काम आया जब ब्रिटेन के शाही परिवार ने मुझे भेंट स्वरूप एक आधुनिक प्रोजेक्टर तथा उसका जेनेरेटर दोनों प्रदान किए। ब्रिटिश ट्रेड मिशन ने ये मुझे भिजवाए और इनकी कार्यविधि समझाने के लिए असिस्टेंट ट्रेड कमिश्नर राल्फ फॉक्स खुद आए।

अपनी ऊँचाई के कारण तिब्बत दुनिया के बहुत से रोगों से मुक्त है। लेकिन एक रोग यहाँ हमेशा बना रहता था : चेचक। जब मैं दस साल का हुआ तब एक नया, कुछ मोटा सा, डॉक्टर मेरे पास भेजा गया, जिसने आयातित दवाओं का उपयोग करके मुझे चेचक के टीके लगाए। इन टीकों से मुझे बेहद दर्द हुआ, करीब दो हफ्ते तक मुझे बुखार चढ़ा रहा, और ठीक होने के बाद मेरी बाँह पर चार काफी बड़े निशान हमेशा के लिए छोड़ गए। मुझे याद है, मैं 'मोटे डॉक्टर' की बहुत दिनों तक शिकायत करता रहा।

उस समय मेरा जो व्यक्तिगत डॉक्टर था, उसे हम 'डॉक्टर लेनिन' नाम से पुकारते थे, क्योंकि उसकी दाढ़ी बकरेनुमा छोटी सी और तिरछी कटी थी। शरीर इसका छोटा था, भूख में ज़बरदस्त और हँसी-मज़ाक में बहुत तेज़! कहानियाँ भी बहुत अच्छी सुनाता था, इसलिए मुझे बहुत प्रिय था। इन दोनों डॉक्टरों की शिक्षा तिब्बती चिकित्सा-पद्धति से हुई थी, जिसके बारे में मैं अगले किसी अध्याय में बताऊँगा।

इसी समय दूसरा विश्वयुद्ध, जो पिछले पाँच वर्षों से चल रहा था, समाप्त हो गया। इसके बारे में मुझे कुछ भी पता नहीं था, सिर्फ इतना कि युद्ध खत्म होने के बाद मेरी सरकार ने बहुत-सी भेंटों के साथ एक प्रतिनिधिमंडल बधाई का सन्देश

लेकर ब्रिटिश सरकार से मिलने भारत भेजा। वायसराय लार्ड वैवेल प्रतिनिधिमंडल से मिले। इसके अगले वर्ष दूसरा प्रतिनिधिमंडल एशियाई सम्बन्ध सम्मेलन में तिब्बत का प्रतिनिधित्व करने फिर भारत गया।

इसके तुरन्त बाद, सन् 1947 के वसन्त में, एक ऐसी दुखदायी घटना घटी जिससे ज्ञात हुआ कि ऊँचे पदों पर बैठे लोगों के स्वार्थपूर्ण कार्य समूचे देश के भाग्य को कितना ज़्यादा प्रभावित कर सकते हैं।

एक दिन जब मैं एक बहस सुन रहा था, मुझे गोलियाँ चलने की आवाज़ें सुनाई दीं। ये आवाज़ें उत्तर दिशा में सेरा मठ की तरफ से आईं। मैं एकदम बाहर दौड़ा और सोचने लगा कि टेलिस्कोप से क्या करके दिखा सकता हूँ। लेकिन इसी के साथ यह सोचकर मुझे परेशानी भी हुई कि गोली चलने से लोगों की मौत हो जाती है। पता चला कि छह साल पहले जो रेटिंग रिन्पोचे रीजेन्ट का पद छोड़कर राजनीति से संन्यास ले चुके थे, वे अब अपना पद वापस लेने के लिए खड़े हो गए हैं। इसमें कुछ लामा और कुछ सरकारी अफ़सर उनके सहायक थे और उन्होंने ताथाग रिन्पोचे के विरुद्ध षड्यन्त्र संगठित किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि रेटिंग रिन्पोचे गिरफ्तार कर लिए गए और उनके बहुत से साथियों को जान से हाथ धोने पड़े।

अन्त में रेटिंग रिन्पोचे पोटाला लाए गए, तब उन्होंने प्रार्थना की कि उन्हें मुझसे मिलने का अवसर दिया जाए। दुर्भाग्यवश, इसे मेरी ओर से अस्वीकार कर दिया गया, और कुछ समय बाद कारागार में ही उनकी मृत्यु हो गई। नाबालिग होने के कारण उस समय मैं किसी कानूनी कार्यवाही में भाग नहीं ले सकता था, लेकिन अब उस घटना पर विचार करते हुए मैं यह सोचता हूँ कि क्या मैं कुछ अच्छा नहीं कर सकता था। यदि मैं किसी तरह दखल दे पाता तो यह सम्भव था कि तिब्बत के सबसे पुराने और सबसे खूबसूरत मठों में एक रेटिंग मठ नष्ट होने से बचाया जा सकता था। कुल मिलाकर देखें तो यह पूरी घटना एकदम मूर्खतापूर्ण थी। अपनी गलतियों के बावजूद रेटिंग रिन्पोचे के लिए मेरे मन में विशेष व्यक्तिगत आदर था, वे मेरे पहले शिक्षक और गुरु थे। उनकी मृत्यु के बाद उनका नाम मेरे सम्पूर्ण नाम से निकाल दिया गया—हालाँकि कई वर्ष बाद दिव्य वक्ता के निर्देशानुसार मैंने ये नाम फिर से अपने नाम में सम्मिलित कर लिए।

इन घटनाओं के कुछ समय बाद मैं ताथाग रिन्पोचे के साथ द्रेपंग और सेरा मठों की यात्रा पर गया—ये ल्हासा से पाँच मील पश्चिम और साढ़े तीन मील उत्तर में स्थित हैं। उस समय द्रेपंग संसार का सबसे बड़ा मठ था, यहाँ सात हज़ार लामा निवास करते थे। सेरा मठ भी बहुत छोटा नहीं था, इसमें पाँच हज़ार लामा थे। मेरी यह यात्रा द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति के ज्ञानी के रूप में मेरा प्रथम सार्वजनिक प्रदर्शन था, और इसमें मुझे द्रेपंग की तीन और सेरा की दो शालाओं में वहाँ के प्रमुख भिक्षुओं

के साथ विवाद करना था। पिछले दिनों हुई घटनाओं के कारण सुरक्षा के विशेष प्रबन्ध किए गए थे, इसलिए मुझे कुछ बेचैनी हो रही थी। इसी के साथ, ज़िन्दगी में पहली दफ़ा यहाँ के दिग्गज विद्वानों के सामने खड़े होकर बहस करने में मुझे घबराहट भी हो रही थी। लेकिन, दोनों मठ किसी-न-किसी तरह मेरे लिए परिचित ही थे और मैं महसूस करता था कि पिछले जन्मों में मेरा इनसे सम्बन्ध रहा था। दोनों मठों में सैकड़ों भिक्षुओं की उपस्थिति में हुए कार्यक्रम, मेरी घबराहट के बावजूद; काफ़ी अच्छी तरह सम्पन्न हुए।

लगभग इसी समय ताथाग रिन्पोचे ने मुझे पंचम दलाई लामा की विशेष शिक्षा प्रदान की, जो हर दलाई लामा के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। महान पंचम को—उन्हें तिब्बत में इसी नाम से जाना जाता है—यह शिक्षा एक स्वप्न में प्राप्त हुई थी। इसके बाद कई सप्ताह तक मुझे अनेक विशेष अनुभव होते रहे, और मुझे बहुत से विशेष स्वप्न भी दिखाई दिए, जिनका महत्त्व मुझे उस समय नहीं, बाद में ज्ञात हुआ।

पोटाला महल में रहने का एक लाभ यह था कि इसमें अनगिनत सामान से भरे कमरे थे। मुझ जैसे छोटे बच्चे के लिए सोने-चाँदी या बहुमूल्य धार्मिक कलाकृतियों से भरे कमरों की अपेक्षा, अथवा मेरे प्रत्येक पूर्ववर्ती की निचले कक्षों में सुरक्षित रत्नजड़ित समाधियों की सामग्री की अपेक्षा, ये कहीं अधिक आकर्षक थे। इनमें रखे अस्त्र-शस्त्र, प्राचीन तलवारें, बन्दूकें और ज़िरह-बख्तर मुझे बहुत प्रिय थे। और इनमें सबसे अधिक मेरे एकदम पूर्ववर्ती दलाई लामा के कमरों में बंद उनकी एक-से-एक अद्‌भुत वस्तुएँ—जिनमें मुझे लक्ष्यवेध तथा गोलियों सहित एक हवाई रायफ़ल, टेलिस्कोप—जिसका मैं पहले ही ज़िक्र कर चुका हूँ—और प्रथम विश्वयुद्ध से सम्बन्धित अंग्रेज़ी की अनेक सचित्र पुस्तकें प्राप्त हईं। ये सब वस्तुएँ मुझे चकित कर देतीं और इनके ही आधार पर मैं जहाज़ों, टैंकों और दूसरी युद्ध सामग्री के मॉडल तैयार करवाता। बाद में इन किताबों के कुछ अंश मैंने तिब्बती भाषा में अनुवाद भी कराए।

इसमें मुझे दो जोड़े यूरोप के जूते भी प्राप्त हुए। हालाँकि मेरे पैर बहुत छोटे थे, मैंने इन्हें पहनने के लिए निकाल लिया और इनमें आगे—पीछे कपड़ा वगैरह भरकर इस्तेमाल के लिए तैयार कर लिया। इनकी स्टील से मढ़ी एड़ियों से चलने पर जो खट-खट की आवाज़ होती, वह मुझे बहुत अच्छी लगती थी।

बचपन में मुझे चीज़ों को अलग-अलग करके उन्हें फिर से एकसाथ मिलाना और जोड़ना भी बहुत पसन्द था। मैं इसमें काफी कुशल भी हो गया। हालाँकि, शुरू में हमेशा मैं सफल नहीं भी होता था। अपने पूर्ववर्ती के सामान में मुझे एक पुराना संगीत का यन्त्र भी प्राप्त हुआ जो उन्हें रूस के ज़ार ने, जिनसे उनकी मित्रता थी,

भेंट में दिया था। यह काम नहीं करता था, इसलिए मैंने इसे ठीक करने का निश्चय किया। इसका मुख्य स्प्रिंग, जो काफ़ी बड़ा था, ज़्यादा कस गया था और जाम हो गया था। जब मैंने अपना पेंचकस इसमें डालकर घुमाया-फिराया, तो यह एकदम खुल गया और ज़बरदस्त तेज़ी से उल्टा घूमने लगा, जिससे इसके गाना बजाने वाले धातु के छोटे-बड़े टुकड़े टूट-टूट कर चारों तरफ़ छिटकने लगे। साथ ही संगीत की भयंकर ध्वनियाँ भी निकलने लगीं। अब मैं जब कभी इस घटना के बारे में सोचता हूँ तो इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि मेरी एक आँख फूटने से बच गई। जब मैं यह कारगुज़ारी कर रहा था। तब मेरा मुँह यन्त्र के एकदम ऊपर ही था। अगर यह दुर्घटना हो जाती तो बाद के दिनों में लोग मुझे मोशे दायान ही समझ लेते।*

मैं तेरहवें दलाई लामा थुप्तेन ग्यात्सो का बहुत कृतज्ञ था, जो मेरे लिए इतनी सारी अद्‌भुत वस्तुएँ छोड़ गए थे। पोटाला के बहुत से सफ़ाई कर्मचारियों ने उनके समय में वहाँ काम किया था और वे मुझे उनके जीवन की बातें बताया करते थे। इनसे मेरी यह धारणा पुष्ट हुई कि वे न केवल बड़े सफल धर्मगुरु थे, बल्कि लौकिक विषयों में भी बहुत दूरदर्शी और कुशल थे। मुझे यह भी पता चला कि विदेशी हमलावरों के कारण उन्हें दो बार देश छोड़ना पड़ा था—पहली बार अंग्रेज़ों के कारण जिन्होंने सन् 1903 में कर्नल यंग हस्बेंड के नेतृत्व में आक्रमण किया था और दूसरी बार सन् 1910 में मंचुओं के हमले के कारण। पहली बार तो अंग्रेज़ खुद ही वापस लौट गए थे, लेकिन दूसरी बार सन् 1911-12 की सर्दियों में मंचुओं को ज़बरदस्ती बाहर निकाला गया था।

मेरे पूर्ववर्ती को आधुनिक तकनीकी में बहुत रुचि थी। उन्होंने तिब्बत के लिए जो वस्तुएँ बाहर से मँगाई उनमें बिजली बनाने का यन्त्र और सिक्के ढालने तथा कागज़ के नोट छापने की मशीनें और तीन मोटरगाड़ियाँ भी थीं। ये सब वस्तुएँ तिब्बत के लिए बिलकुल नई थीं और लोग इन्हें देखकर चकित रह गए थे। उस समय देश में पहिये की कोई गाड़ी नहीं थी। घोड़ागाड़ियाँ तक प्रचलित नहीं हुई थीं। लोग इनसे परिचित तो थे लेकिन प्रदेश की भूमि ही कुछ ऐसी थी जिसमें लद्दू जानवरों के अलावा आवागमन का और कोई साधन हो ही नहीं सकता था।

थुप्तेन ग्यात्सो अन्य मामलों में भी बड़े दूरदर्शी थे। दूसरी बार निर्वासन से वापस आने के बाद उन्होंने तिब्बती युवकों को शिक्षा के लिए ब्रिटेन भेजा। यह प्रयोग सफल हुआ, लड़कों ने बहुत कुछ सीखा। शाही परिवार ने भी उनका स्वागत किया, लेकिन यह प्रयोग आगे नहीं बढ़ाया गया। यदि जैसा वे चाहते थे, युवकों को शिक्षा के लिए विदेशों में भेजने का यह कार्यक्रम जारी रखा जाता, तो, मुझे विश्वास है कि आज तिब्बत की स्थिति बिलकुल भिन्न होती। इसी तरह तेरहवें दलाई

* मोशे दायान इज़रायल के प्रसिद्ध सेनापति थे जिनकी एक आँख फूटी थी और उसपर पट्टी बँधी रहती थी।

लामा का सेना में सुधार भी, जिसे वे देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक मानते थे, बहुत सफल रहा, परन्तु उनके देहान्त के बाद वह जारी नहीं रखा गया।

उनकी एक योजना यह थी कि ल्हासा की सरकार को खाम प्रदेश में मज़बूत किया जाए। वे यह समझ गए थे कि ल्हासा से खाम की दूरी बहुत ज़्यादा होने के कारण केन्द्र सरकार से उसकी उपेक्षा होती रहती है। इसलिए वे चाहते थे कि वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों के बेटे ल्हासा में रखकर शिक्षित किए जाएँ और फिर उन्हीं को शासकीय अधिकार देकर वहाँ वापस भेज दिया जाए। वे वहाँ से सैनिक भर्ती भी करना चाहते थे। लेकिन शायद आलस्य के कारण कोई भी योजना आरम्भ नहीं की जा सकी।

तेरहवें दलाई लामा की राजनीतिक समझ भी बहुत तेज़ थी। अपने अन्तिम लिखित दस्तावेज़ में उन्होंने चेतावनी दी थी कि यदि देश में मौलिक परिवर्तन नहीं किए गए तो...

"...हो सकता है कि तिब्बत के धर्म तथा शासन दोनों में बाहर और भीतर दोनों ओर से आक्रमण होने लगें। यदि हम अपने देश की रक्षा नहीं करेंगे तो होगा यह कि दलाई और पंचेन लामा, पिता और पुत्र दोनों ही और उनके साथ धर्म के अन्य सब नेता एकसाथ नष्ट हो जाएँ और उनके नाम भी बाकी न रहें। मठ और उनमें रहने वाले भिक्षु सभी नष्ट हो सकते हैं। कानून का शासन कमज़ोर हो जाएगा। सरकारी अफसरों की ज़मीनें और सम्पत्तियाँ छीन ली जाएँगीं। वे या तो अपने शत्रुओं की सेवा करने को विवश होंगे या भिखारी की तरह घूमते फिरेंगे। सब लोगों को ज़बरदस्त कष्ट और डर का सामना करना पड़ेगा, दिन और रात दोनों कष्ट में गुज़रेंगे।"

इस लेख में जिस पंचेन लामा का उल्लेख किया गया है, तिब्बती बौद्ध धर्म में वे दलाई लामा के बाद दूसरे स्थान पर माने जाते हैं। परम्परा के अनुसार तिब्बत के दूसरे सबसे बड़े शहर शिगात्से का ताशिलहुनपो मठ उनका स्थान है।

तेरहवें दलाई लामा का व्यक्तित्व बहुत सरल था। उन्होंने बहुत से पुराने रीति-रिवाजों को खत्म कर दिया था। उदाहरण के लिए, दलाई लामा जब भी अपने कक्ष से बाहर निकलते, जो भी सेवक उनके सबसे नज़दीक होता, उसे एकदम वहाँ से निकलना होता था। उनका कहना था कि इससे लोगों को अकारण परेशानी होती है और वे सामने आने से कतराने लगते हैं। इसलिए उन्होंने इस प्रथा को बंद कर दिया।

बचपन में मैंने उनके बारे में ऐसी अनेक कहानियाँ सुनीं जिनसे पता चलता है कि वे कितने ज़मीन से जुड़े व्यक्ति थे। इनमें से एक मुझे एक बहुत बूढ़े व्यक्ति ने सुनाई थी, जिसका बेटा नामग्याल मठ में भिक्षु था, और यह उस समय की कहानी थी जब नोरबुलिंग्का में एक नई इमारत का निर्माण हो रहा था। जैसी प्रथा थी,

जनता के बहुत से लोग इसकी नींव में अपना पत्थर डालकर इसमें योगदान करने और अपना आदर व्यक्त करने आते थे। एक दिन काफी दूर से एक व्यक्ति—जो कहानी सुनाने वाले का पिता था—वहाँ अपना पत्थर डालने आया। उसके साथ एक बहुत चंचल खच्चर था, जो, जैसे ही इस व्यक्ति ने पत्थर डालने को अपना हाथ आगे बढ़ाया, रस्सी छुड़ाकर भाग निकला। सामने से कोई आदमी चला आ रहा था। खच्चर वाले ने उससे चिल्लाकर कहा कि इसे पकड़ो, और उसने खच्चर के पीछे दौड़कर उसे पकड़ लिया, फिर मालिक के हवाले कर दिया। यह आदमी बड़ा खुश हुआ लेकिन सिर उठाकर देखा तो चकित रह गया : यह राहगीर खुद दलाई लामा थे।

तेरहवें दलाई लामा सख्त भी बहुत माने जाते थे। उन्होंने पोटाला और नोरबुलिंग्का दोनों जगह तम्बाकू पीने पर रोक लगा दी। एक दफ़ा जब वह बाहर घूम रहे थे, एक जगह पहुँचे जहाँ कुछ पत्थर कूटने वाले काम कर रहे थे। उन्होंने दलाई लामा को नहीं देखा और आपस में बातें करते रहे। उनमें से एक तम्बाकू पर लगे प्रतिबन्ध को गलत कह रहा था, कि थके होने पर यह आदमी को बड़ा आराम पहुँचाती है और भूख रोकने में भी मदद करती है। यह कहकर उसने तम्बाकू निकालकर मुँह में रखी और चबाने लगा। दलाई लामा यह सुनकर चुपचाप वापस मुड़ गये और उनसे कुछ नहीं कहा।

लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि वे हमेशा इतनी दया दिखाते थे। यदि मुझे उनके विरुद्ध कुछ कहना हो तो मैं उन्हें ज़रा ज़्यादा ही कठोर कहूँगा। अपने उच्च अधिकारियों के प्रति उनका व्यवहार बहुत सख्त था और बड़ी मामूली ग़लती के लिए भी उनके साथ वे बड़ी सख्ती से पेश आते थे। उनकी उदारता साधारण व्यक्तियों तक ही सीमित थी।

आध्यात्मिक क्षेत्र में थुप्तेन ग्यात्सो का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने तिब्बत के मठों में, जिनकी संख्या छह हज़ार थी, विद्वत्ता का स्तर ऊँचा करने के लिए बहुत काम किया। इसके लिए वे योग्य भिक्षुओं को, अल्पायु और वरिष्ठता में कम होने पर भी, आगे बढ़ाते थे। इसके अलावा वे स्वयं हज़ारों नवभिक्षुओं को दीक्षा देते थे। सन् 1970 के दशक तक वरिष्ठ भिक्षुओं में से अधिकांश उन्हीं के द्वारा दीक्षित व्यक्ति थे।

बीस साल का होने के कुछ वर्ष बाद तक, जब मैंने यहाँ स्थायी रूप से रहना आरम्भ किया, मैं प्रतिवर्ष वसन्त के आरम्भ में नोरबुलिंग्का जाता था, और छह महीने बाद सर्दियाँ शुरू होते ही पोटाला वापस लौट आता था। जिस दिन मैं पोटाला का अपना अँधेरे और उदासी से भरा कमरा छोड़ता, वह मेरे लिए वर्ष का सबसे प्रसन्न दिन होता था। इसकी शुरुआत एक अनुष्ठान से होती जो दो घंटे तक चलता रहता

था—लेकिन जो मुझे अनन्त काल की तरह लगता था। इसके बाद एक बड़ा जुलूस निकलता—जो मुझे बहुत अच्छा नहीं लगता था। इसके बजाय मैं तो पैदल गाँव-देहात का मज़ा लेते हुए जाना पसन्द करता और धरती में उग रहे नए अंकुरों की खुशबू सूँघता वहाँ पहुँच जाना चाहता।

नोरबुलिंग्का में अद्‌भुत वस्तुओं की भरमार थी। यह चारों ओर ऊँची दीवार से घिरा एक खूबसूरत पार्क था। इसके भीतर बहुत-सी इमारतें थीं जिनमें वहाँ के कर्मचारी रहते थे। भीतर एक और दीवार थी, जिसे पीली दीवार कहते थे, और जिसके भीतर दलाई लामा, उसके सभी सेवक और अन्य व्यक्ति तथा कुछ विशिष्ट भिक्षुओं के अलावा कोई और प्रवेश नहीं कर सकता था। इसमें एक ओर कई इमारतें थीं और दलाई लामा का अपना निवास भी था जिसके इर्द-गिर्द एक सुन्दर बगीचा था।

पार्क में फूल-पत्तियों की शोभा निहारता और पशु-पक्षियों को देखता मैं घंटों बिता देता था। यहाँ अनेक विशेष प्रकार के पशु रखे गए थे, जैसे पालतू कस्तूरी मृगों का एक झुंड, लगभग छह डॉर्ख़्ई पशु, विशालकाय तिब्बती मैस्टिफ़ कुत्ते जो पार्क की रक्षा करते थे, कुमबुम से भेजा गया एक छोटा पेकिनीज़ सुन्दर-सा कुत्ता, कई पहाड़ी बकरे, एक बंदर, मंगोलिया से लाए गए कई ऊँट, दो तेंदुए, और एक बूढ़ा उदास सा चीता—ये सब माँदों में रहते थे—कई तोते, आधा दर्जन मोर, कई सारस, सुनहरी बत्तखों का एक जोड़ा और तीस के लगभग बेहद दुखी कनाडियन बत्तखें जिनके पंख इसलिए काट दिए गए थे कि वे उड़ न सकें—इनको देखकर मैं उदास हो जाता था।

एक तोता मेरे वेशभूषा अधिकारी केनराप तेनज़िन का मित्र बन गया था। वह इसे गिरियाँ खिलाता था। जब तोता उसके हाथ से गिरी चुगता होता, तो वह उसे दूसरे हाथ से सहलाता जाता था और तोता बहुत सुखी लगने लगता था। मैंने भी उसके साथ ऐसा ही रिश्ता कायम करने की कोशिश की लेकिन सफलता नहीं मिली। इससे दुखी होकर मैंने उसे मारने के लिए छड़ी उठाई। इसके बाद वह मुझे देखते ही उड़ जाता। इससे मुझे एक सबक मिला : कि दोस्त कैसे बनाए जा सकते हैं—ताकत से नहीं, करुणा से।

इसी तरह लिंग रिन्पोचे की दोस्ती बन्दर से थी। लेकिन बन्दर और किसी का दोस्त नहीं था। वह अपनी जेब से चीज़ें निकालकर बंदर को खिलाता था, इसलिए बंदर उसे आता देखकर उसके कपड़ों में घुसने की कोशिश करने लगता था।

मैं पार्क की बहुत बड़ी झील में रहने वाली मछलियों से दोस्ती करने में कुछ हद तक सफल हुआ। मैं उसके किनारे पर खड़ा होकर मछलियों को बुलाता। वे आ जातीं तो मैं उन्हें रोटी के टुकड़े वगैरह खिलाता। लेकिन अक्सर वे मेरी अवज्ञा भी कर देतीं और मेरी आवाज़ पर मेरे पास नहीं आतीं। तब मैं गुस्सा हो जाता और खाने की चीज़ें फेंकने के स्थान पर कंकड़-पत्थर उन पर बरसाने लगता। लेकिन

जब भी वे मेरे पास आतीं तो मैं इस बात का बहुत ध्यान रखता कि छोटी मछलियों को उनका हिस्सा ज़रूर मिले। ज़रूरत पड़ती तो मैं एक छड़ी लेकर बड़ी मछलियों को उनसे दूर भगाकर भी उन्हें खिलाता।

एक दफ़ा जब मैं तालाब के किनारे खेल रहा था, मैंने पानी की सतह पर बहता एक लकड़ी का टुकड़ा देखा। मैं इसे अपनी मछली बुलाने वाली छड़ी से पानी में डुबोने की कोशिश करने लगा। लेकिन उसकी जगह मैं खुद पानी में चला गया और डूबने को होने लगा। सौभाग्य से मेरा एक सफाई कर्मचारी, जो पश्चिमी तिब्बत का पुराना सैनिक था, पास ही मेरे ऊपर नज़र रख रहा था। उसने दौड़कर मुझे बचाया।

नोरबुलिंग्का का एक आकर्षण यह भी है कि यह क्यिचू नदी की एक धारा के पास है जहाँ बाहरी दीवार से कुछ मिनट पैदल चलकर पहुँचा जा सकता है। जब मैं छोटा था, तब वेश बदलकर, लेकिन एक सेवक को साथ लेकर, मैं अक्सर यहाँ चला जाया करता था। पहले तो किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया लेकिन फिर ताथाग रिन्पोचे ने इस पर रोक लगा दी। दुर्भाग्य से, दलाई लामा से सम्बन्धित नियम बड़े कठोर थे। मुझे उल्लू की तरह छिपकर रहने के लिए बाध्य किया जाता था। सचाई यह है कि इन दिनों तिब्बती समाज इतना प्राचीनतावादी था कि उच्च सरकारी अफसरों के लिए नीचे झुककर सड़क पर नज़र डालना भी गलत समझा जाता था।

पोटाला की तरह नोरबुलिंग्का में भी मेरा ज़्यादातर समय सफाई कर्मचारियों के साथ ही व्यतीत होता था। जब मैं बहुत छोटा था, उस समय भी औपचारिक व्यवहार से मुझे चिढ़ थी और मैं सरकारी अफसरों की तुलना में सेवकों के साथ रहना ही ज़्यादा पसन्द करता था। जब मैं अपने घर जाता तो वहाँ भी घरेलू नौकरों के साथ ही मेरा अधिक समय व्यतीत होता, ये प्रायः सभी आमदो के निवासी थे जो मुझे तरह-तरह की कहानियाँ भी सुनाते थे।

जब हम अपने परिवार के भोजन भंडारों पर हमला करते तब भी वे साथ होते और बड़ा मज़ा आता था। इन अवसरों पर वे मेरा साथ देकर खुश होते थे, क्योंकि मेरे साथ उनका भी लाभ होता था। इसका सबसे अच्छा समय शरद के अन्तिम दिन थे जब खुश्क माँस के ताज़े गट्ठे हमारे यहाँ आते थे, जिसे हम मिर्च की चटनी में डुबोकर खाते थे। यह मुझे इतना पसन्द था कि एक दफ़ा मैं इतना ज़्यादा खा गया कि मेरा पेट बुरी तरह दर्द करने लगा। मैं पेट दबा-दबाकर कराहने लगा। केनराप तेनज़िन ने मेरी यह हालत देखी तो ढाढ़स बँधाने के लिए कहने लगा, 'कोई बात नहीं, ठीक हो जाएगा। दरअसल यह अच्छा ही हुआ।' लेकिन मुझे उसका उपदेश पसन्द नहीं आया परन्तु अपनी मूर्खता पर मुझे पछतावा होने लगा।

यद्यपि मैं दलाई लामा था, मेरे परिवार के नौकर सामान्य बच्चे की ही तरह मुझसे व्यवहार करते थे और दूसरे लोग भी, विशेष अवसरों को छोड़कर, मेरे साथ इसी प्रकार व्यवहार करते थे। मेरे लिए कोई विशेषता नहीं बरती जाती थी और

कोई भी मुझसे कुछ भी बात करने में डरता नहीं था। इसलिए बचपन में ही मुझे यह ज्ञान हो गया कि आम आदमी का जीवन बहुत आसान नहीं है। इसी तरह मेरे सफाई कर्मचारी भी बड़ी स्वतन्त्रता से अपनी कठिनाइयाँ मुझे बताते थे कि किस तरह सरकारी अफसर और बड़े लामा उनपर ज़्यादतियाँ करते हैं। वे इधर-उधर होने वाली घटनाओं और गपशप की खबरें भी मुझे दिया करते थे। इनमें गाँव-चौपाल के वे गाने भी होते थे जिन्हें लोग काम करते समय गाते हैं। इसलिए, यद्यपि समय-समय पर मेरी ज़िन्दगी बिलकुल अकेली ही गुज़रती थी और बारह वर्ष का होने पर ताथाग रिन्पोचे ने मेरा अपने माता-पिता के घर जाना भी बंद कर दिया था, राजकुमार सिद्धार्थ और चीन के अन्तिम सम्राट पू यी की तरह मेरी ज़िन्दगी बिलकुल एकाकी कभी नहीं रही। बड़ा होने के साथ-साथ मैं तरह-तरह के रोचक व्यक्तियों के सम्पर्क में आता रहा।

मेरे बचपन के दिनों में यूरोप के करीब दस लोग ल्हासा में रहते थे। मैं इनसे मिलता-जुलता नहीं था, और एक दिन लोबसांग सामतेन जब हैनरिख़ हैरर को लेकर मेरे पास आया, तब मैं पहली बार किसी 'इंजी' से मिला—जिस नाम से पश्चिम के लोग तिब्बत में जाने जाते हैं।

मेरे बड़े होने के दिनों में जो लोग ल्हासा में आकर बस गए थे, वे थे सर बासिल गूल्ड, ब्रिटिश ट्रेड मिशन के अध्यक्ष; उनके उत्तराधिकारी, ह्यू रिचर्डसन, जिन्होंने तिब्बत पर कई किताबें लिखी हैं और देश छोड़ने के बाद जिनसे मैं कई बार इस विषय पर बात करने के लिए मिल चुका हूँ। तीसरे व्यक्ति थे रेजिनाल्ड फॉक्स, और एक ब्रिटिश मेडिकल अफसर, जिनका नाम मुझे इस समय याद नहीं आ रहा। लेकिन मुझे वह घटना हमेशा याद रहेगी जब वे नोरबुलिंग्का में एक मोर का इलाज करने आए थे, जिसकी एक आँख में फूली निकल आई थी। मैं बड़े ध्यान से उन्हें इलाज करते और उससे ल्हासा की आम बोली और तिब्बत की अपनी विशिष्ट भाषा में—ये दोनों एकदम भिन्न भाषाएँ हैं—दिलासा भी देते जा रहे थे। उनके मुँह से मैंने मोर के लिए 'माननीय मोर' का सम्बोधन सुना तो मुझे यह बड़ी विशेष बात लगी। हैनरिख हैरर बड़े प्रसन्न-स्वभाव व्यक्ति थे, और उनके जैसे सुनहरे बाल तो मैंने अब तक किसी के नहीं देखे थे। इसलिए मैंने उन्हें नाम दिया 'गोपसे' जिसका अर्थ है 'पीला सिर'। ऑस्ट्रियन होने के कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के ज़माने में भारत की ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कैद कर लिया था। लेकिन किसी तरह वे एक साथी क़ैदी पीटर ऑफ़्शनेटर के साथ भाग निकलने में सफल हुए थे और ल्हासा आ पहुँचे थे। यह उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी क्योंकि उन दिनों तिब्बत में, कुछ विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों को छोड़कर, विदेशियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध था। पाँच वर्ष तक खानाबदोशों की तरह ज़िन्दगी बिताने के बाद वे ल्हासा पहुँच पाए थे। जब वे यहाँ आए तो लोग उनकी बहादुरी और दृढ़ता से इतने प्रभावित हुए कि सरकार ने उन्हें वहाँ बने

रहने की अनुमति दे दी। ज़ाहिर है कि उनके यहाँ आने की खबर सबसे पहले मुझे दी गई, और यह देखने के लिए कि वे कैसे लगते हैं, मैं उत्सुक हो उठा। मैं विशेष रूप से हैरर से ही मिलना चाहता था क्योंकि उसके दिलचस्प और मिलनसार होने की प्रसिद्धि बहुत जल्द शहर में फैल गई थी।

वह बहुत अच्छी घरेलू तिब्बती बोलता था, हँसी-मज़ाक भी खूब करता था, हालाँकि आदर और शिष्टता में भी वह कम नहीं था। उससे जैसे-जैसे मेरी घनिष्ठता बढ़ती गई, वह स्पष्टवक्ता होता गया, हालाँकि अधिकारियों की उपस्थिति में वह नियन्त्रण बनाए रखता था। उसका यह गुण मुझे बहुत पसन्द आया। मेरा ख्याल है, हमारी पहली भेंट सन् 1948 में हुई थी, और इसके बाद डेढ़ साल तक, जब उसने तिब्बत से विदा ली, हम नियमित रूप से हर सप्ताह एक बार मिलते रहे। उससे मुझे बाहरी दुनिया, विशेषकर यूरोप और विश्वयुद्ध की, जानकारी मिलती थी। इसके अलावा वह अंग्रेज़ी सीखने में भी मेरी सहायता करता था, जिसकी शुरुआत मैंने अपने एक अधिकारी के साथ कर दी थी। अब तक मैं अंग्रेज़ी वर्णमाला सीख चुका था, जिसका मैंने तिब्बती ध्वनियों में रूपान्तर करवा लिया था, और इससे आगे भी सीखना चाहता था। हैरर ने और भी बहुत सी व्यावहारिक बातों में मेरी सहायता की।

मिसाल के तौर पर, उसने मेरा जेनरेटर ठीक करने में, जो प्रोजेक्टर के साथ मुझे भेंट में प्राप्त हुआ था, मेरी सहायता की। यह बहुत पुराना और खराब हो चुका था। मैं अक्सर सोचता था कि ब्रिटिश अधिकारियों ने कहीं नया जेनरेटर अपने इस्तेमाल के लिए रखकर अपना पुराना वाला तो मुझे नहीं पकड़ा दिया है!

उस समय मेरा दूसरा उत्साह उन तीन मोटर गाड़ियों में था जिन्हें तेरहवें दलाई लामा ने बाहर से मँगवाया था। हालाँकि तिब्बत में अच्छी सड़कें नहीं थीं, फिर भी वे अक्सर शहर में भीतर और बाहर आने-जाने में उनका प्रयोग करते थे। उनके देहान्त के बाद इनका उपयोग खत्म हो गया और नोरबुलिंग्का के एक कमरे में इन्हें रख दिया गया। इनमें से एक अमेरिकन डॉज थी और शेष दोनों बेबी आस्टिन थीं। ये सब 1920 के अन्तिम वर्षों के मॉडल थे। इनके अलावा एक विलीज़ जीप भी थी जिसे तिब्बती ट्रेड मिशन 1948 में अपनी अमेरिका यात्रा के दौरान लाया था, लेकिन जिसका उपयोग बहुत कम होता था।

जैसा मूवी प्रोजेक्टरों के साथ हुआ था, मोटर गाड़ियों के किसी जानकार की खोज में भी हमें काफ़ी वक्त लगा। लेकिन मैंने निश्चय कर लिया था कि इनका उपयोग करके ही रहूँगा। अन्त में ताशी सेरिंग नाम का एक ड्राइवर, जो भारत-सीमा के दक्षिण में कलिम्पोंग का रहने वाला था, मिला, लेकिन यह भी बहुत गरम दिमाग़ का था। हम मिलकर कारों पर काम करते, और अन्त में एक आस्टिन के कल-पुर्ज़े निकालकर दूसरी को चलने लायक़ बनाया गया। लेकिन डॉज और जीप की हालत बहुत खराब नहीं थी और उन्हें थोड़ी सी मरम्मत के बाद चलने लायक बना लिया गया।

लेकिन जब गाड़ियाँ ठीक हो गईं, तब मुझे उन्हें चलाने से मना कर दिया गया। यह मेरे लिए असह्य था और एक दिन, जब मेरा ड्राइवर कहीं गया था, मैंने एक गाड़ी खुद चलाने का फैसला कर लिया। चूँकि डॉज और जीप चाभी लगाकर चलती थीं और चाभियाँ ड्राइवर के पास रहती थीं, और बेबी आस्टिन को चलाने के लिए सिर्फ इग्नीशन का बटन दबाकर क्रेंक हैंडिल घुमाना पड़ता था, इसलिए मैंने उस पर अपना हाथ आज़माया।

बड़ी सावधानी से मैंने उसे शेड से बाहर निकाला और पार्क का चक्कर लगाने के लिए आगे बढ़ाया। दुर्भाग्य यह था कि नोरबुलिंग्का के पार्क में पेड़ों की भरमार थी इसलिए एक पेड़ में गाड़ी टकराते हुए ज़्यादा देर नहीं लगी। मैंने देखा कि सामने के एक बल्ब का शीशा टकराकर चकनाचूर हो गया है। अगर मैं इसे अगले दिन तक ठीक नहीं कर देता तो ड्राइवर के लौटने पर मेरी सैर का राज़ खुल जाता और मैं मुश्किल में पड़ जाता।

इसके बाद मैं बिना परेशानी के गाड़ी गैराज में ले गया और तुरन्त शीशा ठीक करने में जुट गया। अब मुझे पता चला कि यह सामान्य शीशा नहीं, रंगीन शीशा था। इसलिए मैंने उस रंग का शीशा तलाश करना शुरू किया और वह मुझे मिल भी गया और फिर मैंने उसे अपनी ज़रूरत के अनुसार ढाल भी लिया। अब समस्या यह पैदा हुई कि उसका रंग बिलकुल दूसरे शीशे जैसा कैसे बनाया जाए। आखिरकार चीनी का घोल उसके ऊपर रगड़कर मैंने उसे दूसरे जैसा बना ही दिया। मैं अपने काम से बहुत सन्तुष्ट था, लेकिन जब दूसरे दिन ड्राइवर आया, तब मुझे उसके सामने आते शर्म महसूस होने लगी। मुझे विश्वास था कि आज नहीं तो कल, ड्राइवर को इस बात का ज्ञान ज़रूर हो जाएगा। जो हो, उसने कभी एक शब्द भी मुझसे नहीं कहा। ताशी सेरिंग को मैं कभी नहीं भूलूँगा। वह अब भी जीवित है और भारत में रह रहा है और यद्यपि उससे मेरी भेंट कभी नहीं हुई, उसे मैं अपना अच्छा मित्र मानता हूँ।

तिब्बत का कैलेन्डर काफी जटिल है। यह चांद्र-मास पर आधारित है। इसके अलावा सौ साल की शताब्दी के स्थान पर हम साठ वर्षों का चक्र मानते हैं, जिनमें से प्रत्येक पाँच तत्त्वों में से एक से जुड़ा होता है (पाँच तत्त्व हैं, पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल और लोहा) और इन बारह जानवरों में से इसी क्रम में एक से भी जुड़ा होता है : चूहा, बैल, चीता, खरगोश, ड्रेगन, सर्प, घोड़ा, भेड़, बंदर, पक्षी, कुत्ता और सूअर। प्रत्येक तत्त्व दो दफ़ा आता है, पहले अपने पुरुष रूप में, फिर स्त्री रूप में। इस तरह दस साल में उनका चक्र पूर्ण होता है। फिर पहला तत्त्व ग्यारहवें और बारहवें पशुओं से संयुक्त होता है, दूसरा तेरहवें और चौदहवें पशुओं से, और इसी क्रम में आगे

भी चलता है। इस तरह उदाहरण देना हो तो तिब्बती केलेंडर के अनुसार वर्ष 2000 को लोहा और ड्रेगन का वर्ष कहा जाएगा।

तिब्बत पर चीनी आक्रमण से शताब्दियों पहले से ऋतुएँ अगणित पर्व दिवसों से जुड़ी रही हैं। इनका सामान्यतया धार्मिक महत्त्व है लेकिन भिक्षु तथा जनसाधारण सभी इन्हें मनाते हैं। जनसाधारण इन पर्वों पर खाना, पीना, नाचना, गाना, और खेल-कूद करते हैं, साथ ही प्रार्थना भी करते जाते हैं।

इन पर्वों में नववर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे लोसर कहते हैं और पाश्चात्य कैलेंडर के अनुसार यह फरवरी या मार्च के महीने में आता है। मेरे लिए इसका विशेष महत्त्व इसलिए है क्योंकि इस दिन मुझे प्रतिवर्ष राज्य के दिव्य वक्ता नेचुंग के साथ सार्वजनिक रूप से मिलना होता है। मैं इसका विवरण एक अगले अध्याय में प्रस्तुत करूँगा, यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि इसके द्वारा मैं और मेरी सरकार एक माध्यम, या 'कूतेन' की सहायता से तिब्बत के रक्षक देवता दोर्जे द्राकदेन से आगामी वर्ष के सम्बन्ध में मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं।

एक और त्यौहार है जिसके बारे में मेरे मिले-जुले विचार हैं। मोनलाम नामक यह त्यौहार—जिसका अर्थ है महान प्रार्थना पर्व—लोसर के तुरन्त बाद पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब मैं बहुत छोटा था, तब भी मुझे इसके मुख्य अनुष्ठानों में भाग लेना पड़ता था, और इसके बाद हमेशा मुझे तीव्र फ्लू हो जाता था। यह मुझे आज भी, जब कभी मैं भारत में वोध गया जाता हूँ, वहाँ की धूल के कारण होता है। यहाँ यह इसलिए होता था क्योंकि मुझे जोखांग मन्दिर में, जो पोटाला के मेरे कमरे से कहीं ज़्यादा ऊबड़-खाबड़ है, जाकर रहना पड़ता था।

यह अनुष्ठान, या पूजा, जिससे मैं बहुत डरता था, 'मोनलाम' का पहला हफ्ता खत्म होने के बाद दोपहर बाद शुरू होती थी और इसके बाद शाक्यमुनि बुद्ध के जीवन पर रीजेन्ट का लंबा व्याख्यान होता था। पूजा भी पूरे चार घंटे तक चलती थी और इसके पश्चात् मुझे अपनी याद से धर्मग्रन्थ का एक लम्बा और कठिन अंश दोहराना पड़ता था। मैं इतना घबरा जाता था कि शब्द मुँह से निकलने से इन्कार कर देते थे। मेरे वरिष्ठ अध्यापक, रीजेन्ट, कनिष्ठ अध्यापक और कर्मकांड, वेशभूषा तथा भोजनालय तीनों के अधिकारी सभी इसलिए बहुत चिन्तित रहते थे क्योंकि पूरे समय मुझे बहुत ऊँचे आसन पर अकेले बैठे रहना पड़ता था, जहाँ भूल जाने पर कोई मुझे याद भी नहीं दिला सकता था।

लेकिन मेरी समस्या का यह आधा ही हिस्सा था। चूँकि अनुष्ठान बहुत देर तक चलता था, इसलिए मुझे एक और डर सताता रहता था—कि इतने समय तक पेशाब रोक पाना असम्भव न हो जाए। लेकिन सब ठीक हो जाता था—पहली दफ़ा भी जब मैं बहुत ही छोटा था। लेकिन मुझे याद है कि मैं डर के मारे काँपने लगता था। यही नहीं, मेरी इन्द्रियाँ इतनी मन्द पड़ जाती थीं कि मुझे यह पता भी नहीं

रहता था कि मेरे चारों तरफ क्या हो रहा है। मुझे वे कबूतर भी दिखाई देना बंद हो जाते थे जो भीतर चारों तरफ़ उड़ते रहते थे और देवता के सामने रखी प्यालियों में से भोजन चुराते रहते थे। फिर जब मेरा पाठ आधा समाप्त हो जाता, तब उनपर मेरी नज़र फिर पड़ने लगती थी।

और जब कार्यक्रम पूरा समाप्त हो जाता, तब मैं आनन्द से विभोर हो जाता। एक तो इसलिए कि अब इस भयंकर कार्यक्रम से बारह महीने तक छुट्टी मिली, और दूसरा इसलिए कि इसके बाद मैं सड़कों पर घूम-फिर सकता था और इस दिन भगवान बुद्ध को समर्पित किए जाने वाले मक्खन से बनाए बड़े-बड़े रंग-बिरंगे तरह-तरह से सजे आकार, जिन्हें थोरमा कहते हैं, खुश होकर देख सकता था। इस दिन सैनिक बैंड बजते थे, कठपुतलियों के तमाशे दिखाए जाते थे और नाच-गाने में सब लोग मगन रहते थे।

तिब्बत में जोखांग मन्दिर सबसे पवित्र माना जाता है। इसका निर्माण सातवीं शताब्दी में राजा सोंगत्सेन गाम्पो के शासन काल में उसकी एक पत्नी भृकुटी देवी, जो नेपाल के राजा अंशुरिया रुअम की पुत्री थी, द्वारा लाई गई एक प्रतिमा को स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया था (सोंगत्सेन गाम्पो की चार और पत्नियाँ थीं, जिनमें से तीन तिब्बती और एक चीनी थी, राजकुमारी बेंगचेन कोंग्जो, जो तांग राजवंश के दूसरे सम्राट की पुत्री थी।) बाद की शताब्दियों में मन्दिर का विस्तार होता रहा। इस मन्दिर का एक महत्त्वपूर्ण अंग इसके प्रवेश द्वार पर खड़ा वह पत्थर का स्तम्भ है जो तिब्बत के प्राचीन इतिहास और उसकी शक्ति का परिचायक है। इस पर तिब्बती और चीनी दोनों भाषाओं में सन् 821-22 में दोनों देशों के मध्य हुई। स्थायी संधि का विवरण खुदा हुआ है। यह इस प्रकार है :

तिब्बत के महाराज, चमत्कारी दैवी प्रभु तथा चीन के महाराज, शासक ह्वांग-ती, दोनों का रिश्ता भतीजे तथा चाचा का है और दोनों ने अपने साम्राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए विचार-विनिमय किया। दोनों ने एक महान समझौता किया और उसकी पुष्टि की है। सब देवता और मनुष्य इसे जानते हैं और गवाही देते हैं कि यह कभी बदला नहीं जाएगा; इस समझौते का विवरण पत्थर के इस स्तम्भ पर अंकित किया जा रहा है जिससे भावी युगों तथा पीढ़ियों को भी इसका ज्ञान हो सके।

चमत्कारी दैवी प्रभु त्रिसोंग द्रेत्सेन तथा चीन के राजा वेन वू सियाओ-ते ह्वांग-ती, भतीजे और चाचा, अपने दोनों देशों के वर्तमान तथा भविष्य के समग्र हित के लिए अपनी दूरदर्शी बुद्धि से समान रूप से सभी के लाभ के लिए अपनी उपकारिता का विस्तार करते हैं। सबकी शान्ति और सर्वजन के हित की एकमात्र इच्छा से वे इस परम उद्देश्य पर सम्मत हैं कि सबका स्थायी हित सुनिश्चित किया जाए; यह महान सन्धि उन्होंने अपने इस निर्णय

को फलीभूत करने के लिए सम्पन्न की है कि दोनों देशों की प्राचीन मित्रता और पारस्परिक सद्भाव तथा पड़ोसियों के प्रति सहयोग को पुनर्जीवन प्रदान किया जाए।

तिब्बत और चीन अपनी वर्तमान सीमाओं का समादर करेंगे। महान चीन के पूर्व का सारा प्रदेश तथा पश्चिम का भी सारा प्रदेश, किसी भी संदेह के बिना, महान तिब्बत देश माना जाएगा। इस सन्धि के बाद कोई भी पक्ष न आपस में युद्ध करेगा और न दूसरे का प्रदेश अपने में मिलाएगा। यदि किसी व्यक्ति के विरुद्ध इस प्रकार का कोई सन्देह होता है तो उसे बंदी बना लिया जाएगा; उसके व्यवसाय की जाँच की जाएगी और उसे वापस भेज दिया जाएगा।

अब चूँकि दोनों साम्राज्य इस सन्धि के द्वारा परस्पर जुड़ गए हैं, इसलिए आवश्यक है कि प्राचीन मार्ग से होकर एक बार फिर राजदूतों को यह सुनिश्चित करने तथा एक-दूसरे को यह सन्देश देने के लिए भेजा जाए कि भतीजे और चाचा के सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखे जाएँगे। प्राचीन प्रथा के अनुसार तिब्बत तथा चीन की सीमा पर चियांग चुन दर्रे के नीचे घोड़ों की अदला-बदली की जाएगी। सुइ युंग पहाड़ी पर चीनी इन तिब्बती दूतों से मिलेंगे और उन्हें आगे जाने के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करेंगे। दोनों ओर भतीजे और चाचा के बीच आवश्यक सम्मान-प्रदर्शन पूर्वक प्राचीन प्रथा के अनुसार व्यवहार किया जाएगा।

दोनों देशों के बीच कोई धुआँ अथवा धूल नहीं दिखाई देगी। कभी अचानक कोई खतरे की घंटी नहीं बजेगी, और 'शत्रु' शब्द का उच्चारण भी नहीं किया जाएगा। सीमाओं के प्रहरी भी न कोई चिन्ता करेंगे न भयभीत होंगे और भूमि तथा बिस्तर की आराम से सुविधा प्राप्त करते रहेंगे। सर्वजन शान्ति से रहेंगे और दस हज़ार वर्ष तक सुख का प्रसाद प्राप्त करेंगे। इसका यश सब दिशाओं में सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रकाश की तरह व्याप्त होगा।

इस पवित्र सन्धि से उस महान युग का आरम्भ होता है जब तिब्बत के निवासी अपने तिब्बत देश में, तथा चीन के निवासी अपने चीन देश में प्रसन्नता पूर्वक निवास करेंगे। यह सन्धि कभी न बदली जाए, इस उद्देश्य से धर्म के तीनों बहुमूल्य रत्न, सन्तों के मंडल, सूर्य तथा चन्द्र, आकाश के ग्रह और सितारों का गवाहों के रूप में आवाहन किया गया है, पावन शब्दों तथा पशुओं के बलिदान द्वारा शपथ ली गई है, और इस प्रकार इस सन्धि की पुष्टि की गई है।

यदि दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष इस समझौते के अनुसार कार्य नहीं करेगा अथवा उसका उल्लंघन करेगा, इन दोनों में से कोई भी कार्य करेगा, वह तिब्बत हो अथवा चीन, उसके बदले में दूसरा जो भी कार्य करेगा, उसे मूल सन्धि का उल्लंघन माना जाएगा।

तिब्बत तथा चीन के सम्राटों और मंत्रियों ने इस उद्देश्य के लिए निश्चित शपथ ली है, और यह समझौता विस्तार से लिखित में भी तैयार किया गया है, जिस पर दोनों सम्राटों ने अपनी मुद्रा अंकित कर दी है। सन्धि का पालन कराने के लिए जिन मंत्रियों को विशेष रूप से नियुक्त किया गया है, उन्होंने भी इस सन्धि पर अपने हस्ताक्षर कर दिए हैं और इसकी प्रतियाँ दोनों पक्षों के राज्य कार्यालयों में सुरक्षित रख दी गई हैं।

जोखांग में मेरा कमरा दूसरी मंज़िल पर यानी मन्दिर की सपाट छत पर, था। यहाँ से मैं न केवल इमारत के भीतरी हिस्से में देख सकता था, बल्कि उसके बाहर बाज़ार का दृश्य भी देख सकता था। दक्षिण दिशा की खिड़की से मुझे मन्दिर का मुख्य भाग दिखाई देता था जहाँ भिक्षु सारे समय मन्त्रपाठ करते रहते थे। इन भिक्षुओं का व्यवहार बहुत अच्छा था और वे अपने दफ्तरी कामों में भी बहुत कुशल थे।

लेकिन पूर्व दिशा की खिड़की से दृश्य बिलकुल भिन्न था। यहाँ से मेरी नज़र उस अहाते पर पड़ती थी जहाँ मेरे समान नए भिक्षु एकत्र होते थे। मैं आश्चर्य से देखता कि वे किस तरह आपस में दुर्व्यवहार करते हैं और कई दफ़ा लड़ने भी लगते हैं। मैं जब बहुत छोटा था, तब मैं धीरे से नीचे उतर जाता था कि उन्हें पास से देख सकूँ। मैं जो देखता और सुनता, उस पर विश्वास नहीं कर पाता था। पहली बात तो यही कि उनसे जिस प्रकार मन्त्र बोलने की उम्मीद की जाती थी, उस प्रकार वे उसका पाठ नहीं करते थे। वे उन्हें इस तरह गाते थे, जैसे मुँह खोलने में तकलीफ हो रही हो। बहुत से तो यह भी नहीं करते थे और खेलते ही रहते थे। उनमें बार-बार लड़ाई भी होने लगती थी। तब वे अपने लकड़ी के कटोरे लेकर एक-दूसरे के सिर पर मारने लगते थे। यह देखकर मेरे मन में एक विचित्र प्रतिक्रिया हुई। पहली तो यह कि ये भिक्षु बड़े मूर्ख हैं। दूसरी यह कि मुझे उनसे ईर्ष्या भी हुई। लगता था, जैसे उन्हें दुनिया की कोई चिन्ता नहीं है। लेकिन जब उनकी लड़ाई मारपीट में बदल जाती, तो मैं डरकर भाग आता।

पश्चिम में मुझे बाज़ार का नज़ारा दिखाई देता था। यही मुझे सबसे अच्छा लगता था, हालाँकि यह दृश्य मुझे छिपकर देखना होता था, जिससे कोई मुझे देख न ले। अगर लोग मुझे देख लेते, तो वे दौड़कर आते और मेरे सामने सिर झुकाकर लेटने लगते। मैं सिर्फ पर्दे के पीछे से झाँक सकता था, अपराधी की तरह। मुझे याद है कि जब मैं सात-आठ साल की उम्र में जोखांग आया, तब मेरी हरकतें बहुत बुरी थीं। नीचे लोगों की भीड़ से मैं परेशान हो उठा और पर्दे के बाहर सिर निकालकर बाहर देखने लगा। इसके बाद, जैसे यह करना ही काफ़ी नहीं था, मैंने उनपर थूक के बुलबुले उड़ाने शुरू कर दिए। वे मुझे देखकर झटपट सिर नीचा करके लेटने लगते और उनके सिरों पर मेरे थूक की बूँदें गिरती रहतीं। इसके कुछ समय बाद, मुझे यह कहते हुए खुशी हो रही है, कि यह बालक दलाई लामा अपने ऊपर कुछ नियन्त्रण रखना सीख गया।

मुझे नीचे बाज़ार में लगी दुकानों को देखना अच्छा लगता था। एक दफा मैंने एक स्टाल पर एक छोटी सी लकड़ी की बन्दूक रखी देखी। मैंने फौरन किसी को भेजा कि मेरे लिए उसे खरीद लाए। इसके लिए मैंने जो पैसे दिए वे यात्रियों द्वारा मुझ पर चढ़ाए गए पैसों में से थे, जिन्हें मैं कभी-कभी अपने ऊपर खर्च कर लेता था, क्योंकि नियमानुसार मुझे पैसों से कोई सम्बन्ध रखने की अनुमति नहीं थी। तथ्य यह है कि आज तक मेरा धन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। मेरा व्यक्तिगत कार्यालय ही मेरे आय-व्यय का सारा काम देखता है।

जोखांग में मेरे रहने का एक दूसरा सुख यह था कि यहाँ के सफाई कर्मचारियों में मैं नए दोस्त बना सकता था। हमेशा की तरह मेरा सारा खाली समय उन्हीं के साथ बीतता था और मेरे लौटने पर जितना दुख मुझे होता था, उतना ही शायद उन्हें भी होता था। मुझे याद है कि एक दफ़ा जब मैं वहाँ आया तो मैंने पाया कि पिछले वर्ष जो लोग मेरे मित्र बने थे, उनमें से कोई भी अब यहाँ नहीं है। मुझे इस पर आश्चर्य हुआ और बुरा भी लगा, क्योंकि मैं उनसे मिलने की कल्पनाएँ करता हुआ वहाँ आया था। बस, जो एक आदमी बचा था, उससे मैंने पूछा कि और सब कहाँ चले गए। उसने बताया कि दस लोग चोरी करने के कारण निकाल दिए गए। हुआ यह था कि मेरे वहाँ से जाने के बाद ये सब बंद कमरे में छत से नीचे उतरे और सोने के दीये और दूसरी चीजें चुरा ले गए। ऐसे थे मेरे दोस्त!

'मोनलाम' त्यौहार का आखिरी दिन सार्वजनिक समारोहों के लिए निश्चित था। सबसे पहले भविष्य में प्रकट होने वाले मैत्रेय बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा का जुलूस निकाला जाता जो पुराने शहर की परिक्रमा करता था। इस विशेष मार्ग का नाम 'लिंगखोर' है। अब मुझे बताया गया है कि राजधानी की चीनी विकास-योजनाओं के कारण यह मार्ग नष्ट हो गया है, लेकिन 'बारखोर' नामक इसके भीतर का मार्ग, जो जोखांग के इर्द-गिर्द ही घूमता है, अब भी बना हुआ है। पुराने ज़माने में श्रद्धालु यात्री पूरा शरीर ज़मीन पर लिटाकर 'लिंगखोर' को पार करते थे।

परिक्रमा समाप्त होने के बाद खेल-कूद के कार्यक्रम आरम्भ हो जाते। दौड़ प्रतियोगिताएँ होतीं और घुड़दौड़ भी होती। घोड़ों की दौड़ इस मायने में भिन्न होती कि इसमें उन पर कोई सवार नहीं होता था। द्रेपंग मठ के आगे उन्हें ल्हासा की दिशा में छोड़ दिया जाता था और उनके रक्षक तथा दर्शक उनका मार्गदर्शन करते थे। जैसे ही वे नियत स्थान पर पहुँचने को होते, युवा धावक अपनी दौड़ आरम्भ कर देते; ये भी नगर के केन्द्र की ओर ही आते। दोनों लगभग साथ-साथ ही लक्ष्य तक पहुँचते, इसलिए बड़ा मज़ेदार घमासान मचता। लेकिन इस साल एक दुर्घटना यह घटी कि कुछ धावकों ने घोड़ों की पूँछ पकड़कर अपनी दौड़ पूरी कर ली। दौड़ समाप्त होते ही अधिकारी ने दोषियों को धर पकड़ा, और ये सब मेरे साथ जुड़े

व्यक्ति ही निकले। मुझे जब पता चला कि ये सब दंडित किए जाएँगे, तो मुझे बड़ा दुख हुआ। मैंने मामले में दखल दिया और इन्हें बचाने में सफल भी हुआ।

'मोनलाम' पर्व के कुछ पहलू ल्हासा की समग्र आबादी को गहराई से प्रभावित करते थे। प्राचीन परम्परा के अनुसार इस अवसर पर नगर का प्रबन्धन द्रेपुंग मठ के प्रधान भिक्षु को सौंप दिया जाता था। वे फिर अपने भिक्षुओं में से कानून और व्यवस्था के लिए सिपाही और अधिकारियों की नियुक्ति करते थे। इसका सख्ती से पालन किया जाता था और इसका उल्लंघन करने वालों पर भारी जुर्माने किए जाते थे। जिस एक बात पर प्रधान भिक्षु बहुत बल देते थे, वह थी सफाई। इसलिए शहर की सारी इमारतों की फिर से पुताई की जाती थी और सड़कों को चमकाया जाता था।

बचपन में मेरे लिए नववर्ष का एक आकर्षण खाबसे या लोसार डबल रोटी और पेस्ट्रियाँ बनाने की परम्परा थी। इस अवसर पर प्रतिवर्ष मेरा भोजनालय का अधिकारी तरह-तरह की स्वादिष्ट पेस्ट्रियाँ बनाता था जिनकी शक्लें भी अलग-अलग होती थीं। एक वर्ष मैंने स्वयं यह काम करने का विचार किया। इसमें मुझे सफलता भी मिली और मैं अपना काम देखकर खुश हो गया, इसलिए मैंने भोजनालय के अधिकारी से कहा कि मैं कल फिर आकर पेस्ट्री बनाऊँगा।

लेकिन दूसरे दिन दुर्भाग्य से जो तेल मेरे उपयोग के लिए निकाला गया था, वह एकदम ताज़ा था, और जैसा ज़रूरी होता है, उसे पहले उबाला नहीं गया था। इसलिए, जैसे ही मैंने कड़ाही में लोई डाली, वह ज्वालामुखी की तरह जल उठा। मेरा दाहिना हाथ उबलते हुए तेल में जा गिरा और उस पर फफोले पड़ गए। ख़ैर, इस घटना की मेरी मुख्य स्मृति वह रसोइया है जो बहुत ज़्यादा सुँघनी का इस्तेमाल करता था और आसानी से उत्तेजित नहीं होता था। वह अपने हाथ में फेंटी हुई क्रीम जैसी कोई चीज़ लिए पागल की तरह भाग-दौड़ करता उसे मेरे ज़ख्मों पर लगाता चला जा रहा था। सामान्यतः वह बहुत खुश रहने वाला व्यक्ति था लेकिन इस समय जैसे अपनी सुध-बुध खो बैठा था। मुझे अब तक उसका चेचक के गहरे दागों से भरा चेहरा और नाक से टपकता पानी और नस के टुकड़े याद हैं, जो, सब मिलाकर, बड़े हास्यास्पद लग रहे थे।

वर्ष के सभी पर्वों में मुझे सातवें महीने में मनाया जाने वाला आपेरा नृत्य का वह उत्सव सबसे अधिक प्रिय था जो पूरे सप्ताह चलता था। इसमें तिब्बत के सभी भागों से नर्तक, गायक और अभिनेताओं के दल भाग लेते थे। ये कार्यक्रम पीली दीवार से लगे परन्तु काफी दूर पर विशेष रूप से बने मैदान में होते थे। इसे देखने के लिए एक इमारत की छत पर मेरे लिए अस्थायी शामियाना लगा दिया जाता था। सरकार के सभी अफसर और उनकी पत्नियाँ—जो इस अवसर का उपयोग अपने एक-से-एक ज्यादा भड़कीले वस्त्रों और भारी ज़ेवर का प्रदर्शन करने के लिए

भी करती थीं—इसे देखने आते थे। और, यह प्रतियोगिता स्त्रियों तक ही सीमित नहीं होती थी, नोरबुलिंग्का के सफाई कर्मचारी भी इसमें बढ़-चढ़कर भाग लेते थे। वे भी काफ़ी समय और धन बर्बाद करके कपड़े और गहने—जो ज़्यादातर कौड़ियों से बने होते थे, उधार या किराए पर लेकर परेड में शामिल होने आते थे। उनका समय तब आता जब वे प्रतियोगिता के लिए तैयार किए तरह-तरह के फूलों से लदे गमले हाथों में उठाकर निर्णायकों के सामने से गुज़रते।

मैं अपने एक सफाई कर्मचारी को कभी नहीं भूलूँगा जो एक विशेष प्रकार का टोप सिर पर लगाकर, जिस पर उसे बहुत गर्व था, परेड में भाग लेता था। इस टोप में लाल रंग का एक लंबा-सा रिबन लगा था, जिसे वह बड़े कलात्मक ढंग से अपने गले और कँधे पर सजा लेता था।

जनता बड़ी संख्या में यह समारोह देखने आती थी, हालाँकि सरकारी अधिकारी और संभ्रान्त नागरिकों की तरह उनके बैठने के लिए कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया जाता था। कार्यक्रमों के अलावा उन्हें उच्च अधिकारियों की वेशभूषा और चाल-ढाल देखने में भी बहुत रुचि होती थी। इस अवसर का लाभ वे पीली दीवार की परिक्रमा करने में भी उठाते—हाथ में प्रार्थना-चक्र और मुँह से लगातार मन्त्र बोलते हुए (यह चक्र एक बेलन की तरह होता है, जिसमें प्रार्थनाएँ लिखी होती हैं और जिसे हाथ में नीचे से पकड़कर घुमाया जाता है) वे यह कार्य करते।

ल्हासा से बाहर के लोग भी आते थे : पूर्व से लम्बे-चौड़े शान-बान से चलते-फिरते खाम्पा, जिनके काफ़ी लम्बे बालों में लाल रंग के फुँदने लगे होते थे; दक्षिण से नेपाली और सिक्किमी व्यापारी; और गाँवों से छोटे क़द के लेकिन गढे हुए बदन के खानाबदोश किसान। ये सब मिल-जुलकर खूब मौज-मस्ती करते थे, और तिब्बती तो इन बातों में आगे ही रहते हैं। हम लोग सामान्यतः सरल स्वभाव के व्यक्ति हैं, जिन्हें प्रदर्शन तथा खेल-कूद बहुत पसन्द है। इन आयोजनों में मठों के भिक्षु भी भाग लेते हैं, हालाँकि उनके लिए धार्मिक रूप से यह सब निषिद्ध है और वेश बदलकर ही वे इनमें भाग ले सकते हैं।

यह बहुत खुशी का समय होता था। लोग बैठे-बैठे प्रदर्शनों के सम्बन्ध में बात करते रहते, उन्हें हर गाना और नृत्य तथा हर घटना मुँहज़बानी याद होती थी। सब लोग अपने साथ खाने-पीने का सामान, चाय और छंग लाते थे और जहाँ चाहते, घूमते-फिरते थे। युवतियाँ बच्चों को छाती से लगाए दूध पिलाती रहतीं और बच्चे हँसते-खिलखिलाते इधर-उधर दौड़ते फिरते थे—बस, जब कोई नया अभिनेता रंग-बिरंगी अद्भुत वेशभूषा में मंच पर प्रकट होता, तब वे क्षण-भर के लिए रुकते और आँखें फाड़कर उसका नक्शा देखते, और फिर भाग निकलते, इस समय पुराने ज़माने के चुपचाप अकेले बैठे लोग भी आँखें चमकाकर उन्हें देखते और कुछ देर के लिए औरतों

की गपशप भी थम-सी जाती थी। इसके बाद फिर सब कुछ पहले की तरह चलने लगता और इस सारे समय पहाड़ की ठंडी हवा के बीच ऊपर चमकता सूरज नीचे अपनी रोशनी पहुँचाता रहता।

पूरी शान्ति तभी होती थी जब व्यंग्य-नाटक शुरू होते थे। तब अभिनेता भिक्षु-भिक्षुणियों, उच्च अधिकारियों और राज्य के दिव्य-वक्ताओं का रूप धरकर सामने आते और सार्वजनिक महत्त्व के व्यक्तियों का मज़ाक उड़ाते थे।

वर्ष के अन्य महत्त्वपूर्ण उत्सवों में महाकाल का उत्सव भी होता था जो तीसरे महीने के आठवें दिन मनाया जाता था। इस दिन गर्मी के मौसम की शुरुआत मानी जाती थी और सरकारी अधिकारी भी अपनी वेशभूषा बदलते थे। इसी दिन मैं भी पोटाला से नोरबुलिंग्का के लिए स्थान-परिवर्तन करता था। पाँचवें महीने के पन्द्रहवें दिन ज़ैमलिंग चिसांग अर्थात् विश्व-प्रार्थना दिवस मनाया जाता था, और पूरे सप्ताह की छुट्टी की शुरुआत होती थी जब ल्हासा के वे सब लोग जो भिक्षु-भिक्षुणी या सरकारी अधिकारी नहीं होते थे, शहर से बाहर मैदानों में जाकर तंबू लगाकर रहते और पिकनिक वगैरह मनाते थे। मुझे काफ़ी हद तक यह विश्वास है कि जिन लोगों को इसमें शामिल होने की आज्ञा नहीं होती थी, उनमें से भी बहुत से लोग वेश बदलकर इसमें शामिल होते थे। फिर, दसवें महीने के पच्चीसवें दिन तिब्बत में बौद्ध धर्म के महान सुधारक और गेलुगपा परम्परा के आरम्भकर्ता त्सोनकापा का देहान्त हुआ था, इसलिए उनकी स्मृति में विशेष कार्यक्रम आयोजित किया जाता था। रात को टॉर्च जलाकर जुलूस निकाले जाते थे और पूरे तिब्बत में मक्खन के हज़ारों दीये जलाए जाते थे। इसी दिन सर्दी के मौसम की भी शुरुआत मानी जाती थी और सरकारी अधिकारी गर्मी के वस्त्र बदलकर सर्दी के वस्त्र पहन लेते थे। मैं भी अनिच्छापूर्वक पोटाला वापस लौट आता था। मैं सोचता था कि मैं भी जल्दी से अपने पूर्ववर्ती की तरह इतना बड़ा हो जाऊँ कि उनकी तरह जुलूस में भाग लेकर नोरबुलिंग्का ही वापस चला जाऊँ—उन्हें भी यही स्थान ज़्यादा पसन्द था।

इनके अलावा तिब्बत में लौकिक महत्त्व के भी अनेक कार्यक्रम होते थे, जैसे घोड़ों का मेला, जो पहले ही महीने में आयोजित किया जाता था। इसी तरह शरद ऋतु में एक दिन खानाबदोश याक पशु लाते थे जिन्हें कसाइयों को बेचा जाता था। यह मेरे लिए बड़े दुख का समय होता था। मैं यह बर्दाश्त नहीं कर पाता था कि उन्हें मारने के लिए बेचा जाए। इसलिए जब कभी मैं नोरबुलिंग्का के बाज़ार में किसी को याक ले जाते देखता तो मैं किसी को भेजकर उसे खरीदवा लेता था। इस तरह मैं उन्हें बचाने की कोशिश करता था। मैं सोचता हूँ कि अपने जीवन में मैंने दस हज़ार याक पशुओं की इस तरह रक्षा की होगी—हो सकता है, ज़्यादा भी हों। जब मैं यह सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि इस बेहद शैतान बच्चे ने कुछ भलाई अवश्य की है।

3

तिब्बत पर आक्रमण

सन् 1950 की गर्मियों में आपेरा उत्सव से एक दिन पहले नोरबुलिंग्का में जब मैं स्नानघर से बाहर निकल रहा था, मैंने अपने पैरों के नीचे की ज़मीन हिलती महसूस की। रात होने लगी थी और मैं बिस्तर पर जाने से पहले हाथ-मुँह धोते हुए अपने एक सेवक से बातचीत कर रहा था। उस समय ये सुविधाएँ मेरे भवन से कुछ गज़ दूर एक छोटी-सी इमारत में उपलब्ध थीं, इसलिए इस समय मैं बाहर था। पहले तो मुझे लगा कि भूकम्प आया है क्योंकि तिब्बत में ये आते ही रहते हैं। लेकिन जब मैं अपने भवन में वापस लौटा तो मैंने देखा कि दीवारों पर लगी कई तस्वीरें टेढ़ी हो गई हैं। इसी वक्त कुछ दूर पर एक भयंकर कड़क सुनाई दी। मैं बाहर दौड़ा और मेरे साथ कई सफाई कर्मचारी भी निकल आए। आसमान पर नज़र डाली तो एक और कड़क और फिर एक और—जैसे गोलियों की बौछार हो रही हो। हमें लगा कि असली बात यही है, तिब्बत की सेना किसी प्रकार का सैनिक अभ्यास कर रही है जिसके कारण यह ज़मीन हिल रही है और शोर हो रहा है। कुल मिलाकर तीस-चालीस विस्फोट हुए थे।

दूसरे दिन हमें पता चला कि यह सैनिक अभ्यास नहीं था, प्राकृतिक आपदा ही थी। कई लोगों ने यह भी बताया कि उन्हें, जिस दिशा से आवाज़ें आ रही थीं, उधर लाल रंग की विशेष रोशनी भी दिखाई दी है। इसके बाद समाचार आया कि सारे देश में यह घटना हुई थी, यहाँ से 400 मील पूर्व स्थित चामडो में और 300 मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित साक्य में तो यह सब हुआ ही था। बाद में मैंने सुना कि कोलकाता में भी यह दृश्य दिखाई दिया था। इस घटना का महत्त्व जैसे-जैसे हमें प्रभावित करता गया, लोगों ने यह मानना शुरू किया कि यह भूकम्प नहीं, अपशकुन था।

जीवन में आरम्भ से ही मुझे विज्ञान में विशेष रुचि रही है। इसलिए इस अद्भुत घटना का वैज्ञानिक आधार पता लगाने का मैंने निश्चय किया। कुछ दिन बाद जब हैनरिख हैरर से मेरी भेंट हुई, तो मैंने उनसे पूछा कि इस घटना के विषय में—केवल भौतिक घटना के ही नहीं, उसके आकाशीय प्रज्वलन के बारे में भी—उनके विचार

क्या हैं। उनका कहना था कि दोनों बातें उन्हें परस्पर जुड़ी लगती हैं। पूरे पर्वतों के ऊपर उठने के कारण पृथ्वी की सतह चटकी है और ये रोशनियाँ और आवाज़ें पैदा हुई हैं।

मुझे यह विश्लेषण संगत तो लगा, परन्तु सम्भव नहीं लगा। धरती के चटकने से रात के आसमान में ये रोशनियाँ वऔर कड़कने की आवाज़ें कैसे उत्पन्न हो सकती हैं, और दूसरी बात यह कि इतनी दूर-दूर तक इन्हें कैसे देखा जा सकता है? मेरा विचार यह बना कि हैरर की थ्योरी सही नहीं है—और आज तक मैं यही सोचता हूँ। इस घटना का वैज्ञानिक कारण अवश्य कुछ हो सकता है, लेकिन मेरी अपनी भावना यह है कि यह जो भी हुआ, इसमें अवश्य कुछ रहस्य है, जो विज्ञान की पहुँच से अभी तक बाहर है। इस घटना के लिए मुझे यह मानना ज़्यादा आसान लगता है कि यह कोई पराभौतिक घटना है। जो हो, यह नीचे ज़मीन की हलचल हो या आकाश से उतरी चेतावनी, इस दिन के बाद तिब्बत की स्थिति तेज़ी से बिगड़ती चली गई।

जैसा मैं कह चुका हूँ, यह घटना आपेरा उत्सव के ठीक पहले हुई। इसके दो दिन बाद, इस अपशकुन का—यदि इसे अपशकुन कहना सही हो तो—प्रभाव दिखना शुरू हो गया। शाम के समय, जब कार्यक्रम चल रहा था, मैंने देखा कि एक हरकारा मेरी तरफ दौड़ा चला आ रहा है। मेरे निवास के पास पहुँचते ही उसे रीजेन्ट ताथाग रिन्पोचे के पास भेज दिया गया, जो वहीं दूसरे हिस्से में रहते थे। मुझे एकदम लगा कि कोई बुरी खबर है। सामान्य स्थिति में सरकारी काम एक हफ्ते बाद किए जाते थे, इसलिए स्वभावतः मेरी उत्सुकता बहुत बढ़ गई। इसका क्या अर्थ हो सकता था? अवश्य कोई खतरनाक बात हुई है? लेकिन अभी काफ़ी छोटा होने और राजशक्ति से वंचित होने के कारण मुझे तब तक इन्तज़ार करना था जब तक ताथाग रिन्पोचे खुद मुझे इस बारे में न बताएँ। लेकिन ऐसी स्थितियों के लिए भी मैंने एक तरकीब निकाल ली थी : हम दोनों के कमरों के बीच की दीवार में ऊपर एक खिड़की थी, जिसके नीचे एक बक्सा रखकर उस पर खड़े होकर मैं दूसरी तरफ झाँक सकता था। हरकारा भीतर गया, कि मैं बक्सा रखकर उस पर चढ़ा और साँस रोककर जासूसी शुरू कर दी। मैं पत्र पढ़ते हुए रीजेन्ट का चेहरा बहुत साफ़ देख सकता था। वह एकदम गम्भीर हो गए थे। कुछ मिनट बाद बाहर निकले और मैंने उन्हें हुक्म देते सुना कि काशाग की बैठक तुरन्त बुलाई जाए।

बाद में मुझे पता चला कि यह पत्र नहीं, चामडो में स्थित खाम के गवर्नर का भेजा एक तार था, जिसमें खबर दी गई थी कि चीनी सैनिकों ने तिब्बती चौकी पर हमला करके वहाँ के अफसर को मार डाला है। खबर महत्त्वपूर्ण थी। पिछले वसन्त में भी चीनी कम्युनिस्टों ने सीमा पार करके हमले किए थे, यह कहकर कि साम्राज्यवादी हमलावरों से तिब्बत को स्वतन्त्र करने के लिए—इसका जो भी अर्थ

हो—वे ये हमले कर रहे हैं। इससे पहले 1949 में ल्हासा में रहने वाले चीनी अफसरों को तिब्बत सरकार ने निकाल दिया था, इस तथ्य के बावजूद ये हमले किए जा रहे थे।

अब यह स्पष्ट था कि चीनी अपनी धमकी को पूरा कर रहे हैं। यदि यह बात सच थी तो मैं जानता था कि तिब्बत की हालत खतरनाक है, क्योंकि सिपाही और अफसर कुल मिलाकर हमारी सेना में 8,500 आदमी थे। हाल ही में विजय प्राप्त करने वाली चीनी मुक्ति सेना के सामने यह संख्या कुछ भी नहीं थी।

उस वर्ष के आपेरा उत्सव की मुझे कोई खास यादें नहीं हैं, सिवाय इसके कि मैं बहुत परेशान हो उठा था। अब न बाजों की हल्की ताल पर होने वाले जादुई नृत्य मेरा ध्यान आकृष्ट कर पाते थे, न विलक्षण वेशभूषाओं में प्रकट होने वाले अभिनेता—इनमें से कई मृत्यु को दर्शाने के लिए हड्डियाँ लगाकर आते थे—जो प्राचीन धुनों पर बड़ी गम्भीरता से अपने रोल अदा करते थे।

दो महीने बाद अक्टूबर में हमारे भयंकरतम भय सामने आने लगे। ल्हासा में खबर आई कि चीनी मुक्ति सेना के अस्सी हज़ार सिपाहियों ने चामडो के पूर्व में द्रीछू नदी पार कर ली है। चीनी रेडियो पर घोषणा की गई कि चीन में सत्ता पर अधिकार की पहली वर्षगाँठ पर तिब्बत का 'शान्तिपूर्ण मुक्ति-अभियान' आरम्भ कर दिया गया है।

तो, कुल्हाड़ा हमारी गर्दन पर आ गिरा था। बहुत जल्द ल्हासा पर कब्ज़ा कर लिया जाएगा। हम इस कठिन आक्रमण का सामना नहीं कर सकेंगे। तिब्बती सेना की संख्या तो कम थी ही, उसके पास कोई आधुनिक हथियार भी नहीं थे, और न कोई प्रशिक्षण उन्हें प्राप्त था। रीजेन्सी ने हमेशा इसकी उपेक्षा की थी। तिब्बत के लोग, अपने इतिहास के बावजूद, शान्तिपूर्ण जीवन से प्यार करते हैं और सैनिक जीवन को सबसे निचले किस्म का जीवन समझते हैं : वे सैनिकों को कसाई मानते हैं। फिर भी, तिब्बत के कई भागों से कई रेजिमेंट अविलम्ब युद्ध के लिए भेजे गए, एक नई रेजिमेन्ट भी खड़ी की गई, परन्तु इन सबकी क्षमता बहुत ज़्यादा नहीं थी।

अब इस बात पर बहस करना फिज़ूल है कि ऐसा न होता तो क्या होता। इतना बता देना ही काफ़ी है कि इस अभियान में चीनियों को बहुत सारे लोग गँवाने पड़े : कुछ क्षेत्रों में तो उनका बहुत भयंकर प्रतिरोध हुआ, और सीधी लड़ाइयों में मरने वालों के अलावा उन्हें एक ओर तो रसद न पहुँच पाने की काठेनाइयों के कारण, और दूसरी ओर जलवायु की कठोरता के कारण भी बहुत सारी जानें गँवानी पड़ीं। बहुत-से लोग भूख से मर गए, और बहुतों की मृत्यु ऊँचाइयों पर साँस न ले पाने की बीमारी के कारण हुई होगी, जो विदेशियों को तिब्बत में बहुत ज़्यादा परेशान

करती है और जिससे कई दफ़ा उनकी मृत्यु भी हो जाती है। जहाँ तक युद्ध का सवाल है, तिब्बत की सेना चाहे जितनी बड़ी और लड़ने में निपुण होती, अन्त में उसके सब प्रयत्न बेकार होने ही थे। कारण, उस समय भी चीन की जनसंख्या हमारी जनसंख्या से सौ गुना से भी अधिक थी।

तिब्बत की आज़ादी के लिए इस खतरे पर दुनिया का ध्यान गया। भारत सरकार ने, ब्रिटिश सरकार के समर्थन के साथ, चीन की नई सरकार से अपना विरोध जताया, और कहा कि यह आक्रमण शान्ति के हित में नहीं है। 7 नवम्बर 1950 के दिन काशाग और तिब्बत की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ से अपील की कि हमारी ओर से हस्तक्षेप करे। लेकिन, अफसोस की बात यह है कि शान्तिपूर्ण अलगाव की अपनी नीति के कारण तिब्बत ने कभी उसका सदस्य बनने का विचार तक नहीं किया था, इसलिए इसका कोई परिणाम नहीं निकला—साल खत्म होने तक और भी तार राष्ट्रसंघ को भेजे गए, लेकिन उनपर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया।

जैसे-जैसे सर्दियाँ बढ़ीं और समाचार भी खराब होते गए, दलाई लामा को बालिग अधिकार देने की चर्चा आरम्भ होने लगी। लोग माँग करने लगे कि दो वर्ष कम होने पर भी, मुझे पूरी शक्ति प्रदान कर दी जाए। मेरे सफाई कर्मियों ने मुझे बताया कि ल्हासा में चारों तरफ पोस्टर लगे हैं जिनमें सरकार की निंदा की गई है और तुरन्त मेरे तख्तारोहण की माँग की गई है, और लोग इस आशय के गाने भी गा रहे हैं।

इस समय दो विचारों के लोग थे : एक वे जो इस संकट में नेतृत्व के लिए मेरी तरफ देख रहे थे, और दूसरे वे जो सोचते थे कि इस दायित्व के लिए अभी मैं काफी छोटा हूँ। मैं दूसरे विचार के लोगों के पक्ष में था, लेकिन दुर्भाग्य से इस सम्बन्ध में मुझसे कुछ पूछा ही नहीं गया। इसकी जगह सरकार ने फैसला किया कि दिव्य वक्ता के सामने यह समस्या प्रस्तुत की जाए। यह अनुष्ठान बहुत तनावपूर्ण वातावरण में हुआ जिसके अन्त में कार्यक्रम के लिए आवश्यक भारी-भरकम टोप पहने लड़खड़ाता हुआ 'कूतेन' मेरे पास आया और मेरी गोद में सफेद सिल्क का 'काता' खोलकर रख दिया जिसपर लिखा था : 'थू-ला बाप', जिसका अर्थ है 'इनका समय आ गया है।'

यह दोर्जे द्राकदेन की वाणी थी। रीजेन्ट ताथाग रिन्पोचे ने तुरन्त पद छोड़ने की तैयारी की, परन्तु वे मेरे वरिष्ठ अध्यापक बने रहे। अब राज्य के ज्योतिषियों को मेरे तख्तारोहण की तिथि का चुनाव करना था। उन्होंने वर्ष की समाप्ति के पूर्व 15 नवम्बर 1950 का दिन इस कार्य के लिए सबसे शुभ घोषित किया। लेकिन मुझे इन कार्यवाहियों से दुख हो रहा था। महीने भर पहले तक मैं सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त किशोर था जो वार्षिक आपेरा समारोह की प्रतीक्षा कर रहा था। अब मुझे एकदम युद्ध की तैयारियों में जुटे देश का नेतृत्व करना था। अब पीछे

मुड़कर देखता हूँ तो पाता हूँ कि मुझे इस परिवर्तन पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए था। पिछले कई वर्षों से दिव्य वक्ता शासन के प्रति स्पष्ट रूप से घृणा व्यक्त कर रहा था और मेरे प्रति उसका व्यवहार बहुत नम्र था।

नवम्बर के आरम्भ में, समारोह से पन्द्रह दिन पहले मेरा सबसे बड़ा भाई ल्हासा आया। मैं उसे ठीक से जानता भी नहीं था। अब वह ताक्तसेर रिन्पोचे के नाम से कुमबुम मठ का भिक्षु था—यहाँ दलाई लामा के रूप में अपनी खोज के बाद मैंने अपने शुरू के अट्ठारह महीने एकदम अकेले रहकर गुज़ारे थे। भाई पर नज़र डालते ही मुझे पता चल गया कि इसे बहुत कष्ट सहने पड़े हैं। उसकी हालत बहुत खराब थी, वह बहुत चिन्तित और तनाव में था। हकला-हकला कर उसने मुझे अपनी कहानी सुनाई। आमदो प्रदेश, जहाँ हम दोनों पैदा हुए और जहाँ कुमबुम मठ है, चीन के एकदम समीप है, इसलिए कम्युनिस्टों का उसपर बहुत जल्द कब्ज़ा हो गया था। इसके तुरन्त बाद भाई के ऊपर विपत्तियाँ आनी शुरू हो गईं। मठ के भिक्षुओं पर रोकें लगा दी गईं और उसे तो जैसे बन्दी ही बना लिया गया। इसी के साथ चीनी उसे अपनी कम्युनिस्ट विचारधारा का बना लेने का प्रयत्न करने लगे, जिससे फिर उससे जो चाहे कराया जा सके। उनकी योजना थी कि अगर वह मुझे चीनी शासन स्वीकार करने को तैयार कर सके, तो वे उसे ल्हासा जाने के लिए स्वतन्त्र कर देंगे। और अगर मैं उसकी बात न मानूँ, तो वह मेरी हत्या कर देगा और इसके लिए उसे पुरस्कृत किया जाएगा।

यह बहुत अद्‌भुत प्रस्ताव था। पहली बात तो यह कि किसी भी बौद्ध के लिए किसी जीवित प्राणी को मारने का विचार ही घृणित है। इसलिए, व्यक्तिगत लाभ के लिए किसी के द्वारा दलाई लामा को मरवाने की योजना से यही स्पष्ट होता है कि चीनियों को तिब्बतियों के चरित्र की ज़रा भी समझ नहीं है।

साल भर तक यह देखने के बाद कि चीनियों ने उसके समाज को कितना उलट-पुलट दिया है, मेरा भाई इस निर्णय पर पहुँच गया कि उसे यहाँ से भाग निकलकर ल्हासा जा पहुँचना चाहिए, जिससे मुझे और सरकार को चेतावनी दे सके कि अगर चीन का पूरे देश पर कब्ज़ा हो गया तो क्या होगा। यह काम वह उनकी बात मानकर ही कर सकता था, इसलिए उसने कह दिया कि मैं आपकी योजना को पूरा करूँगा।

मैं उसकी बातें सुनकर हाँफने लगा। इस समय तक मुझे चीनियों के बारे में विशेष जानकारी नहीं थी, और कम्युनिस्टों का ज्ञान तो मुझे बिल्कुल ही नहीं था। उनके बारे में सिर्फ यह सुना था कि उन्होंने मंगोलिया में बड़े अत्याचार किए हैं। यह सब भी मुझे अमेरिकी पत्रिका *'लाइफ़'* से पता चला था जिसकी एक प्रति कहीं से कभी मुझे प्राप्त हो गई थी। अब मेरे भाई ने पहली दफ़ा मुझे बताया कि ये लोग न सिर्फ अधार्मिक हैं बल्कि ये धर्म मात्र का भी विरोध करते हैं। जब मेरे भाई ताक्तसेर रिन्पोचे ने मुझे बताया कि उसका निश्चित मत यह है कि हमें विदेशी

शक्तियों से सहायता लेनी चाहिए और शस्त्र-बल से चीनियों का मुकाबला करना चाहिए।

भगवान बुद्ध ने हिंसा का निषेध किया है, इस सम्बन्ध में उसने मुझे बताया कि विशेष परिस्थितियों में यह न्यायसंगत है। उसका मानना था कि वर्तमान परिस्थितियाँ इसी प्रकार की हैं। इसलिए, वह बोला, कि वह भिक्षु धर्म और वस्त्रों का परित्याग कर तिब्बत का प्रतिनिधि बनकर विदेश जाएगा। वह अमेरिका से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। उसे विश्वास था कि वे स्वतन्त्र तिब्बत के विचार का समर्थन करेंगे।

मुझे यह सुनकर धक्का लगा लेकिन मेरे कुछ कहने के पूर्व ही उसने मुझसे कहा कि मुझे ल्हासा छोड़ देना चाहिए। यह बात कई दूसरे लोग भी कहते थे, लेकिन इतने निश्चित रूप से नहीं। मेरे भाई ने हाथ जोड़कर मुझसे विनती की कि लोग कुछ भी कहें, मुझे उसकी राय अवश्य मान लेनी चाहिए। उसने कहा कि खतरा बहुत बड़ा है और मुझे किसी भी स्थिति में चीनियों के हाथ में नहीं पड़ना चाहिए।

मुझसे मिलने के बाद भाई ने, ल्हासा छोड़ने से पहले, सरकार के अनेक सदस्यों से बातचीत की, मैं उससे एक-दो दफ़ा और मिला लेकिन उसका दिमाग बदलने के बारे में कुछ नहीं कर सका। पिछले वर्ष के भयंकर अनुभवों ने उसे विश्वास दिला दिया था कि इसके अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं है। मैं खुद इस पर अपना ज़्यादा दिमाग खपा नहीं सकता था क्योंकि कुछ ही दिन बाद मेरे तख्तारोहण की कार्यवाही होनी थी।

इस अवसर को महत्त्व प्रदान करने के लिए मैंने क्षमा-दान करने का निर्णय किया। इस दिन जेल में बंद सब कैदी छोड़ दिए जाएँगे। इसका मतलब यह था कि शोल कारागार खाली हो जाएगा। मैं यह कार्य करके प्रसन्न था लेकिन अक्सर मुझे इसके लिए अफसोस भी होता था। अब मुझे उनसे मित्रता करने का अवसर नहीं मिलता था। जब कभी मैं उस दिशा में अपना टेलिस्कोप लगाकर देखता, दो-चार कुत्तों के सिवा कुछ नज़र नहीं आता था। मुझे लगता था कि मेरी ज़िन्दगी में कुछ कमी आ गई है।

सत्रह तारीख़ को सवेरे मैं एक-दो घंटे पहले जाग गया; उस समय अँधेरा ही था। जब मैं कपड़े पहनने लगा तो वस्त्राधिकारी ने मुझे कमर में बाँधने के लिए एक हरा पट्टा दिया। ज्योतिषियों ने यह निर्देश दिया था—उनकी दृष्टि में हरा रंग शुभ होता है। मैंने आज नाश्ता न करने का निर्णय किया था क्योंकि ऐसे कार्यक्रम बहुत लम्बे चलते हैं और मैं नहीं चाहता था कि इस बीच कोई प्राकृतिक आवश्यकता मुझ पर दबाव डाले। लेकिन ज्योतिषियों ने यह भी निर्देश दिया था कि कार्यवाही आरम्भ होने से पहले मुझे एक सेब ज़रूर खाना चाहिए। मुझे याद है कि मुझे यह

सेब मुँह से पेट में उतारने में बड़ी कठिनाई हुई। इसके बाद मैं उस स्थान पर चला गया जहाँ सुबह के समय ही कार्यक्रम सम्पन्न होना था।

यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था, इसलिए इसमें भाग लेने के लिए सरकार के सभी अधिकारी ही नहीं, ल्हासा में रह रहे विदेशों के प्रतिनिधि अपनी सर्वोत्तम पोशाकें पहनकर एकत्र हुए थे। दुर्भाग्य से अँधेरा ज़्यादा होने के कारण मैं बहुत-सी कार्यवाही साफ़-साफ़ देख नहीं सका। इसमें अनुष्ठानपूर्वक मुझे अपनी लौकिक सत्ता का प्रतीक स्वर्णचक्र प्रदान किया गया। इसके अलावा मुझे कुछ ज़्यादा याद नहीं है—सिर्फ अपने गुर्दे की तेज़ी से बढ़ रही ज़रूरत को छोड़कर। इसके लिए मैं ज्योतिषियों को कोस रहा था—ज़रूर यह उनके आदेश पर खिलाए गए सेब के ही कारण हो रहा था। पहले भी मुझे इन लोगों पर ज़्यादा विश्वास नहीं था, अब उनके बारे में मेरी राय और भी खराब हो गई।

मैं हमेशा यह महसूस करता रहा हूँ कि क्योंकि मनुष्य-जीवन के दो सबसे महत्त्वपूर्ण दिवस, जन्म और मृत्यु के, ज्योतिषियों के साथ विचार करके निश्चित नहीं किए जा सकते, इसलिए अन्य विषयों पर विचार करने की कोई ज़रूरत नहीं है। लेकिन यह मेरी अपनी व्यक्तिगत राय ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि तिब्बत में ज्योतिषियों का काम ही समाप्त कर दिया जाए। हमारी संस्कृति की दृष्टि से यह बहुत आवश्यक है।

जो हो, मेरी स्थिति बद से बदतर होती चली गई। मैंने व्यवस्था अधिकारी को संदेश भेजा कि कार्यक्रम जल्द खत्म किया जाए। परन्तु हमारे अनुष्ठान लम्बे और जटिल होते हैं और मुझे डर लगने लगा कि अब यह कभी खत्म होने वाला नहीं है।

फिर अन्त में जब कार्यक्रम समाप्त हो गया तब मैं साठ लाख जनता का सर्वोपरि नेता बन गया था—जिसके सामने एक बड़ा युद्ध मुँह फाड़े खड़ा था और मेरी आयु मात्र पंद्रह वर्ष थी। यह मेरे लिए बड़ी कठिन स्थिति थी लेकिन मैंने अपना यह कर्तव्य समझा कि जहाँ तक सम्भव हो, उससे देश की रक्षा करूँ। अब मेरा पहला काम यह था कि मैं दो प्रधानमंत्रियों की नियुक्ति करूँ।

दो प्रधानमंत्री नियुक्त करने का कारण यह है कि हमारी शासन व्यवस्था में प्रत्येक पद के लिए दो व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है, जिनमें से एक सामान्य जन होता है और दूसरा भिक्षु। यह शुरुआत महान पंचम दलाई लामा के समय से हुई, जिन्हें पहली बार राज्य के धर्म नेता होने के साथ-साथ सांसारिक विषयों का नेतृत्व भी प्राप्त हुआ। दुर्भाग्य से, प्राचीन काल में तो यह व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रही, लेकिन अब बीसवीं शताब्दी के लिए यह बिल्कुल उपयुक्त नहीं थी। फिर, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, लगभग दो दशक तक रीजेन्ट के शासन काल में शासन बिल्कुल भ्रष्ट हो चुका था।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस अवधि में सुधार के नाम पर कुछ नहीं किया गया और दलाई लामा भी ज़्यादा कुछ नहीं कर सकता था, क्योंकि वह जो भी सुझाव देता, वह पहले प्रधानमंत्रियों के सामने जाता, फिर काशाग में प्रस्तुत किया जाता, फिर कार्यपालिका के प्रत्येक सदस्य का विचार उसपर प्राप्त किया जाता, और अन्त में राष्ट्रीय परिषद् में लाया जाता। इनमें से कोई एक भी इनके विरुद्ध अपना मत व्यक्त करता तो उसे और आगे बढ़ाना अत्यन्त कठिन हो जाता था।

इसी प्रकार राष्ट्रीय परिषद् जब कोई प्रस्ताव लाती, तो उसे भी इसी प्रक्रिया से, परन्तु अब उल्टी दिशा से, गुज़रना होता। इसके बाद अन्त में जब कोई नया कानून दलाई लामा के सामने लाया जाता, तो वह उसमें संशोधन प्रस्तुत कर सकता था, और इस स्थिति में उन्हें चर्मपत्रों के टुकड़ों पर लिखकर मूल दस्तावेज़ों के साथ लगाया जाता, और इन्हें फिर उसी क्रम में सब लोगों में सहमति के लिए घुमाया जाता। सुधार की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कठिनाई यह थी कि धार्मिक समुदाय कोई भी विदेशी प्रभाव स्वीकार करने को तैयार नहीं होता था, क्योंकि इससे तिब्बती बौद्ध धर्म को हानि पहुँच सकती थी।

मैंने लोबसांग ताशी नामक व्यक्ति को भिक्षु प्रधानमंत्री तथा एक अनुभवी प्रबन्धक, लूखांग्वा को सामान्य वर्ग से प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया।

यह कार्य करने के बाद मैंने इन दोनों के तथा काशाग के परामर्श से अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, तथा नेपाल के लिए प्रतिनिधि-मंडल भेजने का निश्चय किया, जो इन देशों के राजनेताओं से मिलकर हमारी ओर से हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करें। एक प्रतिनिधि-मंडल चीन भेजा जाना था जो वहाँ जाकर उनसे सेनाएँ हटाने की बातचीत करे। सभी प्रतिनिधि-मंडल वर्ष के अंत तक अपनी यात्रा पर रवाना हो गए। इसके कुछ समय बाद जब चीन ने पूर्व में अपनी स्थिति मज़बूत कर ली, तब मैंने निश्चय किया कि शासन के कुछ वरिष्ठ अधिकारियों को साथ लेकर दक्षिण तिब्बत चला जाऊँ। इस प्रकार, यदि स्थिति ज़्यादा बिगड़ती तो मैं आसानी से सीमा पार करके भारत में शरण ले सकता था। लोबसाँग ताशी और लूखांग्वा दोनों कार्यकारी अधिकारियों के रूप में ल्हासा में ही बने रहते। मैं राज्य की मुद्रा अपने साथ ले जा रहा था।

4

दक्षिण में शरण

इस सबकी तैयारी में समय लगना था और कई हफ्ते बाद ही हम निकल सके। फिर, सारी तैयारी गुप्त रूप से ही करनी थी। मेरे प्रधानमंत्रियों को डर था कि यदि यह ख़बर फैल गई कि दलाई लामा राजधानी छोड़ने की तैयारी कर रहे हैं, तो आतंक फैल जाएगा। लेकिन, मेरा मानना है कि काफी लोगों को अनुमान लग गया होगा कि क्या हो रहा है, क्योंकि सामान से भरी कई गाड़ियाँ वहाँ से जा चुकी थीं—जिनमें से कई गाड़ियों में, जिसकी मुझे भी जानकारी नहीं थी, ख़ज़ाने के पचास-साठ मज़बूत बक्से, जिनमें पोटाला की तिजोरियों से निकाले ज़्यादातर सोने के बिस्कुट और चाँदी की छड़ें ही भरी हुई थीं। यह विचार मेरे पुराने वस्त्राधिकारी केनराप तेनज़िन का था, अब जिनकी पदोन्नति चिक्याब केनपो के रूप में हो गई थी। मुझे जब इसका पता चला तो मुझे बहुत क्रोध आया। इसका कारण यह नहीं था कि ख़ज़ाने की मुझे चिन्ता नहीं थी, इससे मेरे युवा मन को चोट पहुँची थी। मुझे लगा कि केनराप तेनज़िन मुझे अभी भी बच्चा ही समझते हैं, इसलिए मुझे उन्होंने नहीं बताया है।

मैं चिन्ता और आशा दोनों से पूर्ण चलने के दिन की प्रतीक्षा कर रहा था। एक तरफ़ तो मैं अपने लोगों को छोड़ने की स्थिति से दुखी था क्योंकि मैं उनके प्रति ज़िम्मेदारी महसूस करने लगा था। दूसरी बात यह कि यात्रा की सम्भावना से मुझे प्रसन्नता भी हो रही थी। मेरे प्रमुख प्रतिहारी ने मुझे सलाह दी थी कि मैं वेश बदलकर यानी भिक्षु के वस्त्रों के स्थान पर सामान्य लोगों के कपड़े पहनकर चलूँ। उन्हें चिन्ता थी कि यदि जनता को पता चल गया कि मैं शहर छोड़ रहा हूँ, तो वे मुझे रोकने की चेष्टा करेंगे। इसीलिए उन्होंने यह राय दी और मुझे यह अच्छी भी लगी। अब मैं न केवल अपने देश का कुछ भाग देख सकूँगा, बल्कि, दलाई लामा के रूप में नहीं, उन्हीं का एक अंग बनकर उन्हें समझ भी सकूँगा।

रात के गहरे अँधेरे में हमने ल्हासा से विदा ली। मुझे याद है, सर्दी थी लेकिन हल्की। तिब्बत में सितारों में जितनी चमक होती है, उतनी मैंने दुनिया में कहीं और नहीं देखी है। चारों तरफ गहरी शान्ति थी और पोटाला के नीचे तलहटी से जब

हम बिलकुल चुपचाप नोरबुलिंग्का और द्रेपुंग मठ होते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे, तो जब कभी हमारे घोड़े ज़रा भी लड़खड़ाते, तो मेरे दिल की धड़कन क्षण भर के लिए रुक जाती थी।

हमारा लक्ष्य द्रोमो था—जिसका उच्चारण त्रोमो किया जाता है—और जो यहाँ से 200 मील दूर सिक्किम की सीमा के ज़रा-सा भीतर था। इस यात्रा में, किसी दुर्घटना की बात छोड़ दें, तो कम से कम दस दिन लगने थे और बहुत जल्द हमारे सामने मुश्किल आ खड़ी हुई। ल्हासा से निकलने के कुछ दिन बाद हम जंग नामक एक गाँव पँहुचे, जहाँ गान्देन, द्रेपंग और सेरा मठों के भिक्षु सर्दियों में लगने वाले वाद-विवाद के वार्षिक शिविर के लिए इकट्ठे हुए थे। हमारे दल का आकार देखकर ही वे समझ गए कि यह सामान्य दल नहीं है। कुल मिलाकर हम दो सौ लोग थे—जिनमें पचास बड़े अधिकारी थे—और लगभग इतने ही पशु भी थे, और भिक्षुओं को लगा कि उनमें मुझे भी होना चाहिए।

सौभाग्य से मैं सामने ही था लेकिन बदले हुए वेश के कारण मुझे किसी ने नहीं पहचाना। इसलिए मैं बिना रुके आगे बढ़ता गया। लेकिन आगे बढ़ते हुए मैं देखता रहा कि भिक्षु बहुत भावुक हो उठे हैं और उनकी आँखों में आँसू भी हैं। कुछ क्षण बाद उन्होंने लिंग रिन्पोचे को रोक लिया जो मेरे पीछे चल रहे थे। मैंने पीछे मुड़कर देखा तो पाया कि वे उनसे मुझे साथ लेकर वापस जाने की प्रार्थना कर रहे हैं। यह बहुत तनाव के क्षण थे। भावनाएँ उमड़ रही थीं। अपने बहुमूल्य संरक्षक के रूप में उनकी मुझमें गहरी आस्था थी और मेरा उन्हें छोड़कर जाना उन्हें बर्दाश्त नहीं हो रहा था। लिंग रिन्पोचे ने उन्हें समझाया कि मैं ज़्यादा दिन के लिए नहीं जा रहा हूँ, तो वे मुझे जाने देने के लिए तैयार हो गए। इसके बाद वे सब ज़मीन पर लम्बे लेटकर मुझसे प्रार्थना करने लगे कि मैं यथाशीघ्र वापस लौट आऊँ।

इस घटना के बाद फिर मार्ग में कोई बाधा नहीं आई, और मैं बदले हुए वेश में आगे चलता, जहाँ भी अवसर मिलता, लोगों से बातचीत करता आगे बढ़ता रहा। मैंने महसूस कर लिया था कि अपने देश के स्त्री-पुरुषों के जीवन की सचाइयाँ जानने का इतना अच्छा अवसर फिर कभी नहीं मिलेगा, इसलिए मैं इसका अधिक से अधिक उपयोग करता रहा। इनसे मुझे उनके प्रति किए जाने वाले बहुत से छोटे-छोटे अन्यायों की भी जानकारी हुई, और मैंने निश्चय किया कि समय मिलते ही मैं इन्हें दूर करने का प्रयत्न करूँगा।

लगभग एक सप्ताह की यात्रा के बाद हम तिब्बत के चौथे बड़े शहर ग्यान्तसे पहुँचे। यहाँ वेश बदलकर रहना सम्भव नहीं था। सैकड़ों लोगों ने मेरा स्वागत किया। भारतीय व्यापार मिशन के अस्वच्छ परन्तु उत्साही सैनिक दल ने मुझे सलामी दी। लेकिन ज़्यादा समय नहीं था, इसलिए यहाँ कुछ ही देर रुककर हम आगे बढ़ते गए और पन्द्रह दिन की यात्रा के बाद जनवरी 1951 में द्रोमो पहुँच गए।

हम सब बहुत थक चुके थे। लेकिन मैं व्यक्तिगत रूप से बहुत उत्तेजना महसूस कर रहा था। यह जगह तो कोई ख़ास नहीं थी, यह कई गाँवों की एक-दूसरे से सटी बस्ती थी, लेकिन यहाँ का दृश्य अत्यन्त भव्य था। यह ठीक उस जगह स्थित था जहाँ आमो-चू घाटी दो भागों में विभाजित होती है, और यह स्थान समुद्र तल से नौ हज़ार फीट की ऊँचाई पर स्थित है।

घाटी की तलहटी में एक नदी बहती है, जो गाँव के इतने समीप है कि दिन-रात इसका शोर सुना जा सकता है। नदी-जल के एकदम बगल से पहाड़ियाँ सीधी ऊपर उठती चली जाती हैं। किनारों पर कई जगह इतनी ऊँची चट्टानें खड़ी हैं जो, लगता है, चमकते नीले आसमान में घुस जाएँगी। इसी के बिल्कुल बगल में वे उत्तुंग पर्वत चोटियाँ हैं जिनके कारण तिब्बत को प्रतिष्ठा, और कठिनाइयाँ, दोनों ही प्राप्त हुई हैं। जहाँ-तहाँ देवदार के पेड़ और फूलदार पौधों की झाड़ियाँ हैं जो दूर-दूर तक फैली वातावरण को सुगन्धित बनाती हैं। जलवायु, मुझे बाद में ज्ञात हुआ, काफ़ी नम है। चूँकि यह प्रदेश भारतीय मैदानों से लगा है, इसलिए यहाँ मानसून की वर्षा भी होती है। लेकिन उन दिनों भी सूर्य अक्सर चमकने लगता है, जो गहरे बादलों के बीच से गुज़रता समीप की घाटियों को एक रहस्यमय प्रकाश से जगमगा देता है। मेरी इच्छा होने लगी कि जब ये पर्वत हरियाली और फूलों से भरे हों, तब मैं कुछ आसानी से चढ़ाई करने योग्य पर्वतों पर चढ़ूँ, परन्तु अभी तो सर्दियों के कई महीने बाक़ी थे।

द्रोमो पहुँचने के बाद पहले तो मैं एक स्थानीय अधिकारी के घर पर ठहरा—यही मुझे खिलौने और सेब भेजा करता था—फिर द्रोमो के ज़रा ऊपर बने द्रुंगखार नामक छोटे-से मठ में रहने चला गया—यहाँ से पूरी द्रोमो घाटी दिखाई देती थी। बहुत जल्द हम यहाँ बस गए और पहले की तरह मेरी नियमित दिनचर्या—प्रार्थना, ध्यान, यात्राएँ और अध्ययन—आरम्भ हो गए। यद्यपि अभी भी मेरी इच्छा होती थी कि मुझे कुछ ज़्यादा खाली समय मिले और मैं ल्हासा में उपलब्ध कई चीज़ों की कमी महसूस करता था, मुझे लगने लगा कि अब मेरे भीतर कुछ बदल गया है। इसका एक कारण यह भी था कि मैं यहाँ उन बहुत-सी औपचारिकताओं से मुक्त था जिनका मुझे ल्हासा में पालन करना आवश्यक होता था, और इससे मुझे बहुत स्वतन्त्रता महसूस होती थी। यद्यपि यहाँ मुझे अपने सफाईकर्मी मित्रों की कमी भी महसूस होती थी, परन्तु इसकी पूर्ति मुझ पर पड़े नए दायित्व भाव से हो जाती थी। दक्षिण की यात्रा का एक और प्रभाव मुझ पर यह पड़ा कि मुझे अपनी शिक्षा में और अधिक परिश्रम करने तथा जितना अधिक-से-अधिक मैं सीख सकूँ, उतना सीख लेने की इच्छा उत्पन्न हो गई। यह श्रेय मेरे देशवासियों के मुझ पर अटूट विश्वास को जाता है, कि मैं अधिक से अधिक योग्य व्यक्ति बनना चाहने लगा।

द्रोमो पहुँचने के बाद की एक विशेष घटना यह है कि श्रीलंका का एक भिक्षु मेरे लिए एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन अवशेष लेकर आया, जिसे एक भावपूर्ण समारोह में मैंने ग्रहण किया।

लूखांग्वा और लोबसांग ताशी को ल्हासा में छोड़ने के बाद अब काशाग, प्रमुख प्रतिहारी, लिंग रिन्पोचे (अब मेरे वरिष्ठ अध्यापक), और वरिष्ठ सेनशाप त्रिजांग रिन्पोचे, जिन्हें मेरा कनिष्ठ अध्यापक नियुक्त किया गया था, मेरा सबसे बड़ा भाई ताक्तसेर रिन्पोचे भी यहाँ पहुँच गया था। वह कुछ सप्ताह पूर्व भारत जाते हुए यहाँ आ गया था।

यहाँ आकर हमें पहली बुरी खबर यह प्राप्त हुई कि मेरे ल्हासा छोड़ने से पूर्व जितने प्रतिनिधि-मंडल विदेशों के लिए रवाना किए गए थे, उनमें से केवल एक चीन जाने वाला, ही अपने गन्तव्य तक पहुँच सका था। शेष सब प्रतिनिधि-मंडलों को वापस कर दिया गया था। यह जानकर हम हैरान रह गए। तिब्बत के हमेशा भारत तथा नेपाल के साथ गहरे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे थे। आखिरकार ये दोनों हमारे निकटतम पड़ोसी हैं। जहाँ तक ब्रिटेन का प्रश्न है, कर्नल यंग हस्बेंड के सुप्रसिद्ध तिब्बत अभियान के कारण यहाँ ब्रिटिश ट्रेड मिशन लगभग आधी शताब्दी से कार्यरत था। सन् 1947 में भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी पुराना अंग्रेज़ अधिकारी, ह्यू रिचर्डसन् काफी दिन तक इसे चलाता रहा। इसलिए अब यह मानना कठिन था कि ब्रिटिश शासन को तिब्बत पर चीन का अधिकार मान्य है। वे यह भूल गए लगते थे कि पूर्वकाल में, उदाहरण के लिए, जब यंग हस्बेंड ने तिब्बत सरकार के साथ सन्धि की थी, उन्होंने तिब्बत को सर्वप्रभुतासम्पन्न राष्ट्र मानकर ही कार्य किया था। सन् 1914 में भी उनकी मान्यता यही थी क्योंकि जब उन्होंने शिमला कन्वेंशन आयोजित किया था, तब तिब्बत तथा चीन दोनों को स्वतन्त्र रूप से ही निमन्त्रित किया गया था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश तथा तिब्बती दोनों की जनता के हमेशा अच्छे सम्बन्ध रहे थे। मेरे देश के स्त्री-पुरुषों की दृष्टि में अंग्रेज़ भद्र-स्वभाव न्यायी तथा मनोरंजनप्रिय व्यक्ति थे, जिन गुणों की उन्हें बहुत क़द्र थी।

जहाँ तक अमेरिका का प्रश्न है, सन् 1948 में वाशिंगटन ने हमारे व्यापारिक प्रतिनिधि-मंडल का स्वागत किया था, और उपराष्ट्रपति ने भी उससे भेंट की थी। यानी अब उन्होंने भी अपनी नीति बदल दी थी। यह सोचकर, कि इसका अर्थ क्या है, मुझे बहुत कष्ट हुआ। इसका अर्थ यह था कि कम्युनिस्ट चीन की सारी ताकत हमें अकेले ही झेलनी पड़ेगी।

कुछ ही सप्ताह में एक के अतिरिक्त सभी प्रतिनिधि-मंडलों के वापस आ जाने के बाद अगली घटना यह हुई कि चामडो के गवर्नर न्गाबोन्गबांग जिग्मे की एक बहुत लम्बी रिपोर्ट हमें प्राप्त हुई। इसके अनुसार चामडो के अधिकांश भाग पर अब चीनी सेना ने अधिकार कर लिया था; वहाँ के एक प्रमुख व्यापारी के द्वारा यह रिपोर्ट भेजी गई थी। उसने लोबसांग ताशी और लूखांग्वा को सुरक्षित ढंग से रिपोर्ट पहुँचा दी थी, जहाँ से वह मुझे भेजी गई। इसमें काफ़ी विस्तार से दुख-भरे शब्दों में चीनी धमकी को स्पष्ट किया गया था, और कहा गया था कि यदि शीघ्र ही उनके साथ

किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं कर लिया जाता, तो वे ल्हासा पर चढ़ाई कर देंगे। यह हुआ तो बड़ी संख्या में तिब्बतियों की जानें जाएँगी, और यह मैं किसी भी दशा में नहीं होने देना चाहता था।

न्गाबो का मत था कि बातचीत के सिवा कोई रास्ता नहीं है। यदि तिब्बत सरकार इसके लिए तैयार हो और यदि वह कुछ सहायता भी भेजे, तो वे स्वयं बीजिंग जाकर बातचीत आरम्भ करने को तैयार हैं। मैंने ल्हासा में लोबसांग ताशी और लूखांग्वा से सम्पर्क करके उनकी राय जाननी चाही। उन्होंने उत्तर दिया कि यह बातचीत ल्हासा में होनी चाहिए, लेकिन चूँकि स्थिति बहुत खराब थी, इसलिए वे बीजिंग जाने के लिए तैयार हो गए।

चूँकि उसने इस कार्य के लिए कोई हिचक नहीं दिखाई, इसलिए मैंने फैसला किया कि न्गावो, जिसे मैं एक दृढ़ निश्चयी प्रबंधक के रूप में जानता था, को चीन की राजधानी जाना चाहिए। इसलिए मैंने दो अधिकारी द्रोमो से और दो ल्हासा से उसके साथ जाने के लिए नियुक्त कर दिए। मुझे आशा थी कि वह चीनी शासन को यह स्पष्ट कर देगा कि तिब्बत को 'मुक्ति' की इच्छा नहीं है, वह अपने महान पड़ोसी के साथ स्वतन्त्र शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना चाहता है।

इस बीच वसन्त ऋतु आरम्भ हो गई और प्रकृति के रंग खिलने लगे। पहाड़ियाँ जंगली फूलों से भर गईं, घास का रंग पहले से ज़्यादा गहरा हरा हो गया और वायुमंडल में हर रोज़ नई-नई आश्चर्यजनक खुशबुएँ तैरने लगीं—कभी चमेली की, कभी मधुमालती की और कभी लेवेन्डर की। मठ के अपने कमरों में बैठा मैं नीचे बहती नदी के किनारे किसानों को अपनी भेड़ें, याक और ज़ोमो पशु चराते देखता रहता। मुझे यह देखकर ईर्ष्या होती कि लोग छोटे-छोटे दलों में करीब-करीब हर रोज़ वहाँ आकर आग जलाते हैं और उसपर कुछ पकाकर मज़े से खाते-पीते हैं। मैं यह सब देखकर इतना उत्साहित हुआ कि हिम्मत करके लिंग रिन्पोचे से छुट्टी माँग बैठा। शायद उन्हें भी यह सब बहुत अच्छा लग रहा होगा, क्योंकि उन्होंने तुरन्त मुझे छुट्टी दे दी। मैं कई दिन बेहद खुश होकर इस इलाक़े में घूमता रहा—मुझे याद नहीं कि इतनी खुशी मुझे और कभी हुई होगी। इस सैर-सपाटे में मैं एक दिन एक बॉन मठ देखने भी गया। लेकिन मुझे यह दुख हरदम सताता रहता था कि बुरा वक्त बहुत जल्द आने वाला है। अब कभी भी बीजिंग से न्गाबो का सन्देश आ सकता था। मुझे आधी उम्मीद यही थी कि खबर बुरी ही आएगी, लेकिन वह इतनी ज़्यादा बुरी होगी, इसकी मैंने कल्पना कभी नहीं की थी।

मेरे पास मठ में एक पुराना बुश रेडियो था जो छह वोल्ट की बैटरी पर चलता था। इस पर मैं हर शाम रेडियो बीजिंग के तिब्बती भाषा में प्रसारित कार्यक्रम सुनता था। कभी मेरे साथ सुनने वालों में कोई एक अधिकारी होता, लेकिन ज़्यादातर मैं अकेला ही सुनता था। ज़्यादातर प्रसारणों में 'महान पितृ भूमि' सम्बन्धी प्रचार होता

था, लेकिन मुझे यह कहते हिचक नहीं होती कि मैं जो भी सुनता, वह मुझे प्रभावित करता था। इनमें चीन की निरन्तर होने वाली औद्योगिक प्रगति और वहाँ नागरिकों की समानता की बातें बताई जाती थीं। यह मुझे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की प्रगति का सही योग प्रतीत होता था। लेकिन एक दिन शाम जब मैं अकेला बैठा कार्यक्रम सुन रहा था, एक बिलकुल भिन्न प्रकार का कार्यक्रम सुनाई दिया! एक कठोर चटकती हुई आवाज़ ने घोषणा की कि तिब्बत की शान्ति पूर्ण मुक्ति के लिए पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना की सरकार और तिब्बत की 'स्थानीय सरकार' के प्रतिनिधियों ने सत्रह सूत्रों के एक 'अनुबन्ध' पर हस्ताक्षर कर दिए हैं।

मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। इच्छा हुई कि दौड़कर बाहर जाऊँ और सबको भीतर बुलाकर यह समाचार बताऊँ, लेकिन पत्थर की तरह जड़ हुआ बैठा रहा। रेडियो का उद्घोषक बता रहा था कि 'पिछले सौ या अधिक वर्षों से' हमलावर साम्राज्यवादी शक्तियाँ तिब्बत में प्रवेश करके अनेक प्रकार की धोखाधड़ी और चिढ़ाने वाली कार्यवाहियाँ कर रही हैं। इससे आगे कहा गया था कि 'इन स्थितियों' में तिब्बत की राष्ट्रीयता तथा जनता गुलामी और कष्ट की गहराइयों में डूब गई है। ऐसी अविश्वसनीय तथा काल्पनिक बातों को सुनकर मेरे शरीर को जैसे बुखार ही चढ़ने लगा।

लेकिन इससे आगे इससे भी बुरी बातें कही जाने लगीं। 'अनुबन्ध' की पहली धारा में बताया गया कि तिब्बत के निवासी संगठित होकर आक्रामक शक्तियों को देश से निकाल बाहर करेंगे। तिब्बत की जनता मातृदेश के विशाल परिवार--पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना में मिलकर रहने लगेगी। क्या अर्थ था इसका? तिब्बत की भूमि पर पैर रखने वाली अन्तिम विदेशी सेना मंचू सेना थी जो यहाँ सन 1912 में आई थी। जहाँ तक उस समय मुझे जानकारी थी—जो अब पक्की हो चुकी है—उस समय तिब्बत में बहुत थोड़े यूरोपियन थे। और तिब्बत के 'अपने मातृ देश में लौट आने' का विचार तो एकदम बेशर्मी का नमूना था। तिब्बत चीन का कभी हिस्सा नहीं रहा था। सचाई यह है, जिसका मैं पहले भी उल्लेख कर चुका हूँ, कि प्राचीनकाल से चीन के अनेक बड़े-बड़े भागों पर तिब्बत का दावा रहा है। इस सबके अलावा दोनों देशों के लोग नृजाति और प्रजाति दोनों दृष्टियों से एक-दूसरे से बिल्कुल अलग है। हम दोनों न एक भाषा बोलते हैं और न तिब्बती भाषा की लिपि चीनी लिपि से ज़रा भी मिलती है। जैसा बाद में *इन्टरनेशनल कमीशन ऑफ जूरिस्ट्स* ने अपनी रिपोर्ट में कहा :

"सन् 1912 में चीनियों को अपने देश से निकालने के विषय में तिब्बत की स्थिति को तथ्यात्मक रूप से स्वतन्त्र माना जा सकता है...इसलिए यह निवेदन किया जाता है कि सन् 1911-12 की घटना तिब्बत को पूर्णतः प्रभुसत्तात्मक और तथ्य व कानून दोनों दृष्टियों से चीनी नियन्त्रण से पुनः स्वतन्त्र हुआ राज्य माना जाए।"

सबसे ज़्यादा चिन्ता की बात यह थी कि न्गाबो को मेरी ओर से किसी भी वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने का अधिकार नहीं दिया गया था। उसे केवल बातचीत करने का अधिकार प्राप्त था। मैंने राज्य की मुहर द्रोमो इसीलिए अपने ही पास रखी थी। इसका अर्थ यह था कि उस पर दबाद डाला गया था। यह पूरी कहानी कई महीने बाद मुझे पता चली। इस बीच हमारे पास रेडियो की घोषणा के अलावा—जिसे अनेक बार दोहराया गया—हमारे पास जानने का कोई साधन नहीं था। घोषणा के साथ कम्युनिज़्म के लाभों सम्बन्धी आत्म प्रशंसात्मक वक्तव्यों, चेयरमैन माओ की महानता, पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना के आश्चर्यों का डिंडिम बजाया जा रहा था और कहा जा रहा था कि अब तिब्बत की जनता भी दोनों देशों के भाग्य एक-दूसरे के साथ जुड़ जाने के कारण, इन सब सुख-सुविधाओं को प्राप्त कर सकेगी। यह सब बड़ी मूर्खतापूर्ण बातें थीं।

सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' की धाराएँ भयंकर थीं। धारा दो में घोषणा की गई थी कि तिब्बत की 'स्थानीय सरकार पीपुल्स लिबरेशन आर्मी को तिब्बत में प्रवेश करने में सहायता देगी जिससे वह राष्ट्रीय सुरक्षा को पुष्ट कर सके।' इसका अर्थ, मेरी समझ के अनुसार, यह हुआ कि हमारी सेनाएँ तुरन्त आत्मसमर्पण कर देंगी। आठवीं धारा में इसी बात को आगे बढ़ाकर कहा गया था कि तिब्बत की सेना चीनी सेना में सम्मिलित कर ली जाएगी—जैसे यह बात सम्भव हो। फिर धारा चौदह में हमें बताया गया था कि इसके बाद तिब्बत को विदेशी मामलों में उसके अधिकारों से वंचित कर दिया जाएगा। इन मुख्य महत्त्व की बातों के बीच की धाराओं में तिब्बत को विश्वास दिलाया गया था कि तिब्बत की धार्मिक स्वतन्त्रता कायम रहने दी जाएगी और स्वयं मेरी स्थिति तथा देश की राजनीतिक व्यवस्था की सुरक्षा की जाएगी। परन्तु इन सब घोषणाओं के बीच एक बात बिल्कुल स्पष्ट थी, कि इसके बाद बर्फ का देश तिब्बत पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना के आदेश पर ही सब काम करेगा।

जैसे-जैसे अपनी इस स्थिति की वास्तविकताएँ हमारे सामने उजागर होती गईं, बहुत से लोगों, विशेषकर ताक्तसेर रिन्पोचे ने, कलकत्ता से मुझे पत्र लिखकर यह आग्रह किया कि मुझे अविलंब तिब्बत छोड़कर भारत चले जाना चाहिए। उनका तर्क यह था कि चीनियों से युद्ध करने के लिए मित्रदेशों की सहायता लेना आवश्यक है। जब मैंने उन्हें याद दिलाया कि भारत, नेपाल, ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका भेजे गए हमारे प्रतिनिधि-मंडल इस उद्देश्य में नाकामयाब रहे हैं, तो उनका उत्तर था कि इन देशों ने हमारी स्थिति की गम्भीरता को महसूस नहीं किया है और उसे समझते ही वे हमारी सहायता को निश्चित रूप से तैयार हो जाएँगे। उन्होंने कहा कि अमेरिका तो कम्युनिस्ट विस्तारवाद के बहुत ज़्यादा खिलाफ़ है और वह इसी कारण कोरिया में उनसे युद्ध कर रहा है। मुझे उनका तर्क समझ में तो आता था, लेकिन मैं यह

भी सोचता था कि एक मोर्चे पर तो वे लड़ ही रहे हैं, अब हमारी सहायता करके वे एक दूसरा मोर्चा क्यों खोलना चाहेंगे।

कुछ दिन बाद हमें बीजिंग गए अपने प्रतिनिधि-मंडल से एक काफी लम्बा तार प्राप्त हुआ। इसमें वही सब बातें दोहराई गई थीं जिन्हें हम रेडियो पर पहले ही सुन चुके थे। हमें लगा कि न्गाबो को सच कहने से रोका जा रहा है। पिछले दिनों उस प्रतिनिधि-मंडल के कुछ सदस्यों ने अपने संस्मरण लिखे हैं जिनमें उन्होंने बताया है कि किस प्रकार उनके साथ 'अनुबन्ध' पर हस्ताक्षर करने के लिए ज़बरदस्ती की गई थी और तिब्बत सरकार की जो मुहर उन्होंने इस्तेमाल की थी, वह नकली थी। लेकिन न्गाबो के तार से मैं इस तथ्य की कल्पना ही कर सकता था। उससे यह अवश्य ज्ञात हुआ कि तिब्बत का नया गवर्नर-जनरल, जनरल चियांग चिन वू, भारत होकर शीघ्र ही द्रोमो पहुँचेगा और हमसे मिलेगा।

अब प्रतीक्षा करने के सिवा और कुछ नहीं किया जा सकता था। इस बीच गान्देन, द्रेपुंग और सेरा के तीन बड़े विश्वविद्यालयी मठों के अध्यक्ष मुझसे मिलने आए। उन्हें सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' के बारे में पता चल गया था और वे मुझसे अविलम्ब ल्हासा वापस चलने का आग्रह करने लगे। उन्होंने कहा कि इस मामले को लेकर तिब्बत की जनता बहुत चिन्तित है। वे लूखांग्वा और लोबसांग ताशी के भी सन्देश थे और वे भी यही चाहते थे।

कुछ दिन बाद मुझे ताक्तसेर रिन्पोचे का फिर पत्र मिला कि वह कलकत्ता-स्थित अमेरिकी वाणिज्य मिशन से सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो गया है और उन्होंने उसे अमेरिका जाने की अनुमति दे दी है। इसी के साथ उसने मुझे फिर भारत पहुँचने का आग्रह किया और बताया कि अमेरिकी अधिकारी तिब्बत के लिए बहुत चिन्तित हैं और तुरन्त सम्बन्ध बनाना चाहते हैं। उसका सुझाव था कि यदि मैं वहाँ पहुँच जाऊँ तो दोनों देशों के बीच सहायता का कोई समझौता अवश्य किया जा सकेगा। मेरे भाई ने पत्र का अन्त करते हुए फिर यही आग्रह किया था कि मैं जल्द भारत पहुँच जाऊँ। क्योंकि चीनी प्रतिनिधि-मंडल द्रोमो के मार्ग पर कलकत्ता पहुँच चुका है। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि यदि मैं तुरन्त नहीं चल पड़ता तो बहुत देर हो जाएगी।

लगभग इसी समय मुझे हैनरिख हैरर का भी पत्र प्राप्त हुआ जिसमें यही बात मुझसे कही गई थी। वे मेरे ल्हासा से निकलने के कुछ ही दिन पहले कलिम्पोंग के लिए रवाना हो गए थे। उन्होंने मुझे स्पष्ट रूप से यह सलाह दी थी कि मुझे भारत से शरण प्राप्त करके वहाँ चले जाना चाहिए और मेरे कुछ अधिकारियों ने भी इसका समर्थन किया था। लेकिन लिंग रिन्पोचे का यह निश्चित मत था कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए।

अब मेरे लिए दुविधा खड़ी हो गई। अगर मैं अपने भाई के पत्र को महत्त्व देता, तो, उसके अनुसार, मुझे विदेशों की सहायता प्राप्त होने की सम्भावना उत्पन्न

हो गई थी। लेकिन मेरी जनता के लिए इसका क्या अर्थ होगा? क्या मुझे चीनियों से मिले बिना ही चले जाना चाहिए? और यदि मैं यही करूँ तो क्या हमारे नए साथी पूरी तरह हमारे साथ खड़े होने को तैयार होंगे? इन सब बातों पर विचार करते हुए मेरे सामने दो सवाल खड़े हुए। पहला यह कि अमेरिका या किसी और के साथ सन्धि करने का निश्चित परिणाम युद्ध ही होगा—जिसका अर्थ है रक्तपात। दूसरा यह कि यद्यपि अमेरिका अत्यन्त शक्तिशाली देश है, लेकिन वह हज़ारों मील दूर है। इसके विपरीत चीन हमारा एकदम पड़ोसी है और यद्यपि वह भौतिक शक्ति में अमेरिका से बहुत कम है, उसकी जनसंख्या अपार है। इसलिए सैनिक युद्ध के द्वारा समस्या को हल करने में अनेक वर्ष लग सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, अमेरिका लोकतन्त्री देश था और मेरे लिए यह विश्वास कर सकना कठिन था कि वहाँ के लोग युद्ध में होने वाली मौतें स्वीकार करेंगे। यह कल्पना करना सरल था कि एक दिन आएगा जब तिब्बतवासी फिर स्वतन्त्र हो जाएँगे। तब भी परिणाम यही होगा, चीन अपनी मनमानी कर सकेगा, और इस बीच अनगिनत लोग, तिब्बती, चीनी और अमेरिकी, निरर्थक मृत्यु का शिकार होंगे। इसलिए मैंने यह निर्णय लिया कि वहाँ रुककर चीनी जनरल का इन्तज़ार करूँ। वह आखिरकार मनुष्य ही तो होगा!

16 जुलाई 1951 को चीनी प्रतिनिधि-मंडल द्रोमो पहुँच गया। एक सन्देशवाहक दौड़ता हुआ मठ आया और उसने सूचना दी कि जनरल पहुँचने ही वाला है। इस समाचार से मुझे उत्तेजना तथा चिन्ता दोनों ही हुईं। ये लोग देखने में कैसे लगते होंगे? मुझे आधा विश्वास था कि इनके सिर पर सींग होंगे। मैं छज्जे पर टेलिस्कोप लेकर खड़ा हो गया और शहर की दिशा में इमारतों को देखने लगा। मुझे याद है कि दिन अच्छा था और यद्यपि यह वर्षा ऋतु का मध्य था, ज़मीन पर जगह-जगह से, जहाँ सूरज की धूप पड़ रही थी, भाप के फुहारे निकल रहे थे। अचानक मुझे लोगों का आना दिखाई देने लगा। मेरे अधिकारियों का एक दल मठ की दिशा में चला आ रहा था। उनके साथ भूरे रंग के सूट पहने तीन आदमी थे। तिब्बतियों के सामने, जो अधिकारियों की लाल और सुनहरी सिल्क की पोशाकें पहने हुए थे, ये बहुत मामूली लग रहे थे।

हमारी भेंट बहुत औपचारिक और रूखी थी। जनरल चियांग चिन-वू ने पहले मुझसे पूछा कि क्या मैंने सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' के बारे में सुना है? मैंने बहुत संयम से 'हाँ' कहा। इस पर उसने मुझे उसकी एक प्रति दी, जिसके साथ दो और दस्तावेज़ थे, उसने मेरी तरफ हाथ बढ़ाया तो मैंने देखा कि उसके हाथ में सोने की रोलेक्स घड़ी बँधी है। इन सहायक दस्तावेज़ों में से एक तिब्बत की सेना के विषय में था। दूसरे में यह बताया गया था कि यदि मैंने निर्वासन में जाना स्वीकार किया तो क्या होगा। यह बताता था कि मुझे बहुत जल्द विश्वास हो जाएगा कि चीनी हम से वास्तविक

मित्रता के लिए ही आए हैं। तब मैं फिर अपने देश वापस आना चाहूँगा उस स्थिति में भी मेरा स्वागत किया जाएगा। इसलिए निर्वासन का कोई अर्थ नहीं होगा।

इसके बाद जनरल चियांग ने मुझसे प्रश्न किया कि मैं ल्हासा कब लौटना चाहता हूँ। 'बहुत जल्द', मैंने उत्तर दिया, जिसका कोई अर्थ नहीं था। और मैं यथासम्भव बेरुखी दिखाता रहा। उसके प्रश्न से स्पष्ट था कि वह चाहता था कि वह मुझे लेकर ल्हासा वापस जाये जिससे दोनों एक साथ शहर में प्रवेश करें, जिसका प्रतीकात्मक अर्थ भी होता। अन्त में, मेरे अधिकारी इससे बचने में सफल हो गए और मेरे लौटने के एक-दो दिन बाद ही वह ल्हासा के लिए चला।

इस प्रकार मेरी पहली प्रतिक्रिया लगभग वही थी जिसकी मैंने अपेक्षा की थी। अपने सब सन्देह और चिन्ता के बावजूद, हमारी भेंट में यह स्पष्ट हो गया कि यह आदमी, यद्यपि मेरा दुश्मन था, मेरे और दूसरों की तरह मनुष्य ही है। इस ज्ञान का मेरे ऊपर स्थायी प्रभाव पड़ा, और यह मेरे लिए एक सबक भी था।

जनरल चियांग से मिलने के बाद मैं प्रसन्न था कि ल्हासा लौट सकूँगा। मेरी वापसी की तैयारियाँ होने लगीं। मेरे साथ सब अधिकारी जाने थे, और महीने के अन्त में हम चल पड़े। इस समय गुप्त रहने की आवश्यकता नहीं थी इसलिए पिछली बार की तुलना में ज़्यादा शान-बान से मेरा काफ़िला चला। मार्ग में हर महत्त्वपूर्ण गाँव में मैं जनता के सामने निकलकर उन्हें दर्शन देता था कुछ प्रवचन भी करता। इससे मुझे उन्हें यह बताने का अवसर मिलता कि तिब्बत में क्या हो रहा है, हम पर किस तरह विदेशियों ने हमला कर दिया है, परन्तु किस तरह वे स्वयं को हमारे मित्र बता रहे हैं। इसके साथ मैं कोई ऐसा धार्मिक ग्रन्थ भी पढ़कर सुनाता, जिसका मन्तव्य वर्तमान परिस्थिति से सम्बद्ध हो, तथा उसकी व्याख्या भी करता। आज तक मैं इसी नियम का पालन करता आ रहा हूँ। इस प्रकार लोगों को धर्म के वास्तविक महत्त्व का ज्ञान कराया जा सकता है, कि परिस्थिति कोई भी क्यों न हो, धर्म में हमें देने के लिए बहुत कुछ है। लेकिन उस समय की अपेक्षा अब मैं इस कार्य में ज़्यादा कुशल हो गया हूँ। तब मुझमें आत्मविश्वास की कमी थी, यद्यपि हर बार मैं पहले की अपेक्षा ज़्यादा अच्छा बोलता था। और, दूसरे उपदेशकों की तरह मैंने भी जाना कि लोगों को सीखने के लिए उपदेश से बढ़कर और कुछ नहीं है।

मुझे खुशी हुई कि इस यात्रा में मेरे लिए करने को बहुत कुछ था। यह न होता तो मैं सारा समय दुखी बना रहता। मेरे परिवार के सभी सदस्य, पिता के अलावा, जिनका, जब मैं बारह वर्ष का था तभी देहान्त हो गया था, तिब्बत से बाहर थे, और लोबसांग सामतेन के अलावा, जो मेरे साथ यात्रा कर रहा था, परिवार से असम्बद्ध मेरा एक ही साथी और था—ताथाग रिन्पोचे। वे मुझे कुछ महत्त्वपूर्ण धार्मिक शिक्षाएँ देने द्रोमो आए थे और अब अपने मठ वापस जा रहे थे, जो ल्हासा से एकदम लगा था। पिछली बार सर्दियों में जब मैंने उन्हें देखा था, उस समय से अब वे ज़्यादा

बूढ़े लगने लगे थे; अब उनकी उम्र सत्तर की लगती थी। मैं उनके साथ न केवल इसलिए बहुत प्रसन्नता महसूस कर रहा था कि वे बहुत दयालु स्वभाव के थे, बल्कि इसलिए भी कि आध्यात्मिक दृष्टि से वे बहुत उन्नत व्यक्तित्व थे। उन्हें मैं अपना सर्वोत्तम गुरु मानता था। उन्होंने मुझे अनेक परम्पराओं में दीक्षित किया था और अनेक रहस्यमय विद्याएँ सिखाई थीं, जिनका ज्ञान उन्हें अपने समय के सर्वोत्तम व्यक्तियों से प्राप्त हुआ था।

द्रोमो से हम धीरे-धीरे ग्यान्त्से पहुँचे, जहाँ पिछली दफ़ा की तरह भारतीय सेना ने मुझे सलामी दी। लेकिन आगे बढ़ते जाने की जगह यहाँ मैं कुछ दिन रुका। फिर हम सामदिंग मठ की दिशा में चले, जो एक सबसे प्रसिद्ध बोधिसत्व, दोर्जे फ़ाग्मो का घर है। उस समय यह तिब्बत के सबसे सुन्दर मठों में था। वहाँ तक मार्ग की भूमि बड़ी आकर्षक थी : गहरी नीली झीलों के किनारे हरे-भरे मैदान थे जहाँ हज़ारों भेड़ें घास चर रही थीं। इतने सुन्दर दृश्य मैंने आज तक कभी नहीं देखे थे, जो गर्मियों के खुले निर्मल प्रकाश में चित्रों की तरह झिलमिला रहे थे। कभी-कभी रंग-बिरंगे हिरनों के झुंड भी दिखाई दे जाते, जिनकी उन दिनों सम्पूर्ण तिब्बत में भरमार रहती थी। वे हमें चुप खड़े देखते रहते, मानो डर रहे हों, फिर एकदम अपने लम्बे पैरों से भाग निकलते। यह दृश्य मुझे बहुत मनोहर लगता था।

मुझे इस दफ़ा घोड़े पर चढ़कर चलने में मज़ा आ रहा था, हालाँकि सामान्यतः घोड़े से मुझे डर लगता था। पता नहीं, ऐसा क्यों है क्योंकि मैं, सूँड़ी के अलावा, प्रायः सभी जीवों से व्यवहार करने में कुशल हूँ। मैं मकड़ियों और बड़े-बड़े साँपों को बिना झिझके उठा सकता हूँ, और किसी भी प्रकार के साँप से मुझे चिढ़ नहीं है, लेकिन घोड़े मुझे प्रिय नहीं हैं और सूँड़ियों को देखकर तो मैं एकदम सिकुड़ जाता हूँ! परन्तु इस बार इन खुले-खिले मैदानों में घोड़े पर यात्रा करना मुझे बहुत अच्छा लग रहा था, और मैं उसे तेज़ी से चलने के लिए बार-बार ऐंड़ें लगाता चला जाता था। दरअसल यह एक खच्चर था, जिसे 'भूरे पहिए' कहा जाता था और जो पहले रेटिंग रिन्पोचे के पास था। इसकी गति बहुत अच्छी थी और शक्ति भी बहुत थी, मैंने इसे अच्छी तरह साध लिया था। लेकिन घोड़ा अधिकारी को यह पसन्द नहीं था, उसकी दृष्टि में यह दलाई लामा के उपयुक्त सवारी नहीं थी।

सामदिंग मठ नान्गार्त्से कस्बे से ज़्यादा दूर नहीं था; यह कस्बा याम द्रोक झील के पास था, जो तिब्बत में जल का एक बहुत विशाल तथा आकर्षक स्रोत है। इस झील में जल के प्रवेश और निकास किसी का भी कोई मार्ग नहीं है, और चारों तरफ़ से बंद होने के कारण इसका नीला जल इतना चमकता है कि देखते ही बनता है। मैंने पिछले दिनों सुना कि चीनी इसके जल को निकालकर यहाँ एक जलविद्युत योजना बनाने का विचार कर रहे हैं, हालाँकि मैं यह नहीं सोच पाता कि इस घटना का दूरगामी प्रभाव क्या होगा।

उन दिनों सामदिंग फलता-फूलता मठ था। एक रोचक बात यह है कि परम्परा से इसकी प्रमुख एक स्त्री थी। वैसे तिब्बत के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि यहाँ स्त्रियों के साथ कोई विशेष भेदभाव नहीं बरता जाता। उदाहरण देना हो, तो जब मैं लड़का था, ल्हासा के समीप एक आश्रम में एक स्त्री उपदेशिका थी जो सारे तिब्बत में बहुत प्रसिद्ध थी। वह यद्यपि 'तुल्कू' नहीं थी, परन्तु आज तक उसका बड़ा सम्मान है। भिक्षुणियों के लिए आश्रम भी अनेक थे परन्तु यह मठ अकेला ऐसा था जिसकी प्रमुख एक भिक्षुणी थी।

इसकी विशेष बात यह है कि स्त्री देवी वज्रवराही—अर्थात् हीरक—सम कठोर शूकरी—के नाम पर इसका नामकरण, 'दोर्जे फ़ाग्मो' किया गया है। पौराणिक मान्यता के अनुसार वज्रवराही का अवतार स्त्री के रूप में हुआ था जिसका मुँह सूअर का था। एक कहानी यह है कि अट्ठारहवीं शताब्दी में जब मंगोलियाई हमलावर नांगर्त्से आए तब उनके नेता ने माँग की कि मठाध्यक्षा उसके सामने उपस्थित हो। इसका उत्तर 'ना' में प्राप्त होने पर वह क्रोधित हो उठा और एकदम मठ में जा पहुँचा। अपने सैनिकों को लेकर वह भीतर घुस गया तो उसने देखा कि भिक्षुओं की सभा में अध्यक्ष के स्थान पर एक बड़ा, जंगली सुअर विराजमान है।

जब मैं सामदिंग पहुँचा, तब यहाँ की अध्यक्षा मेरी ही आयु की एक लड़की थी। वह मेरे प्रति अपना सम्मान प्रकट करने आई। मैंने देखा, वह बहुत छोटी और शर्मीली है और उसके बालों में लम्बी पट्टियाँ पड़ी हैं। बाद में वह भारत आ गई, और कुछ समय बाद ल्हासा वापस लौट गई, जिसके कारण मुझे स्पष्ट नहीं है, जहाँ वर्षों तक नए शासकों ने उसका शोषण किया। दुख की बात यह है कि पचास के दशक के अन्तिम वर्षों से जिस प्रकार तिब्बत के हज़ारों मठों को नष्ट किया गया, उसी प्रकार इसको भी नष्ट कर दिया गया, और इसकी प्राचीन परम्परा अब बिलकुल समाप्त हो गई है।

सामदिंग में दो-तीन दिन ठहरकर मैं ल्हासा यात्रा के अन्तिम चरण के लिए निकला। नोरबुलिंग्का के लिए रवाना होने से पहले मैं ताथाग रिन्पोचे के साथ उनके मठ में गया, जो शहर से कुछ घंटे की यात्रा के बाद आता है। उन्होंने मेरे निवास के लिए अपने कमरे खाली कर दिए और मुख्य भवन के पीछे घास के मैदान में चले गए जहाँ भिक्षुओं के वाद-विवाद होते थे। अगले कुछ दिनों में हमारी अनेक औपचारिक मुलाकातें हुईं। जब हम अलग हुए तो मुझे बहुत दुख हुआ। मेरे मन में उनके लिए गहरा आदर और सम्मान का भाव था। मुझे यह सोचकर कष्ट होता था कि उनके शासन-काल में उनकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुँची। अब भी मैं अक्सर आश्चर्य करता हूँ कि यदि वे आजीवन लामा बने रहते और राजनीति में प्रवेश न करते तो कितना अच्छा होता। सच बात यह है कि उन्हें न शासन का ज्ञान था और न प्रबन्धन का अनुभव। उनसे यह आशा करना ही गलत था कि जिस विषय

का उन्हें कोई ज्ञान नहीं है, उसमें वे सफल हो सकेंगे। लेकिन यह तिब्बत था और यहाँ यह मान लिया गया कि चूँकि आध्यात्मिक क्षेत्र में उनकी बहुत प्रतिष्ठा है, इसलिए देश के सर्वोच्च लौकिक पद के लिए भी वे उपयुक्त व्यक्ति हैं।

ताथाग रिन्पोचे से यह मेरी आखिरी भेंट थी। इसमें उन्होंने मुझसे कहा कि उन्होंने मुझ पर बचपन में जो प्रतिबन्ध लगाए थे, उनके बारे में मैं बुरा न महसूस करूँ। मैं यह देखकर द्रवित हो उठा कि इतना वृद्ध और सम्मानित शिक्षक अपने शिष्य से ये शब्द कहे। मैं उनका मन जानता था।

मैं नौ महीने बाहर रहने के बाद अगस्त में ल्हासा वापस आया। मेरे सम्मान में एक बड़ा आयोजन किया गया। लगता था कि एक-एक आदमी मुझे देखने के लिए बाहर निकल आया है और अपनी प्रसन्नता मेरे सामने व्यक्त करना चाहता है। अपने प्रति उनके ये भाव देखकर मुझे हार्दिक आनन्द हुआ और घर लौटने की भी बहुत खुशी हुई। मैं यह भी अच्छी तरह जान रहा था कि पिछली सर्दियों से देश में कितना परिवर्तन आ गया है और कुछ भी पहले जैसा नहीं रहा है। लगता था कि मेरे लोग भी स्थिति का यह परिवर्तन समझ रहे हैं, इसलिए यद्यपि उनकी प्रसन्नता अपार थी, लेकिन इस कारण उसमें एक तीखापन भी आ गया था। जिन दिनों मैं यहाँ से बाहर था, राजधानी में खबरें आने लगी थीं कि आमदो और खाम में तिब्बतियों पर अत्याचार किये जा रहे हैं। इस कारण लोग अपने भविष्य के विषय में बहुत चिन्तित थे और मुझे अपने सामने देखकर यह सोच रहे थे कि अब सब कुछ ठीक हो जाएगा।

व्यक्तिगत स्तर पर मैं यह सुनकर बहुत उदास हो गया कि मेरे प्रिय सफाई कर्मी नोरबू थोंडुप का कुछ महीने पहले निधन हो गया—मेरे साथ खेलने में यह सबसे ज़्यादा निपुण था। मेरा पूरा बचपन इसके साथ खेलते-कूदते और हँसी-मज़ाक करते बीता था। जब मैं बहुत छोटा था, तब यह अजीब-अजीब चेहरे बनाकर मुझे डराता और हँसाता था, और जब मैं बड़ा हुआ तो मेरे दौड़-भाग के कामों में मेरा साथी बना। हम अपनी बनावटी लड़ाइयों में मुक्केबाज़ी भी करने लगते थे और मुझे याद है कि अक्सर मैं उसके प्रति खतरनाक भी हो जाता था, और जब कभी वह इन द्वन्द्व युद्धों में मुझे अपनी बाँहों में कसकर जकड़ लेता था, तब मैं अपनी खेल की तलवारों से उसका खून भी निकाल देता था। इस पर वह भी मुझपर पलट वार करता जाता और इसी के साथ हँसता-मुस्कराता रहता था। अब उसके लिए मैं कुछ कर नहीं सकता था, हालाँकि उसके बच्चों, एक लड़का और एक लड़की के लिए मैंने ज़रूर कुछ किया। बौद्ध होने के नाते मैं जानता था कि दुख करने का कोई लाभ नहीं है। लेकिन इस घटना का मेरे मन पर प्रभाव यह पड़ा कि नोरबू थोंडुप के देहान्त से मेरे बचपन की प्रतीकात्मक समाप्ति हो गई। अब मैं उसमें वापस नहीं लौट सकूँगा। कुछ दिन बाद मुझे चीनी प्रतिनिधि-मंडल से फिर भेंट करनी थी। मैं अपनी जनता

के लिए जो भी कुछ कर सकता हूँ, मुझे करना चाहिए, भले ही वह बहुत कम हो, क्योंकि जीवन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य शान्तिपूर्वक धर्म की साधना करना है। अब मेरी आयु सोलह वर्ष थी।

परम्परा के अनुसार मैंने जनरल चियांग चिन-वू से अपने अंगरक्षक के कार्यालय में भेंट की। इस कारण वह बहुत क्रोधित हो उठा और उसने मुझसे प्रश्न किया कि इससे अधिक औपचारिक स्थान पर भेंट का आयोजन क्यों नहीं किया जा रहा। उसने कहा कि वह विदेशी नहीं है, इसलिए यह व्यवहार उचित नहीं है। लेकिन वह भूल गया कि तिब्बती भाषा तो वह जानता ही नहीं। शुरू में तो मैं उसकी गोल-गोल घूमती आँखें, और लाल पड़ गए गाल देखकर चकित रह गया, और जिस तरह वह कभी चीखकर और कभी हकलाकर सामने पड़ी मेज़ पर मुक्के मार-मार कर बोलता गया, उससे कुछ डर भी गया। कुछ समय बाद मुझे पता चला कि इस तरह आपा खोकर वह अक्सर बोलने लगता है। इसलिए, मैंने अपने से कहा कि ऊपर से इसका स्वभाव कुछ भी हो, भीतर से यह अच्छा आदमी हो सकता है—जो बाद में वह साबित भी हुआ, साथ में स्पष्टवादी भी।

जहाँ तक उसके क्रोध का प्रश्न है, शीघ्र ही मुझे पता चल गया कि चीनियों की यह आम आदत है। मेरा ख्याल है कि उनके इस स्वभाव के कारण कुछ लोग, विशेषकर यूरोपीय और अमेरिकी, उनके प्रति बड़े आदर का व्यवहार करते हैं; जबकि वे स्वयं अपने व्यवहार में बहुत सधे हुए और नियन्त्रित होते हैं। सौभाग्य से, अपने धार्मिक प्रशिक्षण के कारण, मैं उसके व्यवहार को सह तथा समझ सका—मैंने पाया कि इस तरह क्रोध की अभिव्यक्ति कई दृष्टियों से अच्छी भी है। यह बात सदा सही न भी हो परन्तु नम्रता का दिखावा करने और शिकायत को छिपाने से तो यह अच्छी ही है।

पहली बात तो यह कि चियांग के साथ मेरा मिलना अक्सर नहीं होता था। चीनी कब्ज़े के पहले और दूसरे साल में महीने में शायद एक बार उससे मिलना होता था। लूखांग्वा, लोबसांग ताशी और काशाग के सदस्य ही उससे मिलते थे और किसी को भी उसका व्यवहार पसन्द नहीं था। वे मुझे बताते रहते थे कि वह कितना बददिमाग और आक्रामक किस्म का व्यक्ति है, और हमारी भिन्न जीवन शैली के प्रति उसे कोई सहानुभूति नहीं है। मैं भी जब कभी उससे मिलता, अपनी आँखों से खुद देखता कि वह और उसके देशवासी किस प्रकार हर समय तिब्बतियों का अपमान करते हैं।

द्रोमो से ल्हासा लौटने के बाद चीनियों के साथ व्यवहार के पहले पाँच-छह हफ़्तों को मैं हनीमून के रूप में देखता हूँ। 26 अक्टूबर 1951 को यह एकाएक खत्म हो गया और चीनी 18वीं रूट आर्मी के तीन हज़ार सैनिक ल्हासा में घुस आए। जिस चीनी डिवीज़न ने पिछले वर्ष चामदो में हमारी सेना को हराया था, ये भी उसी

के सदस्य थे। इनके साथ दो जनरल, तान कुआन-सेन और चियांग कुओ-हा आये, और जब ये मुझसे मिलने आए तब इनके साथ राष्ट्रीय पोशाक में फ़र का टोप लगाए एक तिब्बती भी आया। जब ये कमरे में घुसे तब इस आदमी ने तीन बार मेरे सामने वन्दना की। मुझे इससे आश्चर्य हुआ क्योंकि मेरी दृष्टि में यह चीनी-प्रतिनिधि-मंडल का अंग था। बाद में पता चला कि वह इनका दुभाषिया था और कम्युनिस्टों का पक्का समर्थक था। बाद में जब मैंने उससे पूछा कि अपने साथियों की भाँति यह माओ सूट क्यों नहीं पहनकर आया, तो उसने बड़ी सरलता से उत्तर दिया कि मुझे यह समझने की गलती नहीं करनी चाहिए कि क्रान्ति का अर्थ वेशभूषा की क्रान्ति है, यह विचारों की क्रान्ति है।

लगभग इन्हीं दिनों मेरा भाई ग्यालो थोंडुप भी ल्हासा आ गया। वह ज़्यादा दिन नहीं ठहरा, लेकिन जब तक रहा, चीनी अधिकारियों से वह कई बार मिला। इसके बाद उसने घोषणा की कि वह दक्षिण में, जहाँ हमारा परिवार उस ज़मीन पर रह रहा है जो उसे मेरे आरोहण के समय शासन द्वारा प्रदान की गई थी, रहकर उसकी देखभाल करेगा। दरअसल यह एक बहाना ही था, क्योंकि शीघ्र मुझे पता चला कि वह वहाँ से सीमा पार करके असम में नेफा (नार्थ-इस्टर्न फ्रंटियर एरिया) चला गया था; जहाँ से वह विदेशी समर्थन और सहायता जुटाने का काम करना चाहता था। अपनी यह योजना उसने मुझे इसलिए नहीं बताई थी क्योंकि उसे डर था, कि अल्पायु होने के कारण, मैं किसी समय अनजाने में यह बात दूसरों से न कह दूँ।

कुछ ही दिनों में चीनी सेना के कई और दस्ते ल्हासा आ गए। उनके आगमन की मुझे अच्छी तरह याद है। अपनी ऊँचाइयों के कारण तिब्बत में आवाज़ें बहुत-बहुत दूर तक सुनाई देती हैं, इसलिए सेनाओं के ल्हासा में प्रवेश के काफ़ी पहले से पोटाला के अपने कमरे में सैनिक वाद्यों और सिपाहियों के जूतों की धीमी-धीमी आवाज़ें मुझे निरन्तर सुनाई देती रहती थीं। उनके शहर की सीमा के बाहर पहुँचते ही मैं टेलिस्कोप लेकर छत पर चढ़ गया और साँप की तरह धूल के बादल उड़ाती चल रही, उनकी लम्बी कतारों को देखता रहा। यहाँ पहुँचकर उन्होंने लाल रंग के झंडे और पोस्टर निकाले जिनपर चेयरमैन माओ और उनके सहयोगी चू तेह के चित्र बने हुए थे। इनके साथ ज़बरदस्त शोर मचाती तुरहियाँ और बैंड बाजे थे। दृश्य बड़ा प्रभावशाली था और सैनिक निश्चित रूप से दानवी लग रहे थे।

कुछ समय बाद जब मैं लाल झंडों के इस दृश्य से उत्पन्न परेशानी से मुक्त हुआ—प्रकृति में लाल रंग भय और खतरे का ही प्रतीक है—तो मैंने देखा कि चीनी सैनिकों की हालत वास्तव में बहुत खस्ता थी, उनकी वर्दियाँ गूदड़ जैसी और चेहरों पर भुखमरी के निशान थे। दरअसल उनका यह नक्शा और उसके ऊपर तिब्बत के मैदानों की ज़बरदस्त धूल से भरे उनके मुँह, इन सबके कारण वे बहुत डरावने दिख रहे थे।

सन् 1951-52 की सर्दियों भर मैं सदा की भाँति, लेकिन ज़्यादा परिश्रमपूर्वक, अपनी पढ़ाई करता रहा। इसी अवधि में मैंने 'लामरिम' ध्यान भी आरम्भ किया। एक प्राचीन ग्रन्थ के अनुसार, ध्यान की इस विधि में मन के क्रमिक अभ्यास द्वारा प्रबोध की स्थिति को प्राप्त किया जाता है। मैंने आठ वर्ष की आयु से, भिक्षु जीवन की शिक्षा के अन्तर्गत, इस प्रकार की तान्त्रिक विधियों का अभ्यास आरम्भ कर दिया था। इसमें धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन के अलावा विशेषज्ञों के द्वारा इन विधियों का ज़बानी शिक्षण प्रदान किया जाता था। जैसे-जैसे महीने बीतते गए, इन अभ्यासों द्वारा मेरी आध्यात्मिक उन्नति भी, बहुत थोड़ी ही सही, आरम्भ हो गई।

लगभग इन्हीं दिनों अपने वार्षिक एकान्तवास के समय मुझे ताथाग रिन्पोचे के देहान्त का समाचार मिला। मैं उनके क्रिया-कर्म में सम्मिलित होना चाहता था लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका, इसलिए मैंने उनके लिए विशेष प्रार्थनाएँ कीं।

इस समय मेरा दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि अपने प्रधानमंत्रियों तथा काशाग को उनके काम-धाम में प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करूँ। मैंने उन्हें अस्थायित्व के बौद्ध विचार का स्मरण कराया और कहा कि यह स्थिति भी हमेशा नहीं चलेगी, भले ही हमारे ये पूरे जीवन इसमें गुज़र जाएँ। लेकिन व्यक्तिगत रूप से मैं घटनाओं का जायज़ा लेता रहा और मेरी चिन्ताएँ बढ़ती रहीं। तभी सूचना मिली कि पैंचेन लामा शीघ्र ही ल्हासा आ रहे हैं और उनकी प्रतीक्षा की जाने लगी।

इस बीच, तीस हज़ार चीनी सैनिकों की आखिरी खेप आने के बाद खाद्याभाव की समस्या महसूस की जाने लगी थी। कुछ ही सप्ताह में ल्हासा की जनसंख्या दुगनी हो गई थी इसलिए हमारे साधन जवाब देने लगे थे। पहले तो चीनियों ने सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' की धाराओं का कमोबेश पालन किया जिनमें कहा गया था कि 'मुक्ति सेना सब प्रकार की खरीद-फरोख्त में सही आचरण करेगी और जनता से एक सुई या धागे का टुकड़ा तक बेईमानी से नहीं वसूल करेगी।' सरकार उन्हें जो गल्ला देती, उसका वे पैसा देते और जिनके घरों में उनके अधिकारी रहते, उसका वे किराया चुकाते थे।

लेकिन जल्द ही पैसा देकर काम कराने का यह नियम समाप्त हो गया और चीनियों ने अधिकार के नाते भोजन और निवास माँगना आरम्भ कर दिया। इससे संकट पैदा होने लगा। यह ऐसी बात थी जिसका जनता ने कभी अनुभव नहीं किया था और वे समझ नहीं पा रहे थे कि एक दिन में चीज़ों के दाम दुगने क्यों हो जाते हैं। उनका धीरज समाप्त हो गया और आक्रामकों के प्रति उनकी जो घृणा अब तक छुपी हुई थी, वह अब व्यक्त होने लगी। अशुभ को दूर भगाने की प्राचीन परम्परा के अनुसार जब कभी वे चीनी सैनिकों को देखते, तब तालियाँ बजाते और थूकते। बच्चे उन पर पत्थर फेंकने लगे, और भिक्षु भी जब कभी उन्हें देखते तो अपने वस्त्रों की रस्सियाँ सी बनाकर उनपर मारते।

इसी के साथ उनके विरोधी गीत रचकर उन्हें गाने लगे और जनरल चियांग चिन वू की सोने की घड़ी का भी मज़ाक उड़ाया जाने लगा। जब लोगों को पता चला कि अनेक चीनी अफसर अपने मामूली दिखने वाले कपड़ों के नीचे क़ीमती फ़र पहनते हैं तब उनकी नफ़रत का ठिकाना न रहा। इससे भी चीनियों का गुस्सा भड़कने लगा, क्योंकि, मेरे विचार में वे यह तो समझते थे कि उनका मज़ाक उड़ाया जा रहा है लेकिन भाषा न जानने के कारण वे यह नहीं समझ पाते थे कि कहा क्या जा रहा है। इससे उनके आत्मसम्मान को चोट पहुँचती थी। चीनी सभ्यता में शर्मिंदा होना बहुत बुरा समझा जाता है (इसे अंग्रेजी में 'लूज़िंग फ़ेस' कहते हैं) और उनकी दृष्टि में ये बातें उसी के समान थीं। इसकी इति जनरल चियांग के साथ एक बड़ी मनोरंजक घटना में हुई। वे एक दिन इसी उद्देश्य से मुझसे मिलने आए और माँग करने लगे कि गानों या पोस्टरों से किसी भी प्रकार चीनियों की आलोचना पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए—क्योंकि ये कार्यवाहियाँ 'प्रतिक्रियावादी' है।

फिर भी, चीनियों की आलोचना के विरुद्ध सभी प्रकार की रोकथाम के बावजूद, सड़कों पर उनकी उपस्थिति के विरुद्ध पोस्टर लगाए जाते रहे। उनके विरुद्ध बाकायदा एक आन्दोलन पनपने लगा था। अन्त में एक छहसूत्री माँगपत्र तैयार किया गया और उसे सीधे जनरल चियांग के पास भेजकर उनसे माँग की गई कि शहर से सेनाओं को हटा लिया जाए। इससे उसका गुस्सा भड़क उठा। उसने कहा कि यह 'साम्राज्यवादियों' की कार्यवाही है और इसके लिए उसने दोनों प्रधानमंत्रियो को षड्यन्त्र रचने का दोषी ठहराया। तनाव बढ़ने लगा। उसने सोचा कि इन दोनों के ऊपर मुझसे बात करके वह समस्या को सुलझा सकता है, इसलिए उसने सीधे मुझसे सम्पर्क किया। पहले तो मैंने प्रधानमंत्रियों की उपस्थिति के बिना उनसे मिलने से इन्कार किया, लेकिन एक बार जब लोबसांग ताशी ने कुछ ऐसा कह दिया जो चियांग को बहुत बुरा लगा, तो चियांग उसकी तरफ इस तरह बढ़ा जैसे उसपर आक्रमण करेगा। इस पर मैं चिल्लाता हुआ दोनों की तरफ़ दौड़ा और उनसे एकदम रुक जाने को कहा। इस घटना से मैं आंतकित था और समझ नहीं पा रहा था कि दो वयस्क व्यक्ति इस प्रकार का व्यवहार कैसे कर सकते हैं। इसके बाद मैं दोनों से अलग-अलग भेंट करने को तैयार हो गया।

चीनी नेताओं और मेरे दो प्रधानमंत्रियों के बीच स्थिति बिगड़ती ही चली गई क्योंकि चीन से एक-के-बाद-एक नए-नए अधिकारी और कर्मचारी ल्हासा आना शुरू हो गए। ये लोग, सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' के अनुसार तिब्बत सरकार को अपने काम-काज में स्वतन्त्रता देने के स्थान पर उसमें लगातार दखल देने लगे। जनरल चियांग ने अपने अधिकारियों और काशाग के बीच बातचीत के बाद बैठकें बुलानी शुरू कर दीं जिनका मुख्य उद्देश्य इन अधिकारियों को रहने के लिए मकान और सिपाहियों तथा हज़ारों ऊँटों और भारवाही पशुओं के लिए सब प्रकार की व्यवस्थाएँ करना

था। लोबसांग ताशी और लूखांग्वा उन्हें यह समझाने में सफल नहीं हो रहे थे कि उनकी ये माँगें न केवल ग़लत हैं बल्कि सम्भव भी नहीं हैं।

इसके बाद जब जनरल चियांग ने उनसे दो हज़ार टन ग़ल्ले की दूसरी किश्त की माँग की, तो उन्हें उसे यह समझाना पड़ा कि इतना अनाज उनके पास है ही नहीं। खुद शहर के तिब्बतियों के लिए अनाज की कमी महसूस होने लगी थी और भंडारों में सिर्फ दो महीने के लायक अन्न बाकी बचा था। उन्होंने कहा कि ल्हासा में इतनी बड़ी संख्या में सेनाएँ रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। अगर उन्हें देश को हराना है तो सेना को सीमाओं पर भेज दिया जाना चाहिए; शहर में कुछ अफसर ही इन्तज़ाम के लिए काफी हैं जिनकी देखभाल के लिए सिपाहियों का एक दस्ता रखा जा सकता है। उन्होंने मुझे बताया कि जनरल ने शान्तिपूर्वक सब बातें सुनीं और उत्तर भी नम्रतापूर्वक दिया परन्तु किया कुछ भी नहीं।

लेकिन यह सुझाव सुनने के बाद जनरल चियांग ने दोनों प्रधानमंत्रियों के साथ दुर्व्यवहार करना शुरू कर दिया। सबसे पहले उसने लोबसांग ताशी पर अपना गुस्सा निकाला, जो लूखांग्वा से बड़ा था और कुछ चीनी भाषा भी जानता था। इस कारण उसे परेशानी होती थी और उसने उसे अकल्पनीय अपराधों का दोषी ठहराना शुरू किया, साथ ही लूखांग्वा की प्रशंसा की, जिसे वह अपना साथी बनाना चाहता था।

बाद में लूखांग्वा, अपनी कम उम्र के बावजूद, अधिक दृढ़चरित्र प्रमाणित हुआ; वह जनरल से कभी अपनी वास्तविक भावनाएँ नहीं छिपाता था। व्यक्तिगत रूप से भी वह उससे ज़बरदस्त नफरत करता था। एक बार, किसी ने मुझे बताया कि, चियांग ने उससे पूछा कि वह कितनी चाय पीता है। लूखांग्वा ने उत्तर दिया; 'यह चाय के स्वाद पर निर्भर है।' यह सुनकर मुझे हँसी आई लेकिन मैंने महसूस किया कि दोनों के बीच रिश्ता खराब है।

इस नाटक का चरम बिन्दु उस बैठक में सामने आया जब कुछ समय बाद चियांग ने दोनों प्रधानमंत्रियों और काशाग की बैठक अपने सब अफसरों के साथ आयोजित की। इसे शुरू करते ही उसने कहा कि यह बैठक तिब्बत की सेना को चीनी मुक्ति सेना में मिलाने के लिए बुलाई है। लूखांग्वा को यह बर्दाश्त नहीं हुआ। उसने छूटते ही कहा कि यह स्वीकार्य नहीं है, भले ही यह सत्रहसूत्री 'अनबुन्ध' का भाग हो। उसकी शर्तों को चीनी इतनी बार तोड़ चुके हैं कि अब उस दस्तावेज़ का कोई महत्त्व नहीं रहा है। उसने कहा कि यह सोचा भी नहीं जा सकता कि तिब्बत की सेना चीनी सेना की अधीनता स्वीकार करेगी।

यह सुनकर चियांग ने कहा, "इस स्थिति में हम तिब्बत का झंडा उतारकर उसकी जगह चीनी झंडा लगा देंगे।" लूखांग्वा ने जबाव दिया, "उसे उतार कर जला दिया जायेगा। और उससे आपका अपमान होगा।" उसने यह कहकर अपनी बात पूरी की कि चीनियों ने तिब्बत की अस्मिता पर चोट की है, इसलिए उनके लिए

यह सोचना सही नहीं है कि उनके साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे। उसने कहा, "आपने एक आदमी का सिर फोड़ दिया है और अभी तक वह घाव भरा नहीं है। इतनी जल्दी वह आपका मित्र नहीं बन जाएगा।" इसके बाद चियांग धड़धड़ाता हुआ बैठक से बाहर निकल गया। अगली बैठक तीन दिन बाद होनी थी।

इन बैठकों में मैं भाग नहीं लेता था लेकिन उनमें हुई सब कार्यवाही मुझे बताई जाती थी। अब यह लगने लगा कि यदि शीघ्र स्थिति में सुधार नहीं हुआ तो मुझे सीधे हस्तक्षेप करना पड़ेगा।

योजनानुसार तीन दिन बाद दूसरी बैठक हुई। इस बार दूसरे जनरल, फानमेंग ने अध्यक्षता की। उसने बैठक की शुरुआत यह कहकर की कि, उसे विश्वास है कि लूखांग्वा ने पिछली बैठक में जो कुछ कहा, उसके लिए वह माफ़ी माँगना चाहता है। लूखांग्वा ने तुरन्त इसका प्रतिवाद किया। उसने कहा कि उसका माफ़ी माँगने का कोई इरादा नहीं है। उसने पिछली बैठक में जो कुछ कहा, उस पर वह क़ायम है, और वह अपना यह कर्तव्य भी समझता है कि तिब्बती दृष्टिकोण से चीनियों को पूरी तरह अवगत कराए। तिब्बत की जनता चीनी सेना की इतनी ज़्यादा उपस्थिति से बहुत त्रस्त है। इसके अतिरिक्त, वे इस बात से भी चिन्तित हैं कि चीनियों ने केन्द्रीय सरकार को चामडो अभी तक वापस नहीं किया है, और तिब्बत में अन्यत्र पड़ी चीनी सेना ने भी वापस लौटने के लिए कोई कदम नहीं उठाया है। जहाँ तक तिब्बती सेना के चीनी सेना में सम्मिलित किए जाने का प्रश्न है, यदि इसे स्वीकार किया जाएगा तो निश्चित रूप से संकट उत्पन्न हो जाएगा।

यह सुनकर फ़ानमेंग क्रोधित हो उठा। उसने आरोप लगाया कि लूखांग्वा विदेशी साम्राज्यवादियों से मिला हुआ है, और वह दलाई लामा से उसे पदच्युत करने की माँग करेगा। लूखांग्वा ने कहा कि यदि दलाई लामा उसे आदेश देंगे तो वह बड़ी प्रसन्नता से पद ही नहीं, अपने प्राण भी त्याग देगा। इसके बाद बैठक समाप्त हो गई।

इसके तुरन्त बाद मुझे चीनियों से एक लिखित रिपोर्ट प्राप्त हुई जिसमें कहा गया था कि लूखांग्वा साम्राज्यवादी और प्रतिक्रियावादी है और वह चीन तथा तिब्बत के पारस्परिक सम्बन्ध सुधारना नहीं चाहता, इसलिए उसे अपने पद से हटा दिया जाए। इसके साथ ही काशाग ने मुझे ज़बानी सुझाव यह भी दिया कि दोनों प्रधानमंत्रियों को हटा देना ज़्यादा अच्छा रहेगा। यह सुनकर मुझे बहुत सदमा पहुँचा। इन दोनों ने तिब्बत के लिए पूरी निष्ठा, साहस और समझदारी से काम किया था।

इसके एक या दो दिन बाद जब दोनों अपने त्यागपत्र लेकर मुझसे मिलने आए, तब उनकी आँखों में आँसू थे। मेरी आँखों में भी आँसू भर आए। मैं यह महसूस कर रहा था कि मैंने यह स्थिति स्वीकार नहीं की तो इनकी जान खतरे में पड़ जाएगी। इसलिए भारी मन से मैंने उनके त्याग पत्र स्वीकार कर लिए, और

मन में यही सोचता रहा कि किस प्रकार चीनियों से सम्बन्ध सुधारे जाएँ, इसलिए अब मैंने स्वयं यह दायित्व सँभालने का निश्चय किया। अब मेरी समझ में 'दबंग' (जबरा) शब्द का सही अर्थ भी आ गया।

इन्हीं दिनों पैंचेन लामा भी ल्हासा पहुँचे। उनका दुर्भाग्य था कि अब तक उनका पालन-पोषण चीनियों की अधीनता में हुआ था और अब वे पहली बार ताशिल हुनपो मठ में अपना मठाधीश का दायित्व सँभालने जा रहे थे। जब वे आमदो प्रांत से यहाँ आए, उनके साथ अपने परिवार तथा शिक्षकों के अतिरिक्त चीनी सेना के कई बड़े दस्ते—उनके 'अंगरक्षक' भी थे।

इसके तुरन्त बाद मैं एक सरकारी बैठक में युवा पैंचेन लामा से मिला, जिसके बाद पोटाला में भोजन का कार्यक्रम भी था। मुझे याद है कि उनके साथ एक बहुत तेज़-तर्रार चीनी रक्षा अधिकारी भी था, जो, जब भी हम दोनों अकेले होते, तो ज़बरदस्ती वहाँ आने की कोशिश करता था। इस पर मेरे अपने अंगरक्षक आगे बढ़कर उसे रोकने की चेष्टा करते, जिसके कारण मेरे सामने एक कठिन समस्या खड़ी हो जाती थी—क्योंकि वह व्यक्ति शस्त्रों से लैस था।

अन्त में मुझे पैंचेन लामा से एकान्त में मिलने का अवसर प्राप्त हो गया और मैंने उसे बहुत निष्ठावान तथा ईमानदार व्यक्ति पाया। वह मुझसे तीन वर्ष छोटा था और अभी तक अपने अधिकार भी प्राप्त नहीं कर सका था, इसलिए वह बहुत अबोध और प्रसन्न बालक के समान था। हम दोनों एक-दूसरे के बहुत समीप आ गए। अभी तक हम दोनों यह नहीं जानते थे कि हमें कैसा कठिन जीवन बिताना पड़ेगा।

पैंचेन लामा के आगमन के कुछ समय बाद मुझे ताथाग मठ पुनः आमन्त्रित किया गया, जहाँ मैंने अपने गुरु की स्मृति में समर्पित एक स्तूप की विधिपूर्वक, (जो बहुत लम्बी पन्द्रह घंटे तक चली) स्थापना की। जब मैं उसके समक्ष अपने सम्पूर्ण शरीर से पृथ्वी पर नत हुआ, तब मुझे गहरी उदासी महसूस हुई। इसके बाद कुछ समय तक मैं तात्कालिक कठिनाइओं के दबाव से अपने मन-मस्तिष्क को मुक्त करने के लिए क्षेत्र के पहाड़ों में घूमता रहा। इस अवसर का एक रोचक पहलू यह है कि ताथाग रिन्पोचे की खोपड़ी का एक हिस्सा जो आग में जलने से बचा रह गया था मुझे दिखाया गया; इसमें उनके सुरक्षा देवता की छवि तिब्बती अक्षर में अंकित थी। वास्तविकता यह है कि उच्च लामाओं में यह रहस्यमय क्रिया सामान्य घटना है। हड्डियाँ कुछ इस ढंग से पिघलती हैं कि अक्षर, और कभी-कभी चित्र भी, बन जाते हैं। कुछ व्यक्तियों में, जैसे मेरे पूर्ववर्ती दलाई लामा में, ये अंकन उनके शरीर पर भी देखे जा सकते थे।

सन् 1952 के वसन्त में लूखांग्वा और लोबसांग ताशी के बलपूर्वक लिए गए त्यागपत्रों के बाद कुछ समय तक चीनी अधिकारियों के साथ यह अनिश्चित सन्धि

चलती रही। इस अवसर का उपयोग मैंने एक सुधार समिति का गठन करने में किया, जिसका विचार मैं साल भर पहले द्रोमो की यात्रा के समय से कर रहा था। एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना करना मेरी मुख्य महत्त्वाकांक्षा थी।

जैसा मैं रेटिंग रिन्पोचे के मामले की चर्चा करते हुए पहले ही बता चुका हूँ, अवयस्क होने के कारण मैं शासन की नज़रों से नीचे गिरे व्यक्तियों के लिए, चाहने पर भी कुछ नहीं कर सकता था। उदाहरण के लिए मुझे प्रबन्धन के उस कर्मचारी की घटना याद आती है जिसे थाँका चित्रों में लगाए जाने वाले सोने के कणों की चोरी करते पकड़ा गया था—इसलिए उसे पीछे मुँह करके गधे पर बिठाकर शहर से निष्कासित कर दिया गया था। मैं अपने टेलिस्कोप से यह दृश्य देखता रहा। परम्परा के अनुसार ऐसे अपराधों की यही सज़ा थी।

कभी-कभी मुझे लगता है कि मुझे इस तरह के मामलों में हस्तक्षेप करना चाहिए था। इसी तरह का एक और दृश्य मैंने पोटाला में देखा था। यहाँ रहना आरम्भ करने के दिनों से ही मैंने महल में ऐसी कई जगहें तलाश ली थीं, जहाँ खिड़कियों या रोशनदानों से चुपचाप दूसरे कमरों में झाँककर, जहाँ सामान्य रूप से मैं नहीं जा सकता था, मैं देख सकता था कि वहाँ क्या हो रहा है। एक दफ़ा अपनी इसी तरकीब के ज़रिये रीजेंट के दफ्तर में चल रही एक सुनवाई देखी जिसमें एक मकान-मालिक के विरुद्ध उसके किराएदार की शिकायत पर विचार किया जा रहा था। मुझे अच्छी तरह याद है कि यह आदमी कितना ग़रीब और बेचारा दिख रहा था—उसकी उम्र भी काफ़ी थी, छोटा-सा क़द और झुकी हुई पीठ, सफ़ेद बाल और पतली-सी मूँछें। उसका दुर्भाग्य यह था कि मकान-मालिक का परिवार रीजेंट का रिश्तेदार था—उस समय रेटिंग रिन्पोचे ही रीजेंट थे—इसलिए उसकी शिकायत एकदम खारिज कर दी गई। मेरा दिल उसके लिए रो उठा, लेकिन मैं कर कुछ नहीं सकता था। इसलिए अब जब कभी मुझे अन्याय की कहानियाँ सुनाई देतीं, न्यायिक सुधार की आवश्यकता पर मेरा मन दृढ़ होता चला जाता था।

मैं शिक्षा के लिए भी कुछ करना चाहता था। उस समय देश में सार्वजनिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। ल्हासा में थोड़े से स्कूल थे, और ग्रामीण क्षेत्रों में इधर-उधर कुछ रहे होंगे, और ज़्यादातर मठ ही ज्ञान के केन्द्र थे, और वहाँ जो शिक्षा प्रदान की जाती थी वह मठवासियों को ही उपलब्ध थी। इसलिए मैंने काशाग को निर्देश दिया कि एक अच्छी शिक्षण व्यवस्था के प्रस्ताव तैयार किए जाएँ।

एक और क्षेत्र, जिसमें अविलम्ब सुधार की आवश्यकता थी, आवागमन का क्षेत्र था। उन दिनों सारे तिब्बत में एक भी सड़क नहीं थी और मेरा ख्याल है कि पहियों पर चलने वाले वाहन भी केवल तीन थे—तेरहवें दलाई लामा की तीनों मोटर-गाड़ियाँ। इसलिए यह कल्पना करना कठिन नहीं था कि सड़कें और आवागमन के साधन विकसित हो जाने से जनता को कितना लाभ होगा। लेकिन शिक्षा की

तरह यह भी दीर्घकालीन योजना ही हो सकती थी और मैंने समझ लिया कि कई वर्ष बाद ही इसका नतीजा सामने आ सकेगा।

लेकिन कुछ काम ऐसे भी थे जिन्हें तुरन्त किया जा सकता था। पहला यह कि पुश्तैनी कर्ज़ को समाप्त किया जाए। मैंने अपने सफाई वालों तथा द्रोमो के मार्ग में किसानों इत्यादि से बातचीत करके जान लिया था कि यह कर्ज़ आम जनता की उन्नति में सबसे बड़ा रोड़ा है। इसका अर्थ यह था कि किसानों पर मालिकों का कर्ज़, जो ज्यादातर सूखा पड़ने के कारण लिया जाता था, यदि उनके द्वारा अपने जीवन में न चुकाया जा सके, तो उसे अगली पीढ़ी के लिए बढ़ा दिया जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि बहुत से परिवार अपना आर्थिक विकास नहीं कर पाते थे, न कभी उस कर्ज़ से मुक्त ही होते थे। इसी तरह छोटे ज़मींदार आवश्यकता पड़ने पर सरकार से कर्ज़ ले सकते थे, परन्तु अपने जीवन में उसे चुका न पाने की स्थिति में वह भी अगली पीढ़ी के लिए बढ़ा दिया जाता था। इसलिए मैंने निश्चय किया कि अगली पीढ़ी के लिए कर्ज़ को स्थानान्तरित करने का नियम ही समाप्त कर दिया जाए और वे सब सरकारी कर्ज़े माफ़ कर दिए जाएँ जिन्हें चुकाए जाने की सम्भावना समाप्त हो गई है।

मैं जानता था कि कुलीन वर्ग तथा निहित स्वार्थ के लोगों को ये सुधार पसन्द नहीं आएँगे, इसलिए मैंने अपने कार्याधिकारी को निर्देश दिया कि इन्हें सार्वजनिक रूप से प्रकाशित किया जाए और शहर में पोस्टर लगाकर लोगों को सूचना देने की पुरानी विधि को छोड़ दिया जाए। इस काम के लिए मैंने, जिस तरह धर्मग्रन्थों की छपाई की जाती है, उस तरह लकड़ी के ब्लाक बनवाए। इस तरह सूचनाओं का ज़्यादा प्रचार सम्भव था, और जो लोग योजना में दखल दे सकते थे, उन्हें पता ही न चला कि क्या छप रहा है, पता तब चला जब काफी देर हो चुकी थी।

सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि 'स्थानीय तिब्बत सरकार सुधार के कार्य स्वयं ही करेंगी' और इन पर 'अधिकारियों (यानी चीनियों) का कोई दबाव नहीं होगा।' भूमि-सुधार के हमारे इन आरम्भिक प्रयत्नों से हज़ारों लोगों को तुरन्त बहुत लाभ हुआ, लेकिन शीघ्र ही हमें पता चला कि कृषि संगठन के सम्बन्ध में हमारे मुक्तिदाताओं के विचार बिलकुल भिन्न हैं। इस समय तक आमदो में कृषि का समूहीकरण आरम्भ किया जा चुका था। इसके बाद यह कार्य समूचे तिब्बत में किया गया जिसके कारण देश में व्यापक अकाल पड़ा और लाखों लोग भूख से मर गए। फिर चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति के बाद यद्यपि उन्होंने अपनी नीति बदली लेकिन उसके दुष्प्रभाव आज तक समाप्त नहीं हुए हैं। तिब्बत का भ्रमण करने वाले लोगों का मत है कि अपर्याप्त भोजन के कारण गाँवों के लोग बहुत छोटे और कमज़ोर दिखाई देने लगे हैं। लेकिन यह सब भविष्य में हुआ। इस बीच मैं अपने अधिकारियों पर यह दबाव डालता रहा कि सब पुरानी तथा अनुपयोगी प्रथाओं

को समाप्त कर दिया जाए। मैंने निश्चय कर लिया था कि तिब्बत को बीसवीं शताब्दी के अनुरूप बनाने के लिए जो कुछ सम्भव हो, करता रहूँगा।

सन् 1953 की गर्मियों में, जहाँ तक मुझे याद है, मैंने लिंग रिन्पोचे से कालचक्र अनुष्ठान की दीक्षा ग्रहण की। यह तान्त्रिक परम्परा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान है, जिसका उद्देश्य विश्व शान्ति होता है। इसके अलावा, अन्य तान्त्रिक अनुष्ठानों के विपरीत, इसका आयोजन विशाल जनसमूहों के सामने किया जाता है। यह बहुत विस्तृत आयोजन है और इसकी तैयारी में सात से दस दिन तक लगते हैं और पूरे तीन दिन तक यह चलता है। इसमें रंगीन रेत के दानों को लेकर एक विशाल मंडल की रचना की जाती है, जो एक त्रिपक्षीय प्रतीक के दो पक्षों का प्रस्तुतीकरण होता है। मैंने जब पहली बार इनमें से एक मंडल देखा, तो इस पर नज़र डालते ही मैं अपना सन्तुलन खोने लगा—यह इतना विलक्षण दिखाई दे रहा था।

महीना भर विश्राम के बाद दीक्षा का कार्य शुरू हुआ। एक अत्यन्त प्रभावी अनुभव के रूप में, जो मुझे तथा लिंग रिन्पोचे दोनों को हुआ, मुझे आज तक यह याद है। मुझे यह सोचकर गौरव का अनुभव हुआ कि अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे इस विशिष्ट अनुष्ठान का अब मैं भी सदस्य बन गया हूँ। दीक्षा-प्रार्थना का अन्तिम पद बोलते हुए भावातिरेक से मेरा गला रुँधने लगा—यद्यपि उस समय मुझे इसका महत्त्व ज्ञात नहीं हुआ परन्तु बाद में मैंने जाना कि यह तथ्य इस अनुष्ठान में मेरे पवित्र होने का प्रतीक था। अब मैं इसे इस रूप में देखता हूँ कि मैं अपने पूर्ववर्तियों से अधिक और संसार-भर में सर्वत्र, कालचक्र की दीक्षा प्रदान करने में समर्थ हूँ। इस अनुष्ठान में सबसे अधिक योग्य न होने पर भी मुझे यह अधिकार प्राप्त है।

अगले साल 'मोनलाम' के अवसर पर जोखांग मन्दिर में चेनरेज़िग की प्रतिमा के समक्ष मैंने बौद्ध भिक्षुत्व की सम्पूर्ण दीक्षा प्राप्त की। मेरे लिए यह भी बहुत प्रभावी अनुष्ठान था और इसका संचालन भी लिंग रिन्पोचे ने ही किया। इसके पश्चात् उन्हीं गर्मियों में, मैंने कुछ स्त्रियों के निवेदन पर उन्हें, अपने जीवन में प्रथम बार कालचक्र की दीक्षा प्रदान की।

इस अवधि में चीनी अधिकारियों के साथ पुनः सन्धि का व्यवहार रहा जिसमें मैं राहत की साँस ले सका। इसका उपयोग मैंने अपने धार्मिक कर्तव्यों को निभाने में किया, और छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार के समूहों में नियमित रूप से प्रवचन करता रहा। इसके परिणामस्वरूप लोगों से मेरे व्यक्तिगत सम्बन्ध बनने आरम्भ हो गए।

यद्यपि आरम्भ में सार्वजनिक रूप से उपदेश देने में मुझे संकोच होता था, लेकिन मेरा आत्मविश्वास तेज़ी से बढ़ता गया। मैं इस तथ्य से भी सचेत था कि ल्हासा के बाहर चीनी लोग मेरी जनता को बहुत कष्ट दे रहे हैं। इसी के साथ मैं यह भी अपनी आँखों से देख और समझ सका कि मेरे दोनों प्रधानमंत्री इन चीनियों के क्यों विरोधी हो उठे थे। जैसे, जनरल चियांग चिन-वू जब भी मुझसे मिलने आता, मेरे कमरे के चारों ओर सैनिक खड़े कर दिए जाते—यह जानते हुए भी कि जीवन की पवित्रता बौद्ध धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

इस समय मेरा बुद्ध के इस उपदेश की ओर ध्यान गया कि एक दृष्टि से मित्र की अपेक्षा शत्रु माना गया व्यक्ति अधिक मूल्यवान है, क्योंकि शत्रु आपको कुछ शिक्षाएँ भी देता है—जैसे सहिष्णुता की शिक्षा—जो आपको मित्र से प्राप्त नहीं हो सकती। इस विचार में मैंने अपना यह दृढ़ विश्वास भी जोड़ा कि स्थितियाँ कितनी भी कठिन क्यों न हो जाएँ, वे कभी-न-कभी सही भी हो जाएँगी। अन्त में, सर्वजन की सत्य, न्याय तथा मानवी सद्भाव के लिए आन्तरिक आकांक्षा अज्ञान तथा निराशा के ऊपर अवश्य विजयी होगी। इसलिए यदि चीनी हमारा दमन करते हैं, तो उससे भी हमें शक्ति ही प्राप्त होगी।

5

कम्युनिस्ट चीन की यात्रा

लोबसांग ताशी और लूखांग्वा के पद त्याग के लगभग एक वर्ष बाद चीनियों ने सुझाव दिया कि तिब्बत सरकार अपने कुछ अधिकारियों को चीन यह देखने के लिए भेजे कि नए शासन में महिमाशाली मातृदेश का जीवन कितना उन्नत हो गया है। इसलिए एक दल का गठन किया गया और उसे चीनी गणतन्त्र की यात्रा पर भेजा गया। कई महीने बाद जब वे वापस आए तब उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें प्रशंसा, स्तुति तथा झूठ भरे पड़े थे। मैं एकदम समझ गया कि यह रिपोर्ट उनके ही मार्गदर्शन में लिखी गई थी क्योंकि इस समय तक मैं इस तथ्य का अभ्यस्त हो चुका था कि अपने इन नए मालिकों के सामने अक्सर सच बोलना असम्भव हो जाता है। इससे मैं भी इसी ढंग से वार्तालाप करना सीख गया था : कि कठिन परिस्थितियों में चीनियों से संवाद करते समय सत्य किस प्रकार कहा जाए।

इसके कुछ समय बाद, सन् 1954 में मुझे स्वयं चीन-यात्रा का निमन्त्रण दिया गया। यह विचार मुझे अच्छा लगा। इसमें मुझे न केवल चेयरमैन माओ से स्वयं मिलने का अवसर प्राप्त होगा, बल्कि बाहर की दुनिया देखने का भी अवसर मिलेगा। लेकिन अन्य तिब्बतियों को इससे प्रसन्नता नहीं हुई। उन्हें डर लगा कि मुझे बीजिंग में रख लिया जाएगा और वापस नहीं आने दिया जाएगा। कुछ को यह भी लगा कि वहाँ मेरे जीवन को खतरा भी हो सकता है और उन्होंने मुझे रोकने की भी कोशिश की। लेकिन स्वयं मुझे कोई डर नहीं था और मैंने किसी की चिन्ता न करके जाने का निश्चय कर लिया। यदि मैं स्वयं यह फैसला न करता तो मेरा चीन जाना सम्भव नहीं हो पाता।

अन्त में मैं चल पड़ा, और मेरे साथ था मेरा परिवार, मेरे दो अध्यापक, मेरे दो 'सेनशाप'—त्रिजंग रिन्पोचे के मेरे कनिष्ठ अध्यापक नियुक्त होने के बाद एक नए व्यक्ति की नियुक्ति हुई थी—काशाग और बहुत सारे अन्य अधिकारी। कुल मिलाकर हमारी संख्या पाँच सौ थी। गर्मी के दिनों में एक दिन सवेरे जब हम चलने को तैयार हुए, तब क्यिचू नदी के तट पर हमें औपचारिक रूप से विदाई दी गई। इसमें बैंड-बाजे और वर्दियों में सजे-धजे अफसर तथा हज़ारों की संख्या में लोग थे,

जिनमें से कई धार्मिक झंडे लहरा रहे थे और कई मेरी सुरक्षित यात्रा तथा वापसी के लिए धूप और अगरबत्तियाँ जला रहे थे।

उन दिनों क्यिचू नदी पर पुल नहीं बना था, इसलिए हम लोगों ने पशुओं की खालों से बनी नौकाओं पर नदी पार की; दूसरे किनारे पर नामग्याल भिक्षु मन्त्र-पाठ कर रहे थे। जब मैं अपनी विशेष नौका पर सवार हुआ, जो दो छोटी नौकाओं को जोड़कर बनाई गई थी, और अपनी जनता को नमस्कार करने के लिए मुड़ा, तो मैंने देखा, वे सब भावनाओं में डूबे जा रहे थे। कुछ लोग रो रहे थे और कुछ को देखकर लग रहा था कि वे यह सोचकर कि वे मुझे अन्तिम बार देख रहे हैं, नदी में डूब जाने के लिए तैयार थे। मैं भी बहुत उत्तेजित तथा दुखी था और चार साल पहले द्रोमो जाते समय जैसा अनुभव कर रहा था, कुछ उसी प्रकार का अनुभव इस समय भी कर रहा था। अपने देशवासियों को इस तरह देखकर मेरा दिल टूटा जा रहा था। लेकिन उन्नीस वर्ष के युवा को विदेश जाने का जो अवसर मिल रहा था, उससे मैं प्रसन्न भी था।

ल्हासा से बीजिंग की दूरी दो हज़ार मील के लगभग है। सन् 1954 में दोनों देशों को मिलाने वाली कोई सड़क नहीं थी, हालाँकि चीनियों ने शंघाई राजमार्ग के नाम से एक सड़क पर काम शुरू कर दिया था जिसमें वे तिब्बतियों से जबरन काम करवा रहे थे। उसका एक हिस्सा बन चुका था इसलिए मैं उतनी दूर तेरहवें दलाई लामा की डॉज मोटरकार में बैठकर गया। इसे भी नौकाओं पर रखकर नदी के पार ले जाया गया था।

मेरा पहला पड़ाव गान्देन मठ था जो ल्हासा से 35 मील दूर है। यहाँ मैं कुछ दिन रहा। यह भी मेरे लिए गहरा अनुभव था। तिब्बत के विश्वविद्यालयी मठों में गान्देन का तीसरा स्थान है। जब मैं यहाँ से चीन की यात्रा पर आगे बढ़ा, तब एक आश्चर्यजनक घटना हुई। तिब्बत के रक्षक देवताओं में एक, जिसका सिर भैंसे का है, अपने स्थान से हिला हुआ था। पिछली बार जब मैंने इसे देखा था, यह बहुत शान्त भाव से नीचे देख रहा था। अब इसका मुँह पूर्व दिशा की ओर था और चेहरे का भाव बहुत भयंकर था। (इसी प्रकार, बाद में जब मैं देश छोड़कर बाहर गया, तब गान्देन मन्दिर की एक दीवार खून से भर उठी थी।)

कार से मेरी यात्रा शुरू हुई। लेकिन कुछ ही दूर जाने के बाद मुझे यह शानदार शाही गाड़ी छोड़कर खच्चर की सवारी करनी पड़ी—कोंगपो पहुँचते ही देखा कि यहाँ से आगे की सड़क बह गई है और सब पुल टूट गए हैं। आगे की यात्रा बहुत खतरनाक थी। पहाड़ की बर्फ पिघल कर बहने लगी थी और ज़मीन टूट-टूटकर गिर रही थी। ऊपर से छोटी-बड़ी चट्टानें लुढ़कती चली आ रही थीं। गर्मियों के आखिरी दिन होने के कारण अक्सर भारी बारिश हो जाती थी और गहरी कीचड़ में पैर घुटनों तक

धँसते चले जाते थे। बड़ी उम्र के लोगों को आगे बढ़ने में कठिनाई हो रही थी जिसे देखकर मेरा दिल भर आता था।

कुल मिलाकर हालत बड़ी खराब थी। हमारे तिब्बती मार्गदर्शकों ने चीनी अधिकारियों को यह समझाने की बड़ी कोशिश की कि पुराने पहाड़ों के ऊपर से निकलने वाले मार्ग से आगे चलें और इस नई बन रही सड़क को छोड़ें, लेकिन वे इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं हुए और यही कहते रहे कि उस मार्ग पर सुविधाएँ नहीं हैं। इसलिए इसी मार्ग से हमारी यात्रा जारी रही और इसे मैं चमत्कार ही कहूँगा कि तीन से ज़्यादा लोग नहीं मरे। मरने वाले तीनों युवा चीनी सैनिक थे जिन्हें रास्ते के किनारे ऊपर से गिरने वाली बर्फ को रोकने के लिए एक-दूसरे से सटा कर खड़ा कर दिया गया था। मुझे उनकी मौत पर बड़ा दुख हुआ। वे और कुछ कर ही नहीं सकते थे। कई खच्चर भी नीचे खाइयों में जा गिरे और उनके पेट फट गए।

फिर एक शाम जनरल चियांग चिन-वू, जो स्वयं भी हमारे साथ यात्रा कर रहा था, मेरे तम्बू में आया और कहने लगा कि कल की यात्रा और भी भयंकर होगी। हमको खच्चरों से उतरकर पैदल चलना पड़ेगा। इसलिए, चीन सरकार के प्रतिनिधि के रूप में वह व्यक्तिगत रूप से बाँहों में बाँहें जोड़कर मुझे आगे ले चलेगा। उसका यह कथन सुनकर मैं सोचने लगा कि जनरल साहब शायद इस ग़लतफ़हमी में हैं कि जिस प्रकार वह मेरे दो प्रधानमंत्रियो को हटाने में सफल हुए, उसी प्रकार वे प्रकृति पर भी प्रभावी हो सकेंगे।

इसलिए यह पूरा दिन मैंने चियांग से जुड़कर चलने में बिताया। वह मुझसे उम्र में तो बहुत बड़ा था ही, बहुत अस्वस्थ भी था, इसलिए यह प्रबन्ध बहुत कष्टप्रद साबित हुआ। फिर, मुझे यह भी चिन्ता थी कि जो चट्टानें ऊपर से लगातार गिर रही थीं, वे कहीं यह न भूल जाएँ कि यह आदमी इतनी बड़ी पदवी पर है, इसलिए इस पर गिरना ठीक नहीं होगा।

यात्रा में जहाँ भी हम रुकते, वे मुक्ति सेना की चौकियाँ होतीं जिनपर लाल झंडे लगे होते। फिर चीनी सैनिक हमें चाय पिलाते। एक दफ़ा मैं इतना प्यासा था कि अपने लिए निश्चित विशेष पात्र को देखे बिना जो मिला, उसी से चाय पी गया। प्यास बुझाने के बाद मैंने ध्यान दिया तो पाया कि जिस मग से मैंने चाय पी है, वह बेहद गन्दा है उस पर खाने के टुकड़े और थूक दोनों लगे हुए हैं। इससे मैं बहुत परेशान हो उठा, क्योंकि बचपन से ही मैं सफाई का बहुत ध्यान रखता था। परन्तु अब जब मैं इस पर सोचता हूँ तो हँसी आ जाती है।

दो सप्ताह बाद हम द्रेमो नामक एक कस्बे में पहुँचे, जहाँ एक झरने के बगल में रात बिताई। मौसम आदर्श था और नदी किनारों पर लगे फूल बहुत सुन्दर लग रहे थे। दस दिन बाद हम पोपुल प्रदेश पहुँचे। यहाँ से सड़क अच्छी थी जिस पर गाड़ियाँ चल सकती थीं, और हम जीप तथा ट्रकों से आगे बढ़ने लगे। इससे मुझे

बहुत सुख मिला, जो दूसरों को भी मिला होगा। मैं अपने एक अधिकारी की हालत कभी नहीं भूलूँगा। उसकी कमर इतनी दर्द कर रही थी कि वह अपनी काठी पर उकड़ूँ लेटा सफर कर रहा था। साथ ही, वह पहले एक गाल सहलाता, फिर दूसरा।

ल्हासा से इतनी दूर इस प्रदेश में चीनियों का अधिकार ज़्यादा प्रभावी नज़र आ रहा था। यहाँ उन्होंने अपने सैनिकों तथा अफसरों के लिए बहुत सी बैरकें और घर बना लिए थे। हर कस्बे और शहर में लाउडस्पीकर लगे थे जो चीनी सैनिक धुनों के अलावा जनता को जगाने के लिए, कि 'मातृदेश के कल्याण के लिए' काम करो और ज़्यादा-से-ज़्यादा मेहनत करो, की धुनें बजा रहे थे।

इसके बाद हम खाम की राजधानी चामडो पहुँचे जहाँ मेरे लिए विशाल स्वागत की तैयारी थी। चूँकि इसका सारा प्रबन्ध चीनियों के हाथ में था, इसलिए उसका ज़ायक़ा अलग ही था। सैनिक बैंड चेयरमैन माओ और क्रान्ति की प्रशंसा में धुन बजा रहे थे और तिब्बत के लोग लाल झंडे लिए खड़े थे।

चामडो से मुझे जीप के द्वारा चेंगडू ले जाया गया, जो चीन में प्रवेश करते ही आता था। यहाँ पहुँचने के लिए हमें एक पहाड़ी से गुज़रना पड़ता था जो तिब्बत और चीन की ऐतिहासिक सीमा थी। जब हम पहाड़ी से दूसरी ओर के मैदान में उतरने लगे तो मुझे एकदम लगा कि यह प्रदेश हमारे तिब्बत से कितना भिन्न है। तो क्या चीन के लोग भी हमारे लोगों से इतने ही ज़्यादा भिन्न होंगे?

चेंगडू पहुँचते ही मुझे बुखार चढ़ आया, इसलिए मैं वहाँ घूम-फिर नहीं सका, और कई दिन बिस्तर पर पड़ा रहा। जैसे ही मेरी तबियत कुछ ठीक हुई, मैं और मेरे कई बड़े अधिकारी शिनगांग ले जाए गए, जहाँ पैंचेन लामा भी हमारे साथ शामिल हो गए, जो कुछ महीने पहले शिगात्से से यहाँ के लिए रवाना हुए थे। इसके बाद हम विमान से ज़ियान ले जाए गए।

जिस विमान में हमने यात्रा की, वह बहुत पुराना था, और मैं भी उसकी हालत से यह कह सकता था कि इसने कभी ज़रूर अच्छे दिन देखे होंगे। उसके भीतर लगी सीटें सपाट लोहे की थीं जिन पर गद्दियाँ तक नहीं थीं, इसलिए वे आरामदेह बिल्कुल नहीं थीं लेकिन मैं पहली दफ़ा हवाई यात्रा करने के कारण इतना उत्तेजित और उत्साहित था कि मैंने किसी भी कष्ट की ज़रा भी परवाह नहीं की, और मुझे डर भी बिल्कुल नहीं लगा, हालाँकि इसके बाद अब मैं विमान-यात्राओं में काफ़ी सतर्कता बरतने लगा हूँ। अब मुझे विमान ज़्यादा पसन्द नहीं आता और मैं सहयात्रियों से भी घुल-मिल नहीं पाता। अब मुझे बातचीत करने के स्थान पर प्रार्थना करना ज़्यादा पसन्द है।

ज़ियान में हमने यात्रा का साधन फिर बदला और रेल से आगे की यात्रा तय की। यह भी मेरे लिए अनोखा अनुभव था। मेरे तथा पैंचेन लामा के लिए जो डिब्बे तय थे, उनमें सभी प्रकार की सुविधाएँ थीं—बढ़िया बिस्तर, स्नानघर और भोजन

के लिए भी शानदार स्थान था। बस, जो एक चीज़ अब मुझे परेशान कर रही थी, यह थी कि चीन की राजधानी में हमारे साथ कैसा व्यवहार किया जाएगा? जब आखिरकार हमारी ट्रेन बीजिंग रेलवे स्टेशन पर पहुँची, तो मैं बेहद चिन्तित हो उठा, हालाँकि स्टेशन पर हमारा स्वागत करने आए हज़ारों युवकों की भीड़ देखकर कुछ आश्वस्त भी हुआ। मुझे यह समझने में भी देर नहीं लगी कि इनकी मुस्कानें तथा नारे सब एकदम बनावटी हैं क्योंकि वे आदेश के अनुसार काम कर रहे हैं, जिस कारण मेरी चिन्ता फिर से मुझ पर हावी हो गई।

जब हम ट्रेन से बाहर निकले, तब प्रधानमंत्री चाऊ एन-लाइ और उपाध्यक्ष चू तेह ने हमारा स्वागत किया; दोनों बहुत मित्रतापूर्ण नज़र आ रहे थे। उनके साथ वह बीच की उम्र का तिब्बती भी था जिसे मैंने ल्हासा में जनरल तान कुआन-सेन के साथ देखा था—इसका नाम फुंतसोग वानग्याल था। यह मेरे ठहरने के स्थान तक मेरे साथ गया—यह एक बंगला था जिसमें एक सुन्दर बगीचा था, और जो अब तक जापानी दूतावास था—और अगले कई दिनों के कार्यक्रम के बारे में बताया।

कुछ समय बाद फुंतसोग वानग्याल मेरा अच्छा मित्र बन गया। कई वर्ष पूर्व उसने कम्युनिस्ट विचारधारा को स्वीकार किया था। चीन आने से पहले वह ल्हासा में चीनी मिशन के स्कूल में पढ़ाता था और कम्युनिस्टों के दूत की तरह काम करता था। सन् 1949 में जब मिशन बंद करके उसके सदस्यों को तिब्बत से बाहर निकाल दिया गया, वह भी अपनी पत्नी, जो तिब्बती मुसलमान थी सहित उनके साथ चला आया। वह खाम का निवासी था। बचपन में अपने कस्बे बाथांग के ईसाई मिशनरी स्कूल में उसकी शिक्षा हुई थी, जहाँ उसने कुछ अंग्रेज़ी भी सीख ली थी। इस समय तक उसने चीनी भाषा भी बहुत अच्छी सीख ली थी और चेयरमैन माओ के साथ मेरी बातचीत में सफल दुभाषिये का काम किया।

फुंतसोग वानग्याल बहुत योग्य सहायक सिद्ध हुआ; वह शान्त तथा बुद्धिमान था और अच्छा विचारक भी था। वह बहुत निष्ठावान और ईमानदार था और मुझे उसका साथ बहुत पसन्द था। वह भी मेरे दुभाषिये का काम करके बहुत खुश था, इसलिए भी कि अब उसका सम्पर्क सीधे चेयरमैन माओ से हो गया था, जो उसके आदर्श पुरुष थे। लेकिन मेरे प्रति भी उसकी भावनाएँ सही थीं। एक बार जब हम तिब्बत के विषय में बात कर रहे थे, तो उसने कहा कि वह तिब्बत के भविष्य को लेकर बहुत आश्वस्त है, क्योंकि मेरा दिमाग़ बहुत खुला हुआ है। उसने मुझे बताया कि कुछ साल पहले वह नोरबुलिंग्का गया था जहाँ उसने बहुत छोटे बच्चे के रूप में मुझे सिंहासन पर विराजमान देखा था, 'और अब आप वह छोटे बच्चे नहीं रहे हैं और यहाँ बीजिंग में मेरे साथ हैं।' यह कहकर वह बहुत भावुक हो उठा और खुलकर रोने लगा। कुछ मिनट बाद वह कम्युनिस्ट बनकर मुझसे बात करने लगा। उसने कहा कि दलाई लामा को देश का शासन करने में ज्योतिष का इस्तेमाल नहीं

करना चाहिए। उसने यह भी कहा कि जीवन चलाने के लिए धर्म विश्वसनीय आधार नहीं है। वह बहुत सच्चे मन से बोलता था, इसलिए मैं उसकी बातें बड़े ध्यान से सुनता था। जिन बातों का वह अंधविश्वास कहता था, उनकी चर्चा होने पर मैं उसे बताता कि स्वयं बुद्ध ने इस बात पर बल दिया है कि किसी भी वस्तु को सच या झूठ मानने से पहले उसका पूरी तरह परीक्षण करना आवश्यक है। मैंने उसे यह भी कहा कि मैं धर्म को जीवन में आवश्यक मानता हूँ, विशेष रूप से उनके लिए जो राजनीति से जुड़े हैं। बहस के बाद हम दोनों यह महसूस करते कि दोनों एक-दूसरे की बहुत इज़्ज़त करते हैं। जिस तरह के अन्तर हम दोनों के बीच हैं, वे व्यक्तिगत बातें हैं, इसलिए ये संघर्ष के विषय नहीं हैं। अन्तिम विश्लेषण का परिणाम यह निकला कि हम दोनों तिब्बती हैं, जो अपने देश का हित चाहते हैं।

बीजिंग पहुँचने के एक-दो दिन बाद मुझे बताया गया कि पूरा तिब्बती प्रतिनिधि-मंडल रात्रिभोज के लिए निमन्त्रित है। इसके लिए शाम को हम सबको उस शिष्टाचार का अभ्यास कराया गया जिसका वहाँ पालन करना था। हमारे आतिथेय शिष्टाचार के प्रति बड़े सचेत प्रतीत हुए—और बाद में हमें पता चला कि चीनी शासन हर क्षेत्र में इसे बहुत महत्त्व देता है—और इससे सम्बन्धित हमारे अधिकारी चिन्ता के मारे मरे जा रहे थे। वे इस आशंका से आतंकित थे कि हम कहीं कुछ गड़बड न कर दें जिससे उन्हें शर्मिंदा होना पड़े, इसलिए उन्होंने हमें बड़े विस्तार से हर बात समझा-समझाकर बताई, यहाँ तक कि कितने कदम आगे चलकर हमें बायें या दायें मुड़ना है। यह कार्यक्रम सैनिक परेड की तरह था। एक निश्चित क्रम में हर एक व्यक्ति को जाना था। सबसे आगे मैं, मेरे पीछे पैंचेन लामा, उनके पीछे मेरे दो अध्यापक, फिर कालोन—काशाग के चारों सदस्य—हरेक अपनी वरिष्ठता के अनुसार, और इनके बाद और सब, अपने-अपने क्रमानुसार। हममें से प्रत्येक को अपने साथ अपने-अपने पद के अनुसार उपहार भी ले जाना था। यह सब प्रक्रिया हम तिब्बतियों को भी, जो खुद अपनी कुलीन रीतियों और शिष्टाचार के नियमों के लिए प्रसिद्ध हैं, बहुत कठिन लग रही थी। लेकिन हमारे मेज़बानों की गम्भीरता इतनी गहरी थी कि, लिंग रिन्पोचे को छोड़कर, जिन्हें ये औपचारिकताएँ पसन्द नहीं थीं, और जिन्होंने इन पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया, बाक़ी सब लोग इनकी तैयारी में जी-जान से जुट गए।

दूसरे दिन, जहाँ तक मुझे याद है, चेयरमैन माओ से मेरा पहली बार सामना हुआ। यह सार्वजनिक बैठक थी, जिसमें भोज के ही नियमानुसार हमें अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार आगे बढ़ना था। हम जब हॉल में घुसे, जिस बात पर सबसे पहले मेरी नज़र पड़ी वह थी एक क़तार में लगी बड़ी-बड़ी रोशनियाँ जिनको सरकारी फोटोग्राफ़रों की फौज की सहायता के लिए लगाया गया था। इनके नीचे बीचोंबीच चेयरमैन माओ, शान्त और स्थिर, खड़े थे। उनके मुखमंडल पर विशेष बुद्धिमान होने

का तेज नहीं था। परन्तु जब हमने हाथ मिलाए तो मैंने महसूस किया कि मैं एक शक्तिमान चुम्बकीय व्यक्ति के सामने खड़ा हूँ। इस अवसर की औपचारिकता के बावजूद वे बहुत मित्रतापूर्ण और सहज व्यक्ति प्रतीत हुए। मुझे लगा कि मेरी जो आशंकाएँ थीं, वे सही नहीं हैं।

कुल मिलाकर माओ के साथ मेरी लगभग एक दर्जन बार भेंट हुई, जिनमें से ज़्यादातर बड़े सार्वजनिक समारोहों में थीं, लेकिन कुछ व्यक्तिगत भी रहीं जिनमें हमारे अलावा फुंतसोग वानग्याल भी था। अवसर कोई भी हो, उन्होंने हमेशा मुझे अपने बगल में बैठाया, और एक दफ़ा तो उन्होंने मुझे मेरा भोजन भी परोसा। इससे मुझे कुछ चिन्ता भी हुई क्योंकि मैंने एक अफ़वाह यह सुनी थी कि उन्हें तपेदिक की बीमारी है।

मुझे वे बहुत प्रभावी व्यक्ति लगे। शारीरिक रूप से वे असामान्य थे। रंग उनका बहुत काला था लेकिन त्वचा चमकदार थी। लगता है कि इसके लिए वे किसी मलहम का इस्तेमाल करते होंगे; उनके हाथ बहुत सुन्दर थे और उँगलियों और अँगूठे की बनावट बहुत शानदार थी, और ये भी उसी विशिष्ट चमक से भरपूर थीं।

मैंने इस बात पर भी ध्यान दिया कि उन्हें साँस लेने में कठिनाई होती थी और वे हाँफते बहुत थे। इसका उनकी आवाज़ पर भी असर पड़ता होगा क्योंकि वह बहुत धीरे-धीरे और कम परन्तु स्पष्ट बोलते थे। शायद इसी कारण उनके वाक्य भी छोटे होते थे। उनका चलना-फिरना और व्यवहार भी बहुत धीमा था। वह अपना सिर बायें से दायें घुमाते तो इसमें कई सैकिंड लग जाते थे, जिससे उन्हें एक आत्मविश्वास और गरिमा भी प्राप्त होती थी।

उनके व्यक्तित्व और व्यवहार के सामने उनके वस्त्र एकदम घटिया होते थे। कमीज़ की बाँहें उधड़ी और जैकेट मुचड़े हुए थे। आम लोग भी ऐसे ही कपड़े पहनते थे, फर्क सिर्फ इतना था कि माओ के कपड़ों का धूसर रंग ज़रा-सा अलग होता था। सिर्फ उनके जूते हमेशा सही दिखाई देते थे, उनकी पॉलिश चमकती नज़र आती थी। उन्हें शानदार वस्त्रों की ज़रूरत ही नहीं थी। ऊपर से साधारण लगने के बावजूद उनकी उपस्थिति अधिकार और शक्ति से पूर्ण होती थी जिसका लोग आदर करते थे। मैंने भी महसूस किया कि वे पूर्णतः प्रामाणिक और अत्यन्त दृढ़ व्यक्ति हैं।

चीन में अपने निवास के पहले कुछ हफ्तों में हम तिब्बतियों के बीच चर्चा का मुख्य विषय यही रहा कि हम किस सीमा तक चीनियों की इच्छा का पालन कर सकते हैं। मैं काशाग तथा कम्युनिस्टों के बीच मध्यस्थ का कार्य करता था। कई आरम्भिक बैठकें हुईं जो सफल रहीं। जब मैं माओ से अकेले में बातचीत करके आया तब इस चर्चा में तेज़ी आई। माओ ने मुझसे कहा था कि वे इस परिणाम पर पहुँच गए हैं कि सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' की सभी धाराओं को अभी लागू करना जल्दबाज़ी होगी। इनमें से एक को तो फिलहाल छोड़ा ही जा सकता था। यह धारा

तिब्बत में एक मिलिट्री अफ़ेयर्स कमीशन की स्थापना से सम्बन्धित थी जिसकी सहायता से चीनी मुक्ति सेना तिब्बत में प्रभावशाली ढंग से शासन कर सके। उन्होंने कहा कि इसके स्थान पर तिब्बत के "स्वायत्त प्रदेश" के लिए एक तैयारी समिति बनाना ठीक रहेगा।' यह संस्था इस बात का ध्यान रखेगी कि तिब्बत में जो सुधार किए जा रहे हैं वे वहाँ की जनता की इच्छा के अनुरूप हैं या नहीं। माओ ने इस बात पर बहुत बल दिया कि 'अनुबन्ध' की शर्तें उतनी ही गति से लागू की जाएँ जितनी हम सही समझें। यह समाचार जब मैंने काशाग को बताया तब वे बहुत निश्चिन्त हुए। अब हमें यह महसूस होने लगा था कि अब हम स्वयं चीन के सर्वोच्च नेता से बातचीत कर रहे हैं, इसलिए कोई व्यावहारिक समझौता सम्भव हो सकेगा।

इसके बाद हुई एक व्यक्तिगत बैठक में माओ ने मुझसे कहा कि मैं बीजिंग आया, इसलिए उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। इसके बाद उन्होंने कहा कि तिब्बत में चीन के प्रवेश का उद्देश्य हमारी सहायता करना ही है। वे बोले, "तिब्बत महान देश है। आपका इतिहास बहुत शानदार है। बहुत समय पहले आपने चीन का बहुत-सा भाग जीत लिया था। लेकिन अब आप पिछड़ गए हैं, इसलिए हम आपकी सहायता करना चाहते हैं। बीस साल बाद आप हमसे आगे निकल जाएँगे तब आप चीन की सहायता करेंगे।" मुझे अपने कानों पर यकीन नहीं हो रहा था लेकिन वे केवल प्रभाव डालने के लिए नहीं बल्कि अपने विश्वास को व्यक्त कर रहे थे।

मैं चीनी सम्बन्ध से तिब्बत को हो सकने वाले लाभों के प्रति बहुत उत्साहित हो उठा था। मैं जितना ही मार्क्सवाद को देखता, उतना ही वह मुझे अच्छा लगता। यह व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति की समानता और सबके लिए न्याय पर आधारित थी और उसका दावा था कि संसार की सब समस्याओं का हल उसके पास है। तात्त्विक दृष्टि से, मेरी समझ में इसका एकमात्र दोष यही था कि यह मनुष्य की सत्ता को पूरी तरह भौतिक मानता है। मैं इससे सहमत नहीं हो सकता था। मुझे वे उपाय भी सही नहीं लगते थे जिनका प्रयोग कर चीनी इन उद्देश्यों को लागू करते थे। इस सम्बन्ध में वे बहुत कट्टर थे। फिर भी मैंने पार्टी का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया। मुझे यह निश्चित रूप से लगता था, और आज भी लगता है, कि बौद्ध दर्शन तथा शुद्ध मार्क्सवादी विचारधारा का परस्पर समन्वय करके राजनीति चलाने का प्रभावी मार्ग विकसित किया जा सकता है।

इसी के साथ मैंने चीनी भाषा सीखना आरम्भ कर दिया और अपने नए चीनी सुरक्षा अधिकारी के सुझाव पर—जो कोरिया युद्ध का अनुभवी सैनिक और प्रसन्नचित व्यक्ति था—शारीरिक व्यायाम भी करना आरम्भ कर दिया। वह हर सुबह आता और मुझे सिखाता था। लेकिन उसे बहुत सवेरे उठने की आदत नहीं थी और वह समझ नहीं पाता था कि मैं पाँच बजे से पहले उठकर प्रार्थना क्यों करता हूँ। उसके बाल बिखरे और कपड़े गुड़ी-मुड़ी होते थे। परन्तु व्यायाम का प्रभाव मुझ पर दिखाई देने

लगा था। मेरा सीना, जो अब तक छोटा और हड्डियों से भरा था, अब तेज़ी से चौड़ा होने लगा।

कुल मिलाकर बीजिंग में हम करीब दस हफ्ते रहे। हमारा ज़्यादातर समय राजनीतिक बैठकों और सम्मेलनों तथा अनगिनत भोजों में व्यतीत हुआ। इन विशाल भोजों में खाना तो कुल मिलाकर मुझे अच्छा ही लगा, लेकिन यह विचार मुझमें आज भी कँपकँपी उत्पन्न कर देता है कि सौ साल पुराने अंडे ज़्यादा स्वादिष्ट होते हैं। इनकी गन्ध पागल करने वाली होती थी। यह कभी खत्म भी नहीं होती थी, इसलिए इन्हें खा लेने के बाद भी आप यह नहीं समझ पाते थे कि ये अभी भी आपके मुँह में बरकरार हैं या आप इनकी गंध का ही मज़ा ले रहे हैं—ये आपकी इन्द्रियों को पूरी तरह अभिभूत कर लेते थे। मैंने देखा है कि कई यूरोपीय पनीर भी ऐसे ही होते हैं। हमारे मेज़बान इन भोजों को बहुत महत्त्व देते थे, क्योंकि उनका मानना था कि खाने की मेज़ पर साथ बैठने से ही वास्तविक मित्रता उत्पन्न होती है। लेकिन, यह बात ग़लत है।

इसी समय जब कम्युनिस्ट पार्टी का पहला सम्मेलन आयोजित हुआ, तब पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना की संचालन समिति का मुझे भी एक उपाध्यक्ष बनाया गया। यह ऐसा नाम मात्र का पद था जिसकी थोड़ी-सी प्रतिष्ठा तो होती थी परन्तु राजनीतिक अधिकार कुछ भी नहीं होता था। (संचालन समिति में नीतियों पर विचार किया जाता है जो इसके बाद पोलित ब्यूरो में प्रस्तुत की जाती हैं—वास्तविक अधिकार भी उसी को प्राप्त है।)

संचालन समिति की बैठकें तथा सम्मेलन भोजों की अपेक्षा अधिक उपयोगी तथा अनुभव प्रदान करनेवाले होते थे परन्तु लगता था, जैसे ये कभी खत्म नहीं होंगे। कई दफ़ा वक्ता पाँच, छह या सात घंटे तक लगातार बोलता ही रहता था, जिससे बड़ी बोरियत होती थी। मैं गरम पानी पीता रहता और सोचता रहता कि यह जल्दी खत्म हो। लेकिन जिन बैठकों में माओ स्वयं भाग लेते, वे अलग किस्म की होती थीं। उनके भाषण में जादू होता था। इसके बाद जब वे बोलना समाप्त करते, वो सुनने वालों से उनकी राय पूछते। वे हमेशा लोगों की आन्तरिक भावनाओं को समझने की कोशिश करते और हर बात सुनने को तैयार रहते थे। वे कई दफ़ा स्वयं अपनी आलोचना करते, और एक बार जब उन्हें अपना इच्छित परिणाम प्राप्त नहीं हुआ, तो उन्होंने एक पत्र निकालकर सुनाया जो उनके अपने ही गाँव से आया था और जिसमें पार्टी के स्थानीय अधिकारियों के व्यवहार की शिकायत की गई थी। इस सबका बहुत प्रभाव पड़ता था, लेकिन समय बीतने के साथ मुझे इनकी असलियत पता चलने लगी। लोग उनके सामने खुलकर बोलने से डरते थे, विशेषकर पार्टी से बाहर के लोग, जो हमेशा पार्टी के सदस्यों को खुश करने में लगे रहते थे और बड़ी मीठी बातें करते थे।

धीरे-धीरे मुझे यह ज्ञान होने लगा कि चीन की राजनीति अन्तर्विरोधों से भरपूर है, हालाँकि मैं यह नहीं समझ पाता था कि इसका कारण क्या है। मैं जब भी माओ से मिलता, मुझे उनसे प्रेरणा प्राप्त होती। मुझे याद है, एक बार वे बिना सूचना दिए मेरे निवास पर आ गए। वह किसी विषय पर मुझसे एकान्त में बात करना चाहते थे, हालाँकि वह बात क्या थी, यह मुझे अब याद नहीं आ रही और बातचीत के दौरान जब उन्होंने भगवान बुद्ध की प्रशंसा की तब मैं हैरान रह गया। प्रशंसा में उन्होंने कहा कि वे 'जाति विरोधी, भ्रष्टाचार विरोधी और शोषण विरोधी' थे। उन्होंने देवी तारा की भी चर्चा की जिन्हें स्त्री-बुद्ध माना जाता है। इस तरह वे अचानक धर्म के समर्थक लगने लगे।

इसी तरह एक बार मैं इन 'महान कर्णधार' के सामने (जो उन्हें कहा जाता था) बैठा था। एक बड़ी मेज़ के दोनों सिरों पर दो जनरल बैठे थे। उन्होंने इन दोनों की तरफ इशारा करके कहा कि वे इन्हें तिब्बत भेज रहे हैं। फिर मुझ पर कड़ी नज़र डालते हुए बोले, ''इन्हें आपकी सेवा के लिए भेजा जा रहा है। यदि ये आपकी बात न सुनें तो आप मुझे बता दें और मैं इन्हें वापस बुला लूँगा।'' इस प्रकार यद्यपि मुझ पर अच्छे प्रभाव पड़ रहे थे, मैं यह भी देख रहा था कि पार्टी के अधिकारी कितने आतंक के तले अपने कार्य करते हैं। उन्हें हमेशा अपनी नौकरी जाने का भय लगा रहता था, जीवन का भले ही न हो।

माओ के साथ समय बिताने के साथ चाऊ एन-लाइ तथा लू शाओ-ची से भी मेरी कई मुलाकातें हुईं। लू बहुत कम बोलते थे, न कभी हँसते थे। तात्पर्य यह कि वे बहुत सख्त थे। एक बार मैं लू तथा बर्मा (अब म्यांमार) के प्रधानमंत्री ऊ नू के बीच हुई एक बैठक में उपस्थित था। इसके आरम्भ होने से पहले सबको बताया गया कि उन्हें किस तरह विषय पर बात करनी है। मेरा विषय धर्म था, यानी जब प्रधानमंत्री धर्म की चर्चा करें तो मुझे बोलना होगा। लेकिन इसकी सम्भावना नहीं थी क्योंकि ऊ नू इस काम के लिए वहाँ नहीं आए थे। दरअसल वे लू से यह जानना चाहते थे कि उनके देश में विरोधी कम्युनिस्टों के प्रति चीन का रवैया क्या है। लेकिन जब उन्होंने यह प्रश्न उठाया और कहा कि कम्युनिस्ट गुरिल्ला उनके यहाँ मुश्किलें पैदा कर रहे हैं, तो लू ने एकदम अपनी नज़र फेर ली। उन्होंने इस समस्या में उलझने से इन्कार कर दिया और ऊ नू का प्रश्न अनुत्तरित रहा। यह देखकर मैं चकित रह गया लेकिन मैंने यह सोचकर सन्तोष कर लिया कि उन्होंने न झूठ बोला और न धोखा देने की चेष्टा की। चाऊ एन-लाइ होते तो इसके उत्तर में कोई चतुराई की बात ज़रूर कहते।

चाऊ इनसे बिलकुल भिन्न प्रकार के व्यक्ति थे। लू जहाँ गम्भीर और स्थिर थे, वे हमेशा हँसते-मुस्कराते और मनोरंजक बातें करते रहते थे। दरअसल वे ज़रूरत से ज़्यादा नम्र थे जो ऐसे व्यक्तित्व का चिह्न है जिस पर विश्वास नहीं किया जा

सकता। इसके अलावा उनकी नज़र बहुत तेज़ थी। मुझे याद है कि एक दफ़ा एक विशेष भोज में जब वे एक विदेशी अतिथि को लिए जा रहे थे, तब उसका पैर एक सीढ़ी पर फिसलने लगा। चाऊ की एक बाँह बेकार थी, लेकिन उन्होंने तुरन्त दूसरी बाँह आगे बढ़ाकर उसे सँभाल लिया और लगातार बोलते भी रहे।

उनकी ज़बान भी बड़ी तेज़ चलती थी। ऊ नू की बीजिंग यात्रा के बाद उन्होंने हज़ार से ज़्यादा अधिकारियों के समक्ष भाषण दिया और बर्मी प्रधानमंत्री के विरुद्ध तीखी टिप्पणियाँ करने से नहीं चूके। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि सार्वजनिक रूप से वे इस अतिथि के प्रति बड़ी नम्रता तथा आदर से पेश आते रहे हैं।

मेरे बीजिंग में रहते समय मुझे कुछ चीनी बौद्धों के समक्ष प्रवचन देने को कहा गया। यहाँ मेरा दुभाषिया एक चीनी भिक्षु था जिसके बारे में मुझे बताया गया कि उसकी शिक्षा तिब्बत में हुई है जहाँ एक लामा ने उसे धर्म की दीक्षा दी है। (प्राचीन काल में अनेक चीनी भिक्षु धार्मिक शिक्षा का शिक्षण प्राप्त करने के लिए तिब्बत आते थे।) इस भिक्षु ने मुझे बहुत प्रभावित किया, विशेषकर धर्म के प्रति उसकी निष्ठा तथा ज्ञान ने।

जिन कम्युनिस्टों से मैं मिला, उनमें से कई बहुत अच्छे व्यक्ति थे, दूसरों की सेवा में नितान्त निस्वार्थ और उन्होंने मेरी बहुत सहायता की। ऐसे व्यक्तियों से मैंने बहुत कुछ सीखा। इनमें एक था लिउ का पिंग, अल्प-संख्यकों के दफ्तर का उच्च अधिकारी जिसे मुझे मार्क्सवाद तथा चीनी क्रान्ति का परिचय देने के लिए नियुक्त किया गया था। यह मुसलमान था और मैं इसे अक्सर यह पूछकर चिढ़ाता था कि क्या उसने कभी सुअर का माँस खाया है। मुझे याद है, इसकी एक उँगली कम थी और उसका स्वभाव बहुत अच्छा था। हम बहुत अच्छे मित्र बन गए। उसकी पत्नी भी, जो उससे इतनी छोटी थी कि बेटी लगती थी, मेरी माँ और बड़ी बहिन से बहुत घुल-मिल गई। जब हम चीन से लौटने लगे, तब वह बच्चे की तरह रोई।

मैं अक्टूबर क्रान्ति समारोह तक बीजिंग में रहा। इस वर्ष पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना की स्थापना की पाँचवीं वर्षगाँठ थी और इस अवसर पर अनेक विदेशी मेहमान आ रहे थे। इनमें ख्रुश्चोव और बुल्गानिन भी थे, जिनसे मेरा परिचय कराया गया। इनमें से किसी ने भी मुझपर कोई प्रभाव नहीं छोड़ा, विशेषकर पंडित नेहरू की तुलना में, जो मेरे वहाँ रहते समय बीजिंग आए थे। चाऊ एन-लाइ की अध्यक्षता में आयोजित एक भोज में उनका स्वागत किया गया जिसमें कतार बाँध कर हम सब परिचय के लिए उनके सामने से गुज़रे। दूर से वे बड़े आकर्षक लग रहे थे और हर व्यक्ति से, जब वह उनके सामने से निकलता, कुछ-न-कुछ बातचीत ज़रूर कर लेते थे। लेकिन जब मैंने उनके सामने पहुँचकर उनसे हाथ मिलाया, तो वे जैसे जड़ हो गए। उनकी आँखें सामने कहीं जाकर टिक गईं और मुँह से शब्द ही नहीं निकले। इससे मुझे कुछ उलझन हुई और मैंने खुद ही बात करने की कोशिश की

कि तिब्बत बहुत दूर होते हुए भी मैंने आपके बारे में बहुत कुछ सुन रखा है और आपसे मिलकर मुझे बड़ी खुशी हुई है। आखिरकार उनकी चुप्पी टूटी और उन्होंने कुछ शब्द कहे।

इससे मुझे बड़ी निराशा हुई क्योंकि मैं उनसे ज़्यादा बात करना चाहता था और यह जानना चाहता था कि तिब्बत के प्रति उनके देश का क्या रवैया है। यह भेंट बहुत अटपटी रही।

बाद में मेरी भारतीय राजदूत से बातचीत हुई, जिसकी इच्छा उसने ही व्यक्त की थी। लेकिन नेहरू जी की तरह इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। यद्यपि मेरे साथ एक अफसर बहुत अच्छी अंग्रेज़ी जानता था लेकिन चीनियों ने ज़िद की कि उन्हीं का व्यक्ति दुभाषिये के रूप में ले जाऊँ। इसका अर्थ यह हुआ कि राजदूत अंग्रेज़ी में मुझसे जो कहता, उसका परिश्रमपूर्वक पहले चीनी में अनुवाद किया जाता और फिर तिब्बती में। यह बैठक बहुत निराशाजनक रही। मैं उनसे बहुत-सी बातें करना चाहता था लेकिन चीनियों की उपस्थिति के कारण नहीं कर सका। इस शाम का सबसे यादगार हिस्सा यह रहा जब एक कर्मचारी, जो हम सबको चाय परोस रहा था, अनजाने में फलों के बर्तन से टकरा गया, और उसमें रखे तरह-तरह के फल ज़मीन पर गिरकर लुढ़कने लगे। ये सब विदेशी फल, आड़ू, अलूचे और खूबानियाँ काफ़ी कीमती रहे होंगे, और इन्हें देखकर मेरा ऊपर से बड़ा गम्भीर दिखने वाला दुभाषिया और उसका सहायक—चीन में कोई अफ़सर अकेला नहीं होता—ज़मीन पर हाथों के बल नीचे झुककर कालीन पर रेंगते हुए इन्हें बटोरने लगे। यह तमाशा देखकर मेरी हँसी रुक नहीं पा रही थी।

रूसी राजदूत से मेरी बातचीत अच्छी रही; वह भोज में मेरी बगल में ही बैठा था। इन दिनों रूस और चीन गहरे दोस्त थे इसलिए हमारी बातचीत पर सन्देह नहीं किया जा सकता था। राजदूत बहुत सज्जन था और समाजवाद के विषय में मेरे विचार जानने में उसकी रुचि थी। जब मैंने कहा कि मुझे समाजवाद में अनेक सम्भावनाएँ दिखाई देती हैं, तो उसने कहा कि मुझे सोवियत रूस की यात्रा करनी चाहिए। यह सुझाव मुझे बहुत अच्छा लगा और मेरे मन में तुरन्त वहाँ जाने की इच्छा उत्पन्न हो गई—प्रतिनिधि-मंडल के सामान्य सदस्य की तरह। इस तरह, कल्पना में अपने प्रतिनिधि-मंडल के साथ मैं, सभी ज़िम्मेदारियों से मुक्त, जहाँ चाहे घूमता-फिरता रहा। लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला। वास्तव में उस देश की यात्रा करने में मुझे पूरे बीस साल लग गए। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस बीच स्थितियाँ बहुत बदल चुकी थीं और उस समय की मेरी कल्पना का नामोनिशान नहीं रहा था।

मोटे तौर पर मैं कह सकता हूँ कि चीनी अधिकारी मुझे विदेशियों से मिलने देने में संकोच करते थे। मेरा ख्याल है कि मेरे कारण उन्हें उलझन होती थी। तिब्बत पर चीनी आक्रमण के समय दुनिया के अनेक देशों ने उनकी व्यापक आलोचना की थी। इससे उन्हें परेशानी होती थी और अब वे अनेक प्रकार से यह दिखाकर अपनी तस्वीर बदलना चाहते थे कि ऐतिहासिक तथा अन्य दृष्टियों से तिब्बत पर उनका प्रभाव न्यायसंगत है और एक बड़े राष्ट्र द्वारा दूसरे कमज़ोर राष्ट्र की सहायता करने का प्रयत्न है। मुझे यह देखकर भी बहुत आश्चर्य होता था कि विदेशी मेहमानों के सामने हमारे मेज़बान किस तरह एकदम बदल जाते थे। दूसरों के सामने तो वे उनकी आलोचना करते थे लेकिन खुद उनके सामने भीगी बिल्ली की तरह व्यवहार करने लगते थे।

बीजिंग आने वाले कई लोगों ने मुझसे मिलने की इच्छा व्यक्त की, जिनमें एक हंगरी का नृत्य-दल भी था। इसके सब सदस्यों ने मेरा ऑटोग्राफ़ माँगा जो मैंने उन्हें दिया। इसके अलावा कई हज़ार मंगोलियाई चीन की राजधानी में सिर्फ मुझे और पैंचेन लामा को देखने आए। इससे चीनी अधिकारियों को अच्छा नहीं लगा क्योंकि तिब्बत और मंगोलिया की कुछ मामलों में एकता उन्हें पुराने इतिहास की याद दिलाती थी। न केवल तिब्बती सेना ने आठवीं शताब्दी में चीन से कर वसूला था, बल्कि मंगोलिया ने तो, कुबलाई खाँ के चीन पर सफल आक्रमण के बाद सन् 1279 से 1368 तक उन पर शासन भी किया था।

इसी समय एक आश्चर्यजनक ऐतिहासिक घटना भी हुई थी। कुबलाई खाँ ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और उसका गुरु एक तिब्बती था। इस लामा ने मंगोलियाई नेता को चीनियों की बढ़ती जनसंख्या घटाने के लिए उन्हें हज़ारों की संख्या में समुद्र में फेंकने से रोका था। इस तरह उस तिब्बती ने बहुत सी चीनी जानों की रक्षा की थी।

सन् 1954 की सर्दियों में मैं चीन की लम्बी यात्रा पर गया, मेरे साथ दल के सभी लोग और मेरी माँ तथा सबसे छोटा भाई तेनज़िन चोएग्याल भी थे। इस यात्रा का उद्देश्य चीन की औद्योगिक तथा भौतिक प्रगति देखना था। मुझे तो यह सब बहुत अच्छा लगा, लेकिन मेरे कई तिब्बती अधिकारियों को इन सबमें ज़रा भी रुचि उत्पन्न नहीं हुई, और जिस दिन भी यह कहा जाता कि आज कहीं नहीं जाना है, उस दिन वे बहुत खुश नज़र आते थे। मेरी माँ को विशेष रूप से चीन की यात्रा पसन्द नहीं आई। उनकी स्थिति तब और खराब हो गई जब यात्रा के दौरान एक दिन उन्हें बुखार आ गया जो बढ़कर ज़बर्दस्त फ़्लू में तब्दील हो गया। सौभाग्य से मेरे व्यक्तिगत डाक्टर, बचपन के 'मोटे डाक्टर' हमारे साथ थे। वे बड़े गुणी व्यक्ति थे और माँ

को भी अत्यन्त प्रिय थे। उन्होंने कुछ दवा दी जिसे माँ ने तुरन्त ले लिया। दुर्भाग्य से, उन्होंने डाक्टर की हिदायतों को ग़लत समझा और जो दवा आधी-आधी दो दिन में ली जानी थी, उसे एकसाथ एक ही बार में ले लिया। इसकी कठोर प्रतिक्रिया हुई और बुखार के अलावा उन्हें और भी परेशानियाँ पैदा हो गईं। कई दिन तक वे बहुत कमज़ोर रहीं और मुझे चिन्ता होने लगी। लेकिन, एक हफ्ते के बाद उनकी स्थिति सुधरने लगी, और, इसके बाद वे पच्चीस वर्ष और जीवित रहीं। लिंग रिन्पोचे भी काफी बीमार रहे और लम्बे अरसे तक तकलीफें झेलते रहे, और निर्वासन में तिब्बत छोड़ने के बाद ही उनके स्वास्थ्य में सुधार हुआ।

तेनज़िन चोएग्याल मुझसे बारह वर्ष छोटा है। वह, अपनी शैतानियों के कारण सबको हँसाता और डराता है। चीनियों को तो वह बहुत प्रिय था। वह बहुत बुद्धिमान था और कुछ ही महीनों में उसने चीनी भाषा मंडारिन समझना और बोलना शुरू कर दिया था, जिससे लाभ भी होता था और हानि भी। उसे बड़ों को परेशान करने में मज़ा आता था। यदि कभी मेरी माँ या कोई और हमारे मेज़बानों के खिलाफ़ कुछ भी बोलता था, तो वह तुरन्त उन्हें बता आता था। इसलिए उसके सामने हम बहुत सोच-समझकर बात करते थे। फिर भी, वह समझ जाता था कि कोई क्या कहना चाहता है या क्या छिपा रहा है। लेकिन उसकी हरकतें इतनी मज़ेदार होती थीं कि मेरे कनिष्ठ अध्यापक, त्रिजंग रिन्पोचे, अकेले ऐसे व्यक्ति थे जो उसके सामने एकदम चुप बने रहने में ही भलाई समझते थे, शायद इस कारण कि तेनज़िन चोएग्याल मेज़-कुर्सियों पर इतनी धमाचौकड़ी मचाता था कि उन्हें चीनियों को इस तोड़-फोड़ का कारण बताने में परेशानी होती थी। लेकिन लिंग रिन्पोचे खेल-कूद में उसके साथी होते थे। मेरा उससे ज़्यादा वास्ता नहीं पड़ता था, हालाँकि पिछले दिनों उसने मुझे एक घटना की याद दिलाई जब उसने एक बड़ी खूबसूरती से सजाए तालाब की मछलियाँ निकाल-निकालकर घास पर बिछा दी थीं। उसने मुझे बताया कि मैंने उसके कान बड़े ज़ोर से उमेठे थे।

यद्यपि चीन के भौतिक विकास में मेरी रुचि में मेरे बहुत-से अधिकारी सहयोग नहीं देते थे, कम्युनिस्टों ने विशेष रूप से भारी उद्योगों के क्षेत्र में जो कर दिखाया था, उससे मैं बहुत प्रभावित था। मेरी इच्छा होती थी कि मेरा देश भी इसी तरह आगे बढ़े। वे मुझे मंचूरिया में एक जगह जलविद्युत् पावर स्टेशन दिखाने ले गए जो मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने सोचा कि तिब्बत में तो इस तरह की बहुत-सी योजनाएँ चलाई जा सकती हैं, और यह बात समझने में ज़्यादा बुद्धि की ज़रूरत नहीं थी। जो अफसर मुझे यह परियोजना दिखा रहा था, उससे मैंने ऐसे बहुत-से सवाल पूछे जिनकी वह भिक्षु के कपड़े पहने एक लड़के से अपेक्षा नहीं कर सकता होगा। उसके चेहरे पर प्रशंसा का जो भाव आया, वह मैं आज तक नहीं भूला हूँ। दरअसल ल्हासा में उस पुराने जेनरेटर से उलझने के कारण मैं इस विषय की बहुत-सी बातें समझने

लगा था और अफसर से किलोवाट घंटे तथा टर्बाइन के आकार जैसे सवाल कर सकता था।

इसी यात्रा के दौरान मंचूरिया में ही मुझे एक पुराने युद्धपोत पर ले जाया गया। यह इतना ज़्यादा पुराना था कि इसका कोई भी हिस्सा या पुरज़ा मेरी ज़रा भी समझ में नहीं आ रहा था, लेकिन समुद्र में खड़े इस विशालकाय लकड़ी-लोहे के मकान और तेल की विशेष गंध के बीच पहुँच कर मैं जैसे अभिभूत हो उठा—मेरे लिए इतना ही पर्याप्त था।

इस सबका नकारात्मक पक्ष यह है कि मैं समझ गया कि चीनी अधिकारी मुझे देश की जनता से बिलकुल नहीं मिलने देना चाहते। हर बार जब मैं पूर्वनिश्चित कार्यक्रम से ज़रा भी हटकर कुछ और देखना या किसी से बातचीत करना चाहता, मेरे साथ चल रहे चीनी अधिकारी मुझे रोक देते और अकेले कुछ नहीं करने देते—बहाना होता था मेरी सुरक्षा का, वे हमेशा यही बात कहते थे। लेकिन वे मुझे ही जनता से अलग नहीं रखते थे, बीजिंगवासी सभी चीनियों की यही दशा थी। उन्हें भी स्वतन्त्र रूप से कुछ नहीं करने दिया जाता था।

इसके बावजूद मेरे एक सेनशाप, सेरकॉन रिन्पोचे, हमेशा जहाँ चाहे घूमते रहते थे। वे चीनियों की एक भी बात नहीं सुनते थे और जो उन्हें सही लगता, वही करते थे। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वे लँगड़े थे और चुप बने रहते थे, इसलिए कोई उनकी तरफ ध्यान नहीं देता था। इसलिए हम सबमें अकेले वही एक व्यक्ति थे जिन्हें पीपुल्स रिपब्लिक की नई दुनिया के वास्तविक जीवन की पूरी जानकारी थी। उन्हीं से मुझे सब बातें पता चलीं, कि वहाँ की जनता में कितनी ग़रीबी है और कितना भय व्याप्त है।

एक औद्योगिक क्षेत्र में एक होटल के कर्मचारी से मुझे कुछ आश्चर्य-जनक बातें ज्ञात हुईं। उसने मुझे बताया कि उसने चीन में समाचार पत्रों में मेरे तिब्बत से चलने के समय के फोटो छपे देखे जिनके साथ यह भी लिखा था कि मेरी चीन यात्रा से तिब्बत की जनता बड़ी प्रसन्न हुई है। जब मैंने उससे कहा कि यह बात ग़लत है तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। वह बोला, लेकिन अखबार में तो यही लिखा था, तो मैंने उसे बताया कि यह ग़लतबयानी है और सच्चाई यह है कि तिब्बत की जनता बहुत परेशान है। मेरी बात सुनकर वह आश्चर्य व्यक्त करता रहा। लेकिन, इस चर्चा से मैं यह समझ गया कि चीनी किस सीमा तक स्थितियों को बिगाड़ सकते हैं, और झूठ बोलना तो जैसे उनके खून का हिस्सा है।

चीन की यात्रा में मैं सीमा पार कर मंगोलिया गया जहाँ सेरकॉन रिन्पोचे के साथ उनका जन्म-स्थल देखने भी गया। यह मेरे लिए बड़ा भावुक अनुभव था और मुझे अहसास हुआ कि यह देश हमारे देश के साथ कितनी गहराई से जुड़ा है।

जनवरी 1955 के अन्त में हम बीजिंग लौट आए। अब तिब्बती नववर्ष लोसार आ पहुँचा था। इस पर्व का महत्त्व व्यक्त करने के लिए मैंने एक भोज आयोजित करने का निश्चय किया, जिसमें चेयरमैन माओ और 'चार बड़ों' में तीन अर्थात् चाऊ एन-लाइ, चू तेह तथा लू शाओ-ची को निमन्त्रित किया जाना था। सबने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उस शाम माओ का व्यवहार बहुत मैत्रीपूर्ण रहा। इस बीच जब मैं 'सांपा' का एक टुकड़ा हवा में उछाल रहा था, उन्होंने मेरी ओर झुककर पूछा कि यह क्या कर रहे हो, और मैंने उन्हें बताया कि यह प्रतीकात्मक नैवेद्य है। इस पर उन्होंने भी उँगलियों में कुछ साँपा लेकर ऐसा ही किया। इसके बाद उन्होंने दोबारा थोड़ा-सा लिया और शरारती चेहरे से उसे ज़मीन पर डाल दिया।

उनका यह कुछ व्यंग्यात्मक व्यवहार कार्यक्रम में खटास पैदा कर गया, नहीं तो यह दोनों देशों में वास्तविक भ्रातृभाव का प्रसारक हो सकता था। वैसे चीन ने इसी रूप में इसका प्रचार किया। इस कार्य के लिए हमेशा की तरह फोटोग्राफरों की फौज तैयार थी जो भविष्य के लिए इस घटना को सुरक्षित करने का कार्य कर रही थी। इनमें से कुछ फोटो दो-एक दिन बाद वहाँ के अखबारों में छपे और उनके साथ कार्यक्रम में दिए गए भाषण भी बड़े विस्तार से दिए गए। ये फोटो तिब्बत भी भेजे गए होंगे क्योंकि जब मैं ल्हासा वापस लौटा, तब वहाँ के चीनियों द्वारा चलाए जा रहे एक अखबार में मैंने इनमें से एक छपा देखा। इसमें चेयरमैन माओ के साथ मैं उनकी तरफ मुँह किए कुछ बताता-सा दिखाया गया था। तिब्बती सम्पादक ने इसे अपनी कल्पना से जोड़कर यह शीर्षक दिया था, कि हिज़ होलीनेस दलाई लामा चीन के महान कर्णधार को 'खाबसे' (लोसार की मिठाई) बनाने के बारे में बता रहे हैं।'

जिस दिन मुझे चीन से तिब्बत के लिए प्रस्थान करना था, अर्थात् सन् 1955 की वसन्त ऋतु में, मैं संचालन समिति की एक बैठक में भाग ले रहा था। लू शाओ-ची के भाषण के बीच, जो उसकी अध्यक्षता कर रहे थे, मेरा सुरक्षा अधिकारी अचानक दौड़ता हुआ आया और मुझसे कहने लगा—चेयरमैन माओ आपसे अभी मिलना चाहते हैं। वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसका मैं क्या उत्तर दूँ, मेरी समझ में नहीं आया। मैं एकदम उठकर जा नहीं सकता था और लू रुकने का नाम नहीं ले रहे थे। इसलिए मैंने कहा, "आप जाकर उनसे मेरे लिए छुट्टी माँग लें।" यह सुनते ही उसने उनसे बात कर ली।

हम सीधे माओ के कार्यालय गए। वे सचमुच मेरा इन्तज़ार कर रहे थे। यह हमारी अन्तिम भेंट थी। उन्होंने कहा कि वापस जाने से पहले वे मुझे सरकार के बारे में कुछ सलाह देना चाहते हैं। इसके बाद उन्होंने मुझे बताया कि सभाएँ कैसे आयोजित करना चाहिए, जनता की राय किस तरह जानना चाहिए और किस तरह

खास मुद्दों पर निर्णय लेने चाहिए। ये सब महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ थीं और मैं हमेशा की तरह बहुत ध्यानपूर्वक नोट्स लेता रहा। उन्होंने मुझे बताया कि किसी भी प्रकार की भौतिक प्रगति के लिए सम्प्रेषण बहुत आवश्यक होता है और इस बात पर बल दिया कि इस क्षेत्र में अधिक-से-अधिक युवा तिब्बतियों को तैयार किया जाना चाहिए उन्होंने कहा कि उन्होंने जब कभी मुझे कुछ देना चाहा, हमेशा कोशिश की कि किसी तिब्बती के माध्यम से ही वह मुझे दिया जाए। फिर मेरे पास आकर बोले, तुम्हारी प्रवृत्ति अच्छी है। धर्म विष है। पहली बात तो यह कि इससे जनसंख्या कम होती है, क्योंकि भिक्षु तथा भिक्षुणी ब्रह्मचारी रहते हैं; दूसरी यह कि इससे भौतिक की उपेक्षा होती है। यह सुनते ही मेरा सारा चेहरा जलने सा लगा और अचानक मैं भयभीत हो उठा। 'तो', मैंने सोचा, 'तुम धर्म के संहारक हो।'

काफी शाम हो चली थी। माओ ने जब ये कठोर शब्द कहे, मैंने यह दिखाते हुए जैसे कुछ लिख रहा हूँ, अपना चेहरा नीचे करके आधा छिपा लिया। यह करते हुए मैंने सोचा कि वह मेरा आतंक न भाँप लें; इससे मुझमें उनका विश्वास टूट सकता था। सौभाग्य से उस दिन किसी कारणवश फुंतसोग वानग्याल दुभाषिये का काम नहीं कर रहा था। यदि वह होता तो निश्चय ही मेरी भावना समझ गया होता—विशेषकर इसलिए कि बाद में हम बैठक की हर बात पर चर्चा करते थे।

फिर भी ज़्यादा देर तक मैं अपनी भावनाएँ छिपा नहीं सकता था। सौभाग्य से इसके कुछ ही मिनट बाद माओ ने भेंट समाप्त कर दी। जब वह हाथ मिलाने के लिए उठे तो मुझे बड़ी राहत महसूस हुई। आश्चर्य की बात यह है कि इतनी देर हो जाने पर भी उनकी आँखों में चमक थी और वे बहुत चुस्त थे। हम दोनों बाहर निकले, रात का सन्नाटा था। मेरी कार इन्तज़ार कर रही थी। उन्होंने मेरे लिए दरवाज़ा खोला और बंद किया। गाड़ी चलने लगी तो मैंने पीछे मुड़कर हाथ हिलाया। माओ पर मेरी अन्तिम दृष्टि यह थी कि वे सर्दी में कोट या हैट के बिना खड़े हैं और मेरी ओर देखते हुए हाथ हिला रहे हैं।

भय और आश्चर्य के बाद अब आई उलझन। वे मुझे समझने में ऐसी गलती क्यों कर बैठे? उन्होंने कैसे यह सोच लिया कि मैं पूर्णतः धार्मिक व्यक्ति नहीं हूँ? ऐसा क्या हुआ जिससे उनका यह विचार बना? मैं जो भी करता था, वह लिखा जाता था, यह मुझे पता था : मैं कितने घंटे सोया, कितनी कटोरी चावल खाए, हर बैठक में मैंने क्या-क्या कहा? मुझे इसमें सन्देह नहीं था कि मेरे कार्यों की साप्ताहिक रिपोर्ट तैयार करके उसकी समीक्षा की जाती थी और फिर उसे माओ को भेजा जाता था। इस सबके बावजूद इस बात पर उनका ध्यान क्यों नहीं गया कि मैं प्रतिदिन कम-से-कम चार घंटे प्रार्थना तथा ध्यान में व्यतीत करता हूँ, और इसके अलावा, जब तक मैं चीन में रहा, मेरे शिक्षक हमेशा मुझे धर्म-शिक्षा देते रहे। उनको यह

भी पता होगा कि इन दिनों मैं भिक्षुत्व की अन्तिम परीक्षा के लिए भी, जो अब ज़्यादा दूर नहीं थी, ज़्यादा-से-ज़्यादा छह-सात वर्ष होंगे, कठिन परिश्रम कर रहा था।

इसका एक सम्भव उत्तर यह हो सकता था कि उन्होंने वैज्ञानिक विषयों तथा भौतिक उन्नति में मेरी गम्भीर रुचि का ग़लत अर्थ लगाया। यह सच था कि मैं पीपुल्स रिपब्लिक के अनुकरण पर तिब्बत को भी आधुनिक बनाना चाहता था और यह बात भी सच है कि मेरी बौद्धिक प्रवृत्ति मूलतः वैज्ञानिक है। इसलिए यह हो सकता है कि बौद्ध दर्शन के अज्ञान के कारण माओ ने बुद्ध के इस निर्देश की उपेक्षा कर दी कि धर्म का पालन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं उसका परीक्षण कर लेना चाहिए। इस कारण मैं हमेशा नई खोजों और आधुनिक विज्ञान के सत्यों के प्रति अपने दिमाग को खुला रखता हूँ। शायद इसलिए माओ ने सोचा होगा कि मेरी धार्मिक साधना परम्परा के पालन के अलावा और कुछ नहीं है। खैर, कारण जो भी रहा हो, अब मुझे विश्वास हो गया कि उन्होंने मुझे बिलकुल ग़लत समझा था।

दूसरे दिन हम तिब्बत के लिए रवाना हुए। पिछले वर्ष की अपेक्षा इस बार यात्रा की गति तेज़ थी क्योंकि इस बीच शंघाई राजमार्ग का निर्माण हो चुका था। लौटते समय मैं अनेक स्थानों पर दो-तीन दिन रुका जिससे लोगों से मिल सकूँ, उन्हें चीन की अपनी यात्रा के बारे में बता सकूँ और उन्हें यह भी बताऊँ कि तिब्बत को मैं किस दिशा में ले जाने का इच्छुक हूँ। माओ के सम्बन्ध में अपनी धारणा बदलने के बाद भी मैं उन्हें महान नेता मानता था, और इससे भी अधिक, उन्हें ईमानदार व्यक्ति समझता था। वे धोखेबाज़ नहीं थे। इसलिए मुझे विश्वास था कि जब तक तिब्बत में उनके अधिकारी उनके आदेशों का पालन करते हैं और उनका नियन्त्रण इन अधिकारियों पर बना रहता है, तब तक आशावादी बने रहा जा सकता है। इसके अलावा, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं सकारात्मक दृष्टि से आगे बढ़ना ज़्यादा सही समझता था। नकारात्मक भाव से काम करने का कोई अर्थ नहीं था क्योंकि इससे स्थिति बद से बदतर ही हो सकती है। हालाँकि मेरे साथियों में बहुत कम ही इससे सहमत थे। बहुत थोड़े लोगों पर ही चीनी यात्रा का अच्छा प्रभाव पड़ा था और उन्हें डर था कि कम्युनिस्टों का कट्टर व्यवहार तिब्बत में दमन का कारण बन जाएगा। उनमें चीनियों के बारे में एक ऐसी कहानी भी फैल रही थी जो बहुत भयजनक थी। गान कुंग नामक एक उच्च चीनी अधिकारी लू शाओ-ची की आलोचना करता था, इसलिए उसकी बहुत खौफ़नाक तरीके से हत्या कर दी गई थी।

कुछ ही समय बाद मुझे भी अनेक प्रकार के सन्देह सताने लगे। जब मैं पूर्वी तिब्बत में ताशीक़िएल गया, तो वहाँ लोगों की भारी भीड़ जमा हुई। हज़ारों लोग दूर-दूर से मुझे देखने और मेरे प्रति सम्मान प्रकट करने आए थे। उनकी श्रद्धा-भक्ति

देखकर मैं भावुक हो उठा। लेकिन बाद में मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि चीनी अधिकारियों ने लोगों को यह कह कर धोखा देने की कोशिश की थी कि मैं, जिस दिन मुझे आना था, उस दिन न आकर एक हफ्ते बाद आऊँगा। यह झूठ उन्होंने इसलिए प्रचारित किया कि लोग मुझे देखने न आ सकें। इसलिए मेरे वहाँ से जाने के बाद भी हज़ारों लोग आते रहे।

मेरी अप्रसन्नता का एक कारण मेरी व्यक्तिगत सुरक्षा के प्रति उनका पागलपन भी था। जब मैं अपने गाँव गया, तब उन्होंने दबाव डाला कि मैं अपने रसोइयों के अलावा किसी और का बनाया खाना न खाऊँ। इसका अर्थ यह था कि मैं किसी की कोई भेंट स्वीकार न करूँ, भले ही वे मेरे परिवार से जुड़े क्यों न हों, जो अब भी ताक्तसेर में रह रहे थे। यानी इनमें से कोई सरल, श्रद्धालु, नम्र व्यक्ति दलाई लामा को मारने के लिए ज़हर देने की कोशिश कर सकता है। इससे मेरी माँ तो बड़ी परेशान हुईं। वे समझ नहीं पा रही थीं कि ऐसे लोगों से क्या कहें। फिर जब मैंने तिब्बतियों से बातचीत की और उनका हाल-चाल जानना चाहा, तो उनका जवाब यह होता था—चेयरमैन माओ, कम्युनिज़्म और पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना की कृपा से हम बहुत सुखी हैं—लेकिन यह कहते हुए उनकी आँखों में आँसू भरे होते थे।

ल्हासा तक अपने पूरे सफ़र में मैं जितने ज़्यादा लोगों से मिल सकता था, मिलता रहा। चीन की तरह यहाँ कोई कठिनाई नहीं थी। हज़ारों लोग अपने घरवालों, बूढ़ों और बीमारों को लेकर एक नज़र मुझे देखने और आशीर्वाद लेने के लिए आते थे। इन सभाओं में बहुत से चीनी भी शामिल होते थे। इसलिए मुझे उनसे यह कहने का भी अवसर मिलता था कि वे तिब्बतियों की भावनाओं को समझें। ऐसा करते हुए मैं उनसे यह भी पूछता था कि उनमें से कौन पार्टी के सदस्य हैं और कौन नहीं हैं। अनुभव ने मुझे सिखा दिया था कि सदस्य ज़्यादा स्पष्टवादी होते थे।

तिब्बत में कार्य कर रहे चीनी अधिकारियों का मेरे प्रति दृष्टिकोण बहुत मनोरंजक था। एक दफ़ा एक अधिकारी ने कहा, "चीन के लोग चेयरमैन माओ को इतना प्यार नहीं करते जितना तिब्बती दलाई लामा को करते हैं।" एक दफ़ा एक रक्षा-गार्ड, जो बड़ी सख्ती से लोगों से पेश आ रहा था, मेरी जीप के पास आकर पूछने लगा कि दलाई लामा कहाँ है। जब उसे जवाब मिला कि 'ये हैं' तो तुरन्त उसने हैट उतारा और मुझसे आशीर्वाद माँगा। जब मैंने चेंगडू छोड़ा था, तब बहुत-से चीनी, जो यात्रा में मेरे साथ रहे थे, रोने लगे। मैं भी उनकी भावुकता देखकर द्रवित हो उठा; मेरे मन में 'भी' वैचारिक मतभेदों के बावजूद, उनके प्रति आदर का भाव था।

कई महीने के बाद तिब्बतवासियों को फिर देखकर मैं चीन के निवासियों के साथ उनकी तुलना करके यह समझने की कोशिश करने लगा कि दोनों की स्थितियों में क्या अन्तर है। पहली बात तो यही कि दोनों के चेहरे देखते ही यह स्पष्ट हो

जाता था कि चीनियों की अपेक्षा तिब्बती कहीं अधिक प्रसन्न हैं। दूसरी बात यह कि चीन की तरह तिब्बत में कभी लड़कियों के पैर बाँधकर रखने और पुरुषों को बधिया करने की प्रथा नहीं थी, जो चीन में कुछ ही समय पहले तक व्यापक रूप से प्रचलित थी। लेकिन चीनी हमारे सामन्ती जीवन की आलोचना करते हुए अपनी कुरीतियों को बिल्कुल भूल जाते थे।

ल्हासा पहुँचने से एकदम पहले मैं खाम के एक कस्बे में, जहाँ अभी हाल में भूकम्प आया था, चाऊ एन-लाइ से मिला। यह भेंट मुझे आश्चर्यजनक लगी क्योंकि इसमें उन्होंने धर्म के पक्ष में कुछ अच्छी बातें कहीं। मुझे यह अजीब लगा क्योंकि यह कम्युनिज़्म की प्रकृति के विपरीत थीं। सम्भव है, वे माओ के निर्देश पर ये बातें कह रहे हों जिससे उनसे हुई अन्तिम भेंट का दुष्प्रभाव कुछ कम किया जा सके।

6

नेहरू का इन्कार

जून 1955 में जब मैं ल्हासा वापस लौटा, तब हमेशा की तरह हज़ारों लोगों ने मेरा स्वागत किया। लम्बे समय तक मेरे बाहर रहने के कारण वहाँ के तिब्बती बहुत दुखी थे, और अब अपने दलाई लामा को अपने बीच वापस पाकर उनकी खुशी का ठिकाना नहीं था। मुझे भी बहुत चैन मिला। पूर्वी तिब्बत की अपेक्षा यहाँ चीनियों का व्यवहार बहुत नियन्त्रित था। चीन से तिब्बत लौटते समय जगह-जगह सामान्य लोगों के अलावा स्थानीय राजनेताओं के अनगिनत प्रतिनिधि-मंडल मुझसे मिलने आए थे, जिन्होंने मुझसे आग्रह किया था कि अपने नए शासकों से मैं विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, अपनी नीतियाँ बदलने को कहूँ। उनका कहना था कि चीनी लोग तिब्बती जीवन-शैली पर सीधे प्रहार कर रहे हैं और इससे वे बहुत भयभीत थे।

जहाँ तक नगर का सवाल है, स्थितियाँ मोटे तौर पर सामान्य थीं, सिवाय इसके कि अब यहाँ ज़्यादा कारें और ट्रकें दिखाई देने लगी थीं जिनसे, इतिहास में पहली बार, शोर और धूल का बोलबाला हो गया था। भोजन की कमी भी कम हुई थी और स्पष्ट रूप से क्रोध व्यक्त करने के स्थान पर छुपा हुआ असन्तोष निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप में व्यक्त किया जाने लगा था। अब मैं वापस आ गया था, इसलिए आशा फिर पनपने लगी थी। स्वयं मैं यह महसूस करने लगा था कि माओ द्वारा सार्वजनिक रूप से मुझमें विश्वास व्यक्त किए जाने के कारण स्थानीय चीनी अधिकारियों में मेरा सम्मान बढ़ा होगा, और मैं भविष्य के बारे में आशावादी, यद्यपि सतर्क भी हो गया था।

फिर भी मैं महसूस कर रहा था कि दुनिया ने तिब्बत की तरफ़ से पीठ फेर ली है। सबसे बुरी बात यह थी कि हमारे सबसे समीपी पड़ोसी तथा धर्म के केन्द्र देश भारत, ने चुपचाप तिब्बत पर चीन के दावों को स्वीकार कर लिया था। अप्रैल 1954 में नेहरू जी ने चीन के साथ एक नई चीन-भारत संधि पर हस्ताक्षर किए थे, जिसमें पंचशील नामक एक आचार-संहिता थी, जिसके अनुसार यह तय पाया गया था कि भारत तथा चीन किसी भी परिस्थिति में एक दूसरे के 'आन्तरिक' मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इस सन्धि के अनुसार तिब्बत चीन का एक भाग था।

सन् 1955 की गर्मियां निश्चित रूप से मेरे अपने तिब्बती शासन तथा चीनी अधिकारियों के बीच बेचैन सह-अस्तित्व का सर्वोत्तम समय था। लेकिन तिब्बत में गर्मी का मौसम बहुत छोटा होता है, और बहुत जल्द खाम तथा आमदो में चीनी अधिकारियों की कार्यवाहियों की मेरे पास ख़बरें आने लगीं। लोगों को अपनी तरह रहने देने के स्थान पर वे उनपर तरह-तरह के 'सुधार' करने के दबाव डालने लगे। घर, ज़मीन और पशुओं पर नए कर लगा दिए गए और यही नहीं, मठों को भी करों की गिरफ़्त में ले लिया गया। बड़ी ज़मीदारियाँ ज़ब्त कर ली गईं और स्थानीय चीनी कार्यकर्ताओं द्वारा उन्हें अपनी राजनीतिक विचारधारा के अनुसार लोगों में बाँटा जाने लगा। ज़मीन के मालिकों को 'जनता के विरुद्ध अपराध' के आरोप लगाकर सार्वजनिक रूप से पीड़ित किया जाने लगा और सज़ाएँ दी जाने लगीं। मैं यह सुनकर दंग रह गया कि कुछ को मौत के घाट भी उतार दिया गया है। इसी के साथ चीनी अधिकारियों ने ऐसे हज़ारों खानाबदोश किसानों को पकड़ना-धकड़ना शुरू कर दिया जो इन उपजाऊ क्षेत्रों में गुज़र-बसर करते थे। इन नए मालिकों की दृष्टि में खानाबदोश होना बर्बरता की निशानी थी। (वास्तव में, चीनी भाषा में 'मांत्ज़े' शब्द का अर्थ बर्बर है और इसका प्रयोग वे तिब्बतियों के लिए करते हैं।)

एक परेशानी की खबर यह भी थी कि मठों के कार्यों में बहुत ज़्यादा हस्तक्षेप किया जा रहा है और स्थानीय जनता को धर्म से विमुख करने का प्रयत्न किया जाने लगा है। भिक्षु तथा भिक्षुणियों को तंग करने की तो इन्तिहा हो गई और उन्हें सार्वजनिक रूप से अपमानित किया जाता था। उदाहरण कि लिए, उन्हें सब प्रकार के कीड़े-मकोड़ों, चूहों और पक्षियों को नष्ट करने के कार्यक्रमों में, यह जानते हुए भी कि बौद्ध धर्म किसी भी प्रकार के जीवन को नष्ट करने का निषेध करता है, ज़बरदस्ती लगाया जाता था और यदि वे मना करते, तो उन्हें पीटा जाता था। ल्हासा-स्थित चीनी अधिकारी यह व्यवहार करते थे जैसे यह कोई खास बात नहीं है। वे राजधानी में धर्म में हस्तक्षेप नहीं करते थे, इसलिए वे आशा करते थे कि मैं अन्य स्थानों पर उनके धर्म विरोधी कार्यों को नज़रअन्दाज़ कर दूँगा।

वर्ष 1955 के अन्त में स्वायत्त तिब्बत प्रदेश की प्रारम्भिक समिति की जो माओ के सैनिक शासन का वैकल्पिक रूप था—तैयारियाँ शुरू हो गईं। परन्तु जब शरद् शिशिर में परिवर्तित होने लगा, तो पूर्व से बुरे समाचार आने लगे। खाम्पा जाति के लोग, जो किसी तरह का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते थे, चीनियों के व्यवहार के विरुद्ध हो गए। उनके लिए अपना व्यक्तिगत हथियार सबसे ज़्यादा मूल्यवान था, इसलिए स्थानीय कार्यकर्ताओं ने जब इन पर हाथ डाला, तो वे हिंसक हो उठे। पूरी सर्दियों में स्थिति तेज़ी से बिगड़ती ही चली गई। यह हुआ तो चीनी दमन के शिकार बड़ी संख्या में ल्हासा आने लगे, और उनके साथ आईं क्रूरता और अपमान की भयंकर

कहानियाँ। खाम्पा प्रतिरोध का चीनियों ने बर्बरता से दमन किया, उन्हें न केवल सार्वजनिक रूप से मारा-पीटा गया बल्कि फाँसियाँ भी दी गईं, और ये काम अक्सर उनके बच्चों से ही कराए जाते थे। साथ ही उनकी सार्वजनिक रूप से निन्दा भी की जाती थी। चीनी कम्युनिस्टों में इस उपाय का विशेष रूप से प्रचलन है। इसमें 'अपराधी' को इस तरह रस्सी से बाँधा जाता है कि उसके कँधे उखड़ जाएँ। इसके बाद जब यह व्यक्ति एकदम निरुपाय हो जाता है और दर्द से तड़पने लगता है, तब लोगों से इन्हें और पीड़ित करने को कहा जाता है—इनमें स्त्रियाँ तथा बच्चे भी शामिल किए जाते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि चीनियों की दृष्टि में इस विधि के प्रयोग से व्यक्ति का दिमाग बदला जा सकता है और इससे उसके राजनीतिक पुनर्शिक्षण में सहायता मिलती है।

सन् 1956 के आरम्भ में, लोसर पर्व के दिनों में, मुझे दिव्य वक्ता नेचुंग से भेंट में एक रोचक अनुभव हुआ। उसने दलाई लामा के प्रतीक नामों में से एक का उच्चारण करके यह घोषणा की कि उसका प्रकाश पश्चिम में चमकेगा। मैंने इसका अर्थ यह लगाया कि मुझे भारत जाना पड़ेगा, हालाँकि बाद में पता लगा कि इसका अर्थ ज़्यादा गम्भीर था।

इस समय की एक बड़ी चिन्ता यह थी कि खाम तथा आमदो से जो शरणार्थी आ रहे थे उनकी समस्या कैसे हल की जाए। शहर जैसे उबल रहा था। पहली दफ़ा नववर्ष के पर्व के साथ राजनीतिक रंग घुलने लगा था। शहर-भर में चीनियों के खिलाफ़ पोस्टर लग रहे थे और पर्चे बाँटे जा रहे थे। लोग सार्वजनिक सभाएँ करके अपने नेताओं का चुनाव कर रहे थे। ऐसा तिब्बत के इतिहास में पहली दफ़ा हो रहा था। इससे चीनी भी बिफरने लगे थे। उन्होंने तीन लोगों को यह कहकर गिरफ्तार कर लिया कि ये लोग लोकतन्त्र के विरुद्ध भावनाएँ भड़काने के ज़िम्मेदार हैं। लेकिन उनकी इस कार्यवाही का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मोनलाम पर्व के अवसर पर आमदोवा और खाम्पा के बड़े व्यापारियों ने वर्ष के अन्त में मनाए जाने वाले से-त्रि चेनमो अनुष्ठान के लिए पैसा इकट्ठा करना शुरू किया। इसमें तिब्बत के देवी-देवताओं को दलाई लामा के स्वास्थ्य तथा दीर्घायु के लिए नैवेद्य अर्पित किया जाता है। यह धन-संचय का कार्य इतना सफल रहा कि मेरे लिए एक रत्नजड़ित सोने का सिंहासन भी प्रदान किया गया। लेकिन मुझे बाद में पता चला कि इस कार्य का एक दूसरा पहलू भी था। यह आमदो और खाम के दोनों प्रदेशों की मैत्री का भी प्रतीक था जिसे 'चू शी गान्द्रुक', अर्थात् 'चार नदियाँ, छह शिखर', नाम दिया गया। इस संस्था ने बाद में एक व्यापक गुरिल्ला प्रतिरोध आन्दोलन चलाया।

मोनलाम के बाद स्वायत्त तिब्बत समिति के उद्घाटन की तैयारियाँ शुरू हो गईं—इसका अध्यक्ष मुझे बनाया जाना था। पिछले कुछ महीनों में चीनियों ने, तिब्बती

मज़दूरों की सहायता से, तीन बड़े भवन बनवा लिए थे : एक चीनी अतिथियों के लिए विश्रामगृह, एक स्नानघर और एक म्युनिसिपल हॉल। यह तीसरा भवन दो-मंज़िली आधुनिक इमारत थी जिसके हॉल में बारह सौ लोगों के बैठने की व्यवस्था थी, एक बड़ा मंच था और ऊपर गैलरियाँ थीं जिनमें तीन सौ और लोग बैठ सकते थे। यह पोटाला के ठीक सामने बनाया गया था।

अप्रैल 1956 में पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना के उप-प्रधानमंत्री तथा विदेशमंत्री मार्शल चेन यी अपनी पत्नी तथा एक बड़े प्रतिनिधि-मंडल के साथ चेयरमैन माओ के प्रतिनिधि के रूप में ल्हासा आए। चीन की अपनी यात्रा के दौरान मैं इनसे मिला था। ये व्यक्तिगत रूप से बड़े सज्जन थे और वक्ता के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी। एक दफ़ा इन्होंने पूरे सात घंटे लम्बा भाषण दिया था। मार्शल यी एक टाई पहनकर, जो उन्हें बड़ी प्रिय थी, लेकिन जिसे लगाना शायद उन्हें नहीं आता था, ल्हासा में प्रकट हुए। उनका पेट कमीज़ में छिप नहीं पा रहा था। लेकिन उन्हें इसकी परवाह नहीं थी, वे हँसी-मज़ाक पसन्द थे, शान-बान से रहते थे और आत्मविश्वास की भी उनमें कमी नहीं थी। ल्हासा में उनका कार्यक्रम बहुत प्रभावशाली रहा। चीनियों ने मनोरंजन के ज़बरदस्त इन्तज़ाम किए थे, और उनके सम्मान में अनेक भोज तथा भाषण दिए गए। जब म्युनिसिपल हॉल में समिति का औपचारिक उद्घाटन सम्पन्न हुआ, तब उसे चेयरमैन माओ तथा उनके प्रमुख सहयोगियों के विशाल चित्रों से सजाया गया। चीनी सैनिक बैंड बजाया गया और कम्युनिस्ट गाने गाए गए। समारोह बहुत भव्य था। इसमें चेन यी ने भाषण दिया—जो इस बार काफ़ी छोटा था—जिसमें उन्होंने घोषणा की कि 'तिब्बत को उसकी कुरीतियों से मुक्त करने के लिए आवश्यक सुधार' किए जाएँगे, क्योंकि तिब्बत को 'उन्नत' चीनी राष्ट्रीयता के स्तर तक पहुँचाने के लिए ये बहुत आवश्यक हैं। इसके बाद चीनियों तथा तिब्बतियों दोनों की ओर से प्रशंसात्मक भाषण हुए जिनमें समाजवाद तथा पार्टी को सर्वोपरि बताते हुए तिब्बत में चीन की उपस्थिति का स्वागत किया गया। मुझे भी एक भाषण देना पड़ा जिसमें मैंने विश्वास व्यक्त किया कि तिब्बतियों द्वारा स्वीकृत गति से चीनी अपने सुधार-कार्य करेंगे और उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

अंग्रेज़ी में इस समिति का पूरा नाम *'प्रिपेयरेटरी कमेटी फॉर दि ऑटोनॉमस रीजन ऑफ तिब्बत'* था और इसके अनुसार प्रबन्धन के अनेक विभाग बनाए जाने थे, जैसे वित्त, शिक्षा, कृषि, यातायात, चिकित्सा, धर्म और सुरक्षा के विभाग और इनका संचालन ज़्यादातर तिब्बतियों द्वारा किया जाना था। साथ ही, चामडो का शासन भी ल्हासा को वापस दे दिया जाना था। अब इसको नाम दिया गया तिब्बत *ऑटोनॉमस रीजन*। लेकिन, खाम तथा आमदो का नियन्त्रण बीजिंग के हाथ में ही रहना था। कमेटी में सभी प्रदेशों से इक्यावन सदस्य होने थे, जिनमें चीनियों की संख्या केवल

पाँच थी। इसके साथ काशाग तथा राष्ट्रीय परिषद् भी बने रहने थे, हालाँकि यह स्पष्ट था कि धीरे-धीरे इनका महत्त्व कम करके उसी को सम्पूर्ण अधिकार दे दिए जाने थे।

कागज़ों में यद्यपि समिति का उद्देश्य स्वायत्तता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम प्रतीत होता था, लेकिन व्यवहार में स्थिति इससे बिलकुल भिन्न थी। जब चेन यी ने इक्यावन सदस्यों के नामों की घोषणा की तब पता चला कि—किसी भी सदस्य का चुनाव नहीं किया गया—कुछ को छोड़कर सब चीनियों के द्वारा ही पदासीन किए गए थे, और उनका स्थान तश्न सम्पत्ति तभी तक सुरक्षित थी जब तक वे किसी तरह का कोई विरोध न करें। दूसरे शब्दों में कहना हो तो यह सब एक धोखा था।

लेकिन इसमें कुछ आश्चर्य भी थे। एक यह कि नवस्थापित सुरक्षा विभाग का लोबसांग सामतेन को सदस्य बनाया गया था। वह बहुत विनयी तथा दयाशील व्यक्ति था, इसलिए इस कार्य के लिए बिलकुल उपयुक्त नहीं था। जब वह अपने साथी चीनी सदस्य के साथ एक मीटिंग से लौटा, तो मुझे उसका चेहरा अब तक याद है। मीटिंग में तब तक सब कुछ ठीक चला जब तक उसके साथी ने पलट कर उससे यह न पूछा, 'उसे मार डालो' के लिए तिब्बती में क्या शब्द हैं—लोबसांग थोड़ी चीनी भाषा जानता था। इस क्षण तक वह समझता रहा था कि उसका नया अफसर बड़ा सरल और सुशील होगा, लेकिन इस प्रश्न ने उसकी बोलती बंद कर दी। उसके लिए एक कीड़ा मारने तक का विचार कल्पना से बाहर की बात थी; उसे कोई उत्तर नहीं सूझा। शाम को जब वह नोरबुलिंग्का आया तो वह एकदम उखड़ा हुआ था। उसने पूछा, 'अब मैं क्या करूँ' चीनी और तिब्बती मनोवृत्तियों में कितना भारी अन्तर है, उसका यह दूसरा उदाहरण है। एक के लिए मनुष्य की हत्या जीवन का आवश्यक अंग है, दूसरे के लिए यह विचार से भी बाहर की वस्तु है।

समिति के उद्घाटन के कुछ ही दिन बाद मैंने सुना कि खाम के चीनी अधिकारियों ने वहाँ के स्थानीय नेताओं को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न किया। उन्होंने सबको एक स्थान पर एकत्र कर उनसे 'लोकतन्त्री सुधारों' पर मतदान करने को कहा, जिसका अर्थ विशेष रूप से कई हज़ार कृषि को-ऑपरेटिव्स की स्थापना करना था जिनके अन्तर्गत गार-छू और कारज़े क्षेत्रों के एक लाख से अधिक परिवार आते थे। 350 व्यक्तियों में से लगभग दो सौ व्यक्तियों ने इसका समर्थन किया, और मैंने तथा मेरे मंत्रिमंडल ने इसे स्वीकृति दे दी। चालीस लोगों ने कहा कि वे इसे ज्यों का त्यों स्वीकार करने को तैयार हैं और शेष ने इन्हें स्वीकार करने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि इन तथाकथित सुधारों को वे हर्गिज़ पसन्द नहीं करते। इसके बाद उन्हें घर वापस भेज दिया गया।

एक महीने के बाद विरोधियों को फिर बुलाया गया, लेकिन इस बार उन्हें जोमधा ज़ौंग नामक किले में इकट्ठा किया गया, और जैसे ही वे भीतर पहुँचे, पाँच

हज़ार चीनी सैनिकों ने किले को चारों तरफ़ से घेर लिया। अब क़ैदियों से कहा गया कि उन्हें तब तक नहीं छोड़ा जाएगा जब तक वे न केवल इन सुधारों का समर्थन करेंगे बल्कि यह भी वादा करेंगे कि इन्हें लागू करने में भी पूरी मदद करेंगे। दो हफ्ते की कैद के बाद खाम्पाओं ने हथियार डाल दिए क्योंकि उनके सामने इसके अलावा कोई रास्ता नहीं था। यह सुनकर चीनियों ने उस रात किले से सैनिक हटा लिए; लेकिन मौका पाकर भीतर बंद सभी व्यक्ति भाग निकले और पहाड़ियों में जा छिपे। इस तरह एक झटके में चीनियों ने इनको डाकुओं का केन्द्र बना दिया जो बाद में वर्षों तक चीनियों को परेशान करते रहे।

लगभग इसी समय मुझे एक समाचार पत्र मिला जिसे खाम के कारज़े नगर में चीनी प्रकाशित करते थे। मैंने इसमें एक फोटो छपा देखा जिसमें कटे हुए सिरों की एक क़तार दिखाई गई थी। इसके विवरण में कुछ ऐसे शब्द कहे गए थे, कि ये सिर 'प्रतिक्रियावादी अपराधियों' के हैं। मैं पहली बार चीनी अत्याचार के स्पष्ट प्रमाण देख रहा था। इसके बाद मुझे विश्वास हो गया कि अपने चीनी स्वामियों के बारे में जो भी भयंकर बातें सुनने में आती हैं, वे सभी सच होनी चाहिए। तभी चीनियों ने यह महसूस कर लिया कि इस पत्र का ग़लत प्रभाव पड़ रहा है, इसलिए उन्होंने इस अंक को पैसे देकर भी वापस लेने का प्रयत्न किया।

इस नई सूचना तथा इस जानकारी के पश्चात् कि यह समिति छलावे के अलावा और कुछ नहीं है, मैं यह सोचने लगा कि अब भविष्य के लिए क्या कोई आशा की जा सकती है। मेरे पूर्ववर्ती की भविष्यवाणी अब एकदम सही साबित होने लगी थी। मेरा हृदय दुख से भर उठा। बाहर से मेरी ज़िन्दगी सामान्य रूप से चल रही थी—मैं प्रार्थना और ध्यान करता था और शिक्षकों से परिश्रमपूर्वक पढ़ता रहता था। साथ ही सदा की तरह धार्मिक उत्सवों और अनुष्ठानों में भाग लेता था और समय-समय पर लोगों को उपदेश भी देता था। कभी-कभी अपने अधिकार का प्रयोग करके ल्हासा से बाहर निकलकर दूसरे मठों की यात्रा भी करता था। इस तरह की एक यात्रा में मैं रेटिंग मठ गया जो ल्हासा से कई दिन की दूरी पर उत्तर में स्थित था, और जो पिछले रीजेंट का स्थान था। यात्रा आरम्भ करने से पहले मुझे निर्वासन में रह रहे एक महत्त्वपूर्ण तिब्बती का पत्र प्राप्त हुआ। इन दिनों ल्हासा की स्थिति इतनी गम्भीर हो गई थी कि मुझे भी सन्देह हुआ और मैंने इसे खोलकर पढ़ने के बजाय तकिये के नीचे रख दिया कि रेटिंग के लिए निकलने के बाद इसे पढ़ूँगा।

नगर से बाहर निकलकर मुझे बड़ी राहत महसूस हुई क्योंकि यहाँ रहते हुए चीनी अधिकारियों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने तथा इसी के साथ यह प्रयत्न करने, कि उनके द्वारा की जाने वाली हानियाँ कितनी कम की जा सकें, इन दोनों के संघर्ष का पागलपन यहाँ बर्दाश्त के बाहर हो उठा था। हमेशा की तरह मैं बिना किसी

आडंबर के बाहर निकला और यह भी चेष्टा की कि कोई पहचान न सके। इस प्रकार मैं लोगों से मिल-जुल सकता था और उनकी कठिनाइयाँ भी जान सकता था। एक बार रेटिंग से कुछ ही दूर पर मेरी एक पशुपालक से बात हुई। उसने पहले मुझसे पूछा कि मैं कौन हूँ तो मैंने उसे बताया कि मैं दलाई लामा का एक सेवक हूँ। यह लम्बा, तगड़ा आदमी था। और इसके बाल याक की तरह बिखरे हुए थे। हम खुले मैदानों में उसकी ज़िन्दगी और समस्याओं पर देर तक बात करते रहे। उसे चीनियों के बारे में ज़्यादा कुछ पता नहीं था और न वह कभी ल्हासा ही गया था। वह बंजर सूखी ज़मीन से अपनी आजीविका कमाने में इतना व्यस्त था कि शहरों में क्या हो रहा है, यह जानने का उसे समय ही नहीं मिलता था।

उसकी इस सब सरलता के बावजूद मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि धर्म में उसकी गहरी आस्था थी और इस वीरान प्रदेश में भी बौद्ध धर्म फल-फूल रहा था। दुनिया के किसानों की तरह वह भी प्रकृति तथा वातावरण के अनुरूप जीवन जीता था और इससे बाहर की ज़िन्दगी से उसका कोई वास्ता नहीं था। मैंने उससे स्थानीय अधिकारियों के बारे में प्रश्न किए। उसने उत्तर दिया कि ज़्यादातर लोग ठीक हैं, हालाँकि कुछ अधिकार भी जताते हैं। यह बातचीत मुझे बहुत अच्छी लगी और इससे मुझे कुछ अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त हुई। मुझे यह विशेष ज्ञान हुआ कि, यद्यपि यह व्यक्ति बिलकुल शिक्षित नहीं था, यह अपने जीवन से सन्तुष्ट था और ज़रा सी भी भौतिक सुविधा प्राप्त न होने पर भी उसे यह ज्ञान प्राप्त था कि उसकी ज़िन्दगी ठीक उसी प्रकार चल रही है जैसी वह अगणित पीढ़ियों से चलती चली आ रही है और इसी प्रकार उसकी सन्तानों की सन्तानों के लिए भी भविष्य में चलती रहेगी। लेकिन इसी के साथ मैंने यह भी महसूस किया कि दुनिया की यह धारणा अब और ज़्यादा उपयुक्त नहीं रही, कि तिब्बत के लोग अब और ज़्यादा दिन शान्तिपूर्ण अलगाव का जीवन, चीनी कम्युनिस्टों के शासन का जो भी परिणाम हो, वे नहीं बिता सकते। जब हम दोनों अलग हुए, एक-दूसरे के मित्र बन गए थे।

अब मैं कहानी को आगे बढ़ाऊँ। दूसरे दिन मार्ग में पड़ने वाले अगले गाँव में लोगों को उपदेश तथा आशीर्वाद देने के लिए निमंत्रित किया गया। मेरे लिए एक सादा-सा सिंहासन बनाया गया और सैंकड़ों लोग इकट्ठे हुए। आरम्भ में सब कुछ ठीक-ठाक चला, फिर मैंने देखा कि मेरा पिछले दिन का दोस्त भी पीछे खड़ा है। उसके चेहरे पर बड़े अविश्वास का भाव था—वह अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर पा रहा था। मैं उसे देखकर मुस्कराया भी, लेकिन वह आँखें फाड़े मुझे देखता ही रहा। मुझे उसे धोखा देने पर अफसोस हुआ।

जब मैं अन्ततः रेटिंग मठ पहुँचा और वहाँ लगी प्रमुख प्रतिमा के सामने सिर झुकाकर खड़ा हुआ, तब मुझे याद है कि मैं अचानक बहुत भावुक हो उठा। मुझे

लगने लगा कि इस स्थान से मैं गहराई से जुड़ा रहा हूँ। इसके बाद मैंने कई दफ़ा सोचा है कि यहाँ एक आश्रम बनाऊँ और जीवन के अन्तिम दिन यहीं व्यतीत करूँ।

सन् 1956 की गर्मियों में एक ऐसी घटना घटी जिसने मुझे इतना कष्ट दिया जितना उससे पहले या बाद में किसी भी घटना ने आज तक नहीं दिया है। खाम्पा-आमदोवा संघ को अपने कार्यों में ज़बरदस्त सफलता प्राप्त होने लगी। मई-जून तक चीनी सैनिक मार्ग के अनेक खंड नष्ट कर दिए गए और बहुत से पुल उड़ा दिए गए। इसका नतीजा यह हुआ कि मुक्ति सेना ने चालीस हज़ार नए सैनिक भर्ती कर लिए। मुझे वास्तव में इसी का भय था। मैं जानता था कि प्रतिरोध चाहे जितनी सफलता क्यों न प्राप्त कर ले, अन्तिम सफलता सेना को ही उसके संख्या-बल तथा शस्त्र-बल के कारण प्राप्त होगी। लेकिन मैं यह नहीं सोच पाया था कि वे खाम के लिथांग मठ को भी हवाई हमले करके बमों से उड़ा देंगे। यह समाचार सुनकर मैं रो पड़ा। मुझे विश्वास नहीं हुआ कि मनुष्य एक-दूसरे के प्रति इतना क्रूर हो सकता है।

इस बमबारी के बाद उन स्त्रियों तथा बच्चों पर दमन का निर्दय क़हर ढाया गया जिनके पति और पिताओं ने प्रतिरोध में भाग लिया था और भिक्षु तथा भिक्षुणियों पर अकल्पनीय अत्याचार किए गए। उन्हें गिरफ्तार करने के बाद, सार्वजनिक रूप से उन्हें एक-दूसरे के साथ अपना ब्रह्मचर्य भंग करने को बाध्य किया गया तथा लोगों की हत्याएँ करवाई गईं। मेरी समझ में नहीं आया कि मैं क्या करूँ, लेकिन कुछ करना आवश्यक लग रहा था। मैंने तुरन्त जनरल चियांग कुओ-हा से भेंट की माँग की और उन्हें बताया कि मैं चेयरमैन माओ को इस सम्बन्ध में पत्र लिखने का विचार कर रहा हूँ। मैंने उससे पूछा, "यदि आप लोग ऐसा व्यवहार करेंगे तो तिब्बती चीनियों पर कैसे विश्वास कर सकते हैं?" मैंने उससे साफ़-साफ़ कहा कि उन्होंने जो आचरण किया, वह ग़लत है। लेकिन इससे तर्क को ही बढ़ावा मिला। मेरी आलोचना मातृदेश तथा उनके लिए अपमान है जो मेरे लोगों की रक्षा तथा सहायता करना चाहते हैं। यदि मेरे कुछ देशवासी सुधार नहीं चाहते—सुधार आम जनता का शोषण रोककर उसे लाभ पहुँचाने के लिए किए जाते हैं—तो उन्हें दंड देने के अलावा क्या किया जा सकता है? उसका तर्क पागलों का तर्क था। अन्त में मैंने उससे कहा कि इससे आम आदमी को यातना देने का समर्थन नहीं किया जा सकता, न हवाई बमबारी का समर्थन किया जा सकता है।

इस बहस का कोई परिणाम नहीं निकलना था। जनरल अपनी बात पर अड़ा रहा। अब मेरी एकमात्र आशा चेयरमैन माओ ही थे जो अपने अधीनस्थों द्वारा उनके निर्देशों का उल्लंघन करने के लिए कुछ कर सकते थे।

मैंने तुरन्त पत्र भेज दिया। उसका कोई उत्तर नहीं आया। मैंने दूसरा पत्र लिखा जो चीनी अधिकारियों की मार्फत ही भेजा गया। इसी के साथ मैंने एक तीसरा पत्र भी फुंतसोग वानग्याल के द्वारा व्यक्तिगत रूप से भिजवाया। इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। कई हफ्ते बीत गए और बीजिंग से कोई उत्तर नहीं प्राप्त हुआ, इसलिए अब मैंने पहली बार चीनी नेताओं के इरादों पर सन्देह करना शुरू किया। इस घटना ने मुझे हिला दिया था। अपनी चीन यात्रा के बाद, और वहाँ के कई नकारात्मक प्रभावों के बाद भी मोटे तौर पर कम्युनिस्टों के प्रति मेरा भाव सकारात्मक ही था। अब मैंने चेयरमैन माओ के शब्दों को इन्द्रधनुष की तरह देखना आरम्भ कर दिया, जो सुनने में तो खूबसूरत लगते हैं लेकिन जिनका कोई अर्थ नहीं होता।

समिति के उद्घाटन के अवसर पर फुंतसोग वानग्याल ल्हासा आए थे। उनसे फिर मिलकर मुझे बहुत खुशी हुई थी। वे हमेशा की तरह कम्युनिज़्म के कट्टर समर्थक थे। अप्रैल के कार्यक्रम के बाद वे कुछ चीनी अधिकारियों के साथ पड़ोसी प्रदेश की यात्रा पर चले गए। जब लौटे तो उन्होंने मुझे एक मनोरंजक कहानी सुनाई। किसी चीनी अधिकारी ने किसी सुदूर कृषि समुदाय के निवासी एक व्यक्ति से प्रश्न किया कि वह नए शासन के बारे में क्या सोचता है। उसने जवाब दिया कि वह 'बहुत खुश है, सिवाय इस नए टैक्स के।' 'कौन सा नया टैक्स?' अधिकारी ने पूछा, 'यही तालियाँ बजाने का टैक्स! जब भी कोई चीनी यहाँ आता है, हम सबको तालियाँ बजाने के लिए बुलाया जाता है।'

मुझे हमेशा यह लगता था कि जब तक फुंतसोग वानग्याल को चेयरमैन माओ का विश्वास प्राप्त रहेगा, तब तक तिब्बत के लिए आशा की जा सकेगी। इसलिए जब वह बीजिंग छोड़कर यहाँ आए तो मैंने जनरल चियांग चिन-वू से प्रार्थना की कि उन्हें तिब्बत में पार्टी के सेक्रेटरी पद पर नियुक्त कर दिया जाए। शुरू में तो इस विचार को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया गया, लेकिन बाद में बहुत समय तक इस बारे में कुछ नहीं सुना गया।

सन् 1957 के अन्त में एक चीनी अधिकारी ने मुझे सूचना दी कि फुंतसोग वानग्याल अब तिब्बत नहीं भेजे जाएँगे क्योंकि वे खतरनाक आदमी हैं। यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ क्योंकि मैं जानता था कि उनके सम्बन्ध में चेयरमैन माओ के बहुत अच्छे विचार हैं। अधिकारी ने मुझे बताया कि इसके कई कारण हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि जब ल्हासा आने से पहले कुछ समय वे खाम में रहे थे, तब उन्होंने एक अलग तिब्बती कम्युनिस्ट पार्टी बनाई थी जिसके सदस्य चीनी नहीं हो सकते थे। इस अपराध के लिए उन्हें पदच्युत कर दिया गया है और उनके तिब्बत आने पर रोक लगा दी गई है। यह सुनकर मुझे बहुत दुख हुआ, और दूसरे वर्ष, यह सुनकर और भी सदमा पहुँचा कि उन्हें पदच्युत करके गिरफ़्तार कर लिया

गया है। अन्ततः उन्हें जेल जाना पड़ा, उन्हें 'नॉन-पर्सन' (non-person) अमानव की संज्ञा दी गई, और 1970 के अन्तिम वर्षों तक उन्हें जेल में रहना पड़ा। निष्ठावान तथा ईमानदार कम्युनिस्ट होने के बाद भी उन्हें यह सब झेलना पड़ा। इस घटना से मुझे यह मानने को विवश होना पड़ा कि चीनी नेतृत्व सही अर्थों में मार्क्सवादी नहीं है, जो पूरी दुनिया के लोगों को सुखी जीवन प्रदान करने के लिए समर्पित है, बल्कि यह बड़े प्रबल रूप में राष्ट्रवादी है। सच्चाई यह है कि ये चीनी अन्ध-देशभक्त तथा संकीर्ण उग्र-राष्ट्रवादी हैं, जो कम्युनिस्टों के वेश में दुनिया को धोखा दे रहे हैं।

फुंतसोग वानग्याल अभी जीवित हैं, यद्यपि बहुत वृद्ध हो चुके हैं। मेरी बहुत इच्छा है कि उनके देहान्त से पहले एक बार उनसे मिल सकूँ। पुराने, अनुभवी तिब्बती कम्युनिस्ट के रूप में मेरे मन में उनके लिए बड़ा सम्मान-भाव है। चीन के आधुनिक अधिकारी यह जानते हैं और मुझे आशा है कि मैं उनसे पुनः मिल सकूँगा।

सन् 1956 के वसन्त में एक अच्छे मेहमान ल्हासा आए, सिक्किम के राजकुमार—यह छोटा-सा राज्य भारत की हमारी सीमा से लगा और द्रोमो के बिलकुल पास है। वे बड़े ज़िन्दादिल व्यक्ति हैं—लम्बे, स्वस्थ, नम्र और शांत, और लम्बे कान। वे अपने साथ भारतीय महाबोधि सोसाइटी की ओर से, जिसके वे अध्यक्ष थे, एक पत्र लाए जिसमें मेरे लिए एक सुसमाचार था। इस संस्था ने, जो एशिया उपमहाद्वीप के निवासी समग्र बौद्ध समाज का प्रतिनिधित्व करती है, भगवान बुद्ध की 2500वीं जयन्ती के अवसर पर आयोजित विशेष समारोह में मुझे निमन्त्रित किया था।

मैं गद्‌गद हो उठा। हम तिब्बतियों के लिए, भारत आर्यभूमि है—पवित्रतम देश। मैं सारे जीवन इसकी यात्रा करने की कामना करता रहा, यह सबसे बड़ी तीर्थ यात्रा थी। इसके अलावा भारत यात्रा से मुझे पंडित नेहरू तथा महात्मा गाँधी से जुड़े व्यक्तियों से मिलने का अवसर प्राप्त हो सकता था। मैं भारत सरकार से सम्बन्ध बनाने के लिए बेचैन था और यह जानना चाहता था कि लोकतन्त्र किस प्रकार काम करता है। यह भी सम्भव था कि चीनी अधिकारी मुझे जाने ही न दें, लेकिन मैं प्रयत्न करना चाहता था। इसलिए मैं यह पत्र जनरल फ़ानमिंग के पास ले गया।

दुर्भाग्य से, चीनी अधिकारियों में फ़ानमिंग ही सबसे कठोर व्यक्ति थे। उन्होंने नम्रता से मेरा स्वागत किया, लेकिन जब मैंने उन्हें पत्र दिखाया, तो वे टालमटोल करने लगे। उन्होंने कहा कि यह अच्छा विचार नहीं है। भारत में बहुत-से प्रतिक्रियावादी हैं। यह खतरनाक जगह है। इसके अलावा, समिति इन दिनों बहुत व्यस्त है और उन्हें सन्देह है कि मैं इसके लिए समय निकाल पाऊँगा। 'जो हो', उन्होंने कहा, "यह एक धार्मिक संस्था का निमन्त्रण मात्र है। भारत सरकार से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए चिन्ता की कोई बात नहीं, आप इसे अस्वीकार कर दें।" यह सुनकर मैं पस्त हो गया। इससे स्पष्ट था कि चीनी अधिकारी मुझे अपने धार्मिक कर्तव्य भी नहीं निभाने देना चाहते।

इसके बाद कई महीने गुज़र गए और बुद्ध जयन्ती की कोई चर्चा नहीं हुई। फिर, अक्टूबर के मध्य में फ़ानमिंग ने मुझसे सम्पर्क करके पूछा कि भारतीय यह जानना चाहते हैं कि मैं किसे प्रतिनिधि-मंडल का नेता नियुक्त करना चाहता हूँ। मैंने उत्तर दिया कि मैं अपने कनिष्ठ अध्यापक त्रिजंग रिन्पोचे को नेता नियुक्त करना चाहता हूँ, और जैसे ही वे अनुमति दे देंगे, प्रतिनिधि-मंडल चला जाएगा। दो हफ्ते और बीत गए और मैंने इस विषय को एक तरह से दिमाग से निकाल ही दिया था, कि अचानक चियांग चिन-वू, जो अभी-अभी बीजिंग से लौटे थे, मुझे यह बताने आए कि चीन सरकार ने यह तय किया है कि मेरा इसमें जाना ठीक रहेगा। मैं इतना प्रसन्न हुआ कि पहले तो अपने कानों पर विश्वास ही न कर सका। लेकिन, उन्होंने चेतावनी दी, "वहाँ सावधान रहना। भारत में प्रतिक्रियावादी और जासूस बहुत हैं। यदि आपने उनके साथ कुछ करने की कोशिश की, तो हंगरी और पोलैंड में जो हुआ है, वही तिब्बत के साथ भी होगा।" (इन देशों में हुए विद्रोह को रूस ने बलपूर्वक कुचल दिया था।) जब वे अपनी बात कह चुके तो मैंने सोचा कि मुझे अपनी खुशी छिपाकर उसके स्थान पर गहरी चिन्ता व्यक्त करनी चाहिए। मैंने कहा कि मुझे साम्राज्यवादियों और प्रतिक्रियावादियों से सम्बन्धित इस सूचना पर गहरा आश्चर्य और परेशानी हुई है। यह सुनकर चियांग काफी सन्तुष्ट लगे और उनकी वाणी में परिवर्तन आया। वे बोले, 'ज़्यादा चिन्तित होने की ज़रूरत नहीं है। यदि आपको कोई कठिनाइयाँ महसूस हों तो वहाँ हमारे राजदूत से सहायता ले सकते हैं।' इसके बाद यह मीटिंग खत्म हो गई। जनरल साहब खड़े हो गए और पारम्परिक औपचारिकताएँ पूरी करके चले गए। उनके बाहर निकलते ही मैं भी दौड़ा और भरपूर मुस्कान के साथ यह समाचार अपने सेवकों को सुना आया।

रवाना होने से पहले के कुछ दिनों में मुझे चीनी अधिकारियों के इस अचानक हुए मत-परिवर्तन के सम्बन्ध में एक मनोरंजक कहानी सुनाई दी। पता चला कि ल्हासा-स्थित भारतीय वाणिज्य-दूतावास ने मेरे अधिकारियों से पूछा था कि मैं इस समारोह में शामिल हो रहा हूँ या नहीं। उनके 'ना' कहने पर दूतावास ने यह सन्देश भारत सरकार को भेज दिया—जिसके बाद पंडित नेहरू ने स्वयं मेरी ओर से हस्तक्षेप किया। लेकिन चीनी अधिकारी फिर भी तैयार नहीं हुए। उसके बाद जब जनरल चियांग ल्हासा आए तो उन्होंने पाया कि दूतावास ने इस हस्तक्षेप के बारे में कई लोगों को बता दिया है और इसलिए इससे भारत-चीन सम्बन्धों पर असर पड़ सकता है—तब कहीं चीनी नेता अपना मन बदलने को तैयार हुए।

मैंने नवम्बर 1956 के अन्त में ल्हासा छोड़ा। मैं बहुत प्रसन्न था कि इस यात्रा में मैं जहाँ चाहूँ स्वतन्त्रता से घूमूँगा और मेरे साथ हर समय कोई चीनी अधिकारी देखभाल के लिए नहीं चलेगा। मेरा दल काफी छोटा था, और इस बीच चीनियों

द्वारा पूरे तिब्बत में, उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम सैनिक मार्ग बनवा दिए जाने के कारण मैं एकदम सिक्किम तक कार द्वारा बड़े आराम से पहुँच गया। शिगात्से पर हम पैंचेन लामा को लेने के लिए रुके, और उसके बाद नाथू दर्रे पर स्थित चुंबिथांग, जहाँ दोनों देशों की सीमा थी, जा पहुँचे। यहाँ कारें छोड़कर हम घोड़ों पर सवार हुए और जनरल तिन मिंग-यी से बिदा ली, जो ल्हासा से हमारे साथ आए थे। वे मुझे दूसरे देश में जाते देखकर सचमुच बड़े दुखी लग रहे थे। मैं सोचता हूँ कि उन्हें पूरा विश्वास था कि विदेशी साम्राज्यवादियों, जासूसों, जालसाज़ों और कम्युनिस्टों के सब तरह के दुश्मनों से भरे इस देश में मुझे सचमुच बहुत खतरा है। उन्होंने जनरल चियांग की तर्ज़ पर मुझे फिर चेतावनी दी और कहा कि मैं बहुत सावधान रहूँ, और यह भी समझाया कि जिन भी विदेशी प्रतिक्रियावादियों से मैं मिलूँ, उन्हें यह बताऊँ कि 'मुक्ति' के बाद से तिब्बत ज़बरदस्त प्रगति कर रहा है। उसने कहा कि यदि ये लोग विश्वास न करें तो उनसे मैं कहूँ कि वे स्वयं तिब्बत आएँ और अपनी आँखों से यहाँ हुई प्रगति देखें। मैंने भी उन्हें इस विषय में पूरी तरह विश्वस्त करने का प्रयत्न किया। इसके बाद मैं झटपट अपनी घोड़ी पर सवार होकर धुंध से भरी अपनी लम्बी राह पर चल पड़ा।

नाथू दर्रे के ऊपर एक बड़ा-सा टीला था जिस पर प्रार्थना के रंगीन झंडे लगे थे। रिवाज के अनुसार हमने भी वहाँ अपने-अपने पत्थर, रखे और ज़ोरदार आवाज़ में नारा लगाया, 'ल्हा ग्याल लो!' यानी देवताओं की जय हो, और फिर सिक्किम राज्य में नीचे उतरने लगे।

दर्रे के नीचे, दूसरी ओर धुँधलके में ही सैनिक बैंड बजाते हुए एक दल ने हमारा स्वागत किया। इसने तिब्बत तथा भारत की राष्ट्रीय धुनें बजाईं। इनमें कुछ अधिकारी भी थे, जिनमें एक अपा बी. पन्त थे, जो ल्हासा में वाणिज्य दूत रहे थे, और इस समय सिक्किम में राजनीतिक अधिकारी थे। एक और थे सिक्किम के ही सोनम तोपग्याल काज़ी जिन्हें मेरे दुभाषिये का कार्य करना था। इनके अलावा, मेरे मित्र थोंडुप नामग्याल थे और हाँ, राजकुमार तो थे ही।

सीमा से मुझे त्सोंगो झील पर बनी एक छोटी-सी बस्ती में ले जाया गया, जहाँ हमें रात बितानी थी। अब तक बहुत अँधेरा हो गया था। सर्दी भी बहुत थी और ज़मीन पर ढेरों बर्फ जमी थी। यहाँ पहुँचकर मुझे एक सुखद आश्चर्य हुआ—ताक्तसेर रिन्पोचे और ग्यालो थोंडुप, जिनसे मैं कई वर्षों से नहीं मिला था, वहाँ मेरे स्वागत को मौजूद थे। मेरे साथ लोबसांग सामतेन और शिशु तेनज़िन चोएग्याल दोनों आए थे, इसलिए जीवन में पहली बार हम पाँचों भाई अब एकसाथ हुए थे।

दूसरे दिन हम सिक्किम की राजधानी गंगटोक गए, पहले घोड़ी पर सवार होकर, फिर जीप से और यात्रा के अन्तिम चरण में सैलून गाड़ी से। यहाँ हमारी भेंट सिक्किम

के महाराजा सरताशी नामग्याल से हुई, जिनकी यह गाड़ी थी। यहाँ एक मनोरंजक परन्तु आँखें खोल देने वाली घटना हुई। हम जब गंगटोक में प्रवेश कर रहे थे, हमारा दल एक बड़ी भीड़ के सामने, जो वहाँ एकत्र हो गई थी, रुका। यहाँ हज़ारों लोग, जिनमें बहुत से स्कूली बच्चे थे, चारों तरफ से घिरे पड़ रहे थे और 'काता' तथा फूल फेंककर हमारा स्वागत कर रहे थे। इन्होंने हमें आगे बढ़ने से रोक रखा था, कि तभी एक चीनी युवक कहीं से प्रकट हो गया। उसने बिना कुछ बोले, कार की एक तरफ लगा तिब्बत का झंडा—दूसरी तरफ सिक्किम का झंडा लगा था—उतारकर फेंक दिया और उसकी जगह एक छोटा सा चीनी झंडा लगा दिया।

गंगटोक में एक रात बिताकर हम दूसरे दिन बहुत सवेरे बागडोगरा हवाई अड्डे पहुँचे। मुझे याद है, यह सफर आरामदेह नहीं था। मैं ल्हासा से लम्बी यात्रा करके आने के कारण काफ़ी थका हुआ था, और रात को गंगटोक में भी एक बड़ा भोज हुआ था। फिर सवेरे नाश्ते में मुझे नूडल खाने को दिए गए, और जिस कार में हम भारत की ज़मीन पर उतर रहे थे, उसमें गरमी बहुत ज़्यादा थी।

हमें भारत ले जाने के लिए जो जहाज़ यहाँ खड़ा था, वह, चीन में जिस जहाज़ से मैंने सफ़र किया था, उससे ज़्यादा आरामदेह था। यह हमें इलाहाबाद ले गया, जहाँ हमने लंच किया, और फिर हम नई दिल्ली के पालम हवाई अड्डे पहुँचे। हवा में ऊपर उड़ते हुए—हम से हज़ारों फीट नीचे भारत के नगर और ग्राम बसे हुए थे—मैं सोचने लगा कि चीन की तुलना में मुझे इस देश में कितना भिन्न महसूस हो रहा था। वहाँ मुझे बहुत जल्द यह ज्ञान हो गया था कि दोनों देशों की जीवन-शैली में कितनी बड़ी खाई है। लेकिन यहाँ भारत में सब कुछ कितना खुला और सहज लग रहा था।

जब हम भारत की राजधानी में उतरे, तब वह भावना और भी दृढ़ हुई। प्रधानमंत्री नेहरू और उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन के साथ यहाँ सैनिक सलामी का प्रबन्ध था। यहाँ चीन की अपेक्षा कहीं ज़्यादा शान-शौकत तो थी ही, इसके साथ गहरी आत्मीयता भी थी, भले ही प्रधानमंत्री द्वारा स्वागत में कहे हुए शब्द हों अथवा व्यक्तिगत रूप से किसी सामान्य अधिकारी से हुई बातचीत हो। यहाँ लोग अपनी वास्तविक भावनाएँ ही व्यक्त करते थे, ज़रूरी मानकर कहे हुए शब्द नहीं बोलते थे। कहीं कोई बनावट नहीं थी।

हवाई अड्डे से मुझे सीधे राष्ट्रपति भवन ले जाया गया, जहाँ मैं राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद से मिला। वे काफी वृद्ध हो चुके थे, दुर्बल भी थे, परन्तु अत्यन्त नम्र। अपने ए.डी.सी. के सामने, जो बहुत अच्छी क़द-काठी का शानदार व्यक्ति था, और अन्य बॉडीगार्डों के साथ वे बहुत सामान्य प्रतीत होते थे।

दूसरे दिन मैं यमुना नदी के किनारे राजघाट गया, जहाँ महात्मा गाँधी की समाधि थी। यह स्थान बहुत ही शान्त और सुन्दर है और यहाँ आकर मैंने बहुत

गहरी कृतज्ञता महसूस की। इस देश में मैं ऐसे लोगों का मेहमान था जिन्होंने मेरे ही देश की तरह विदेशियों का शासन सहन किया था, तथा जिसने महात्मा गाँधी के जीवन-सिद्धान्त अहिंसा को अपनी राष्ट्रीयता का केन्द्र बनाया था। यहाँ खड़े होकर प्रार्थना करते हुए मैंने अपने मन में दो भाव एकसाथ महसूस किए—महात्मा गाँधी से स्वयं न मिल पाने का दुख और उनके जीवन की अद्‌भुत प्रेरणा का महान सुख। मेरे लिए वे एक सिद्ध राजनीतिज्ञ थे—और हैं—जिन्होंने व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सेवा के सिद्धान्त को सर्वोपरि स्थान दिया। मुझे यह भी विश्वास था कि राजनीति के संचालन के लिए अहिंसा का आचरण ही सर्वश्रेष्ठ है।

इसके बाद कुछ दिन बुद्ध जयन्ती समारोह में व्यतीत हुए। इस अवसर पर अपने वक्तव्य में मैंने यही कहा कि भगवान बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करने से न केवल व्यक्तिगत शान्ति ही प्राप्त होती है, बल्कि राष्ट्रों के बीच भी इसी के द्वारा शान्ति प्राप्त हो सकती है।

इस समय भारत के बारे में मेरी पहली खोज यह थी कि जिन स्वागत-समारोहों और भोजों में मुझे आए दिन आमन्त्रित किया जाता था, वे चीन में होने वाले समारोहों से कहीं कम शानदार होते थे, लेकिन यहाँ मैत्री का जो सामान्य वातावरण होता था, उससे मुझे यह विश्वास होने लगा कि यहाँ सच्ची मित्रता विकसित करने की अधिक सम्भावना है। मेरा यह अनुभव पीपुल्स रिपब्लिक की तुलना में एकदम विपरीत था, जहाँ व्यवहार का मुख्य सिद्धान्त यह था कि आप डरा-धमकाकर ही लोगों के दिमाग बदल सकते हैं। यहाँ मैं इन दोनों बातों की तुलना कर सकता था और स्वयं यह देख सकता था कि उनका सोचने का ढंग गलत है। एक-दूसरे के प्रति आदर तथा सत्य की भावना के सहारे ही मित्रता उत्पन्न की जा सकती है। इन्हीं साधनों से मनुष्य का मस्तिष्क भी बदला जा सकता है, शक्ति-प्रदर्शन द्वारा कभी नहीं बदला जा सकता।

अपने इन विचारों के अधीन, और एक पुरानी तिब्बती कहावत के अनुसार कि जिस क़ैदी को एक दफ़ा भाग निकलने का मौका मिल जाए, उसे फिर वापस नहीं लौटना चाहिए, मैं भारत में ही रह जाने के बारे में विचार करने लगा। मैंने तय कर लिया कि पंडित नेहरू से मिलने का अवसर प्राप्त होते ही मैं उनसे राजनीतिक शरण की सम्भावना पर बात करूँगा, और शीघ्र ही यह भेंट निश्चित हो गई।

दरअसल मैं पंडित नेहरू से कई दफ़ा मिला। वे लम्बे, सुदर्शन व्यक्ति थे, नार्डिक नाक-नक्श, सिर पर नुकीली गाँधी टोपी। माओ की तुलना में उनमें कम आत्मविश्वास प्रतीत होता था, लेकिन उनके व्यवहार में तानाशाही बिलकुल नहीं थी। वे देखने से ही ईमानदार लगते थे—इसीलिए बाद में चाऊ एन-लाइ से धोखा खा गए। जब पहली बार हमारी भेंट हुई, तो मैंने बड़े विस्तार से बताया कि चीनियों ने हमारी

शान्तिप्रिय धरती पर आक्रमण किया, कि ऐसे शत्रु से लड़ने की शक्ति हमारे देश में नहीं है और जैसे ही मुझे यह ज्ञान हो गया कि दुनिया का कोई भी देश हमारी स्वाधीनता के न्यायपूर्ण दावे को स्वीकार करने को तैयार नहीं है, उस समय से मैं किस प्रकार बड़ी कठिनाई से चीनियों को सहन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

पहले तो वे मेरी बात सुनते रहे और नम्रता से सिर हिलाते रहे। लेकिन मेरा ख्याल है कि मेरी कहानी ज़रा ज़्यादा ही भावुक और लम्बी थी, इसलिए कुछ देर बाद उनका ध्यान टूट गया, जैसे नींद आने लगी हो। अन्त में उन्होंने मुझे देखकर कहा कि वे मेरी बात समझ गए हैं। 'लेकिन', अब उन्होंने जैसे धीरज खोते हुए कहा कि, ''आपको यह समझना चाहिए कि भारत आपकी सहायता नहीं कर सकता।'' वे बड़ी सुन्दर और स्पष्ट अंग्रेज़ी में बोल रहे थे और ये शब्द कहते हुए उनका निचला होंठ इस तरह कम्पित हुआ जैसे उनकी आवाज़ के साथ ताल मिला रहा हो।

मेरे लिए यह बुरा समाचार था, हालाँकि बिलकुल अनपेक्षित नहीं था। और यद्यपि नेहरू जी ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी, फिर भी मैं कहता गया कि मैं भारत में शरण लेने के बारे में विचार कर रहा हूँ। इस पर उन्होंने फिर आपत्ति जताते हुए कहा कि, ''आपको अपने देश वापस जाना चाहिए और सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न करना चाहिए।'' मैंने इसका विरोध करते हुए उन्हें बताया कि मैं ऐसा करने का हर सम्भव प्रयत्न कर चुका हूँ, और हर दफा जब मैंने सोचा कि अब उनके साथ विश्वास का वातावरण बन गया है, उन्होंने मुझे धोखा दिया है। और अब पूर्वी तिब्बत में स्थिति इतनी खराब हो गई है कि मुझे बहुत व्यापक और हिंसक प्रतिरोध की आशंका नज़र आने लगी है जो हमारे राष्ट्र को ही छिन्न-भिन्न कर सकता है। अब मैं यह कैसे मान लूँ कि सत्रह सूत्री 'अनुबन्ध' काम कर रहा है? यह सुनकर नेहरू जी ने कहा कि वे इस बारे में चाऊ एन-लाइ से बात करेंगे, जो दूसरे ही दिन यूरोप जाते हुए दिल्ली में रुक रहे थे। वह उनके साथ मेरी भी मुलाक़ात कराएँगे।

नेहरू जी ने अपना वादा पूरा किया और दूसरे दिन सवेरे मुझे अपने साथ पालम हवाई अड्डे ले गए, और उसी शाम चाऊ से मेरी भेंट भी तय कर दी। जब हमारी भेंट हुई तो वे हमेशा की तरह खुशमिजाज़, आकर्षक परन्तु धोखेबाज़ प्रतीत हुए। लेकिन इस बार मैंने उनके कलात्मक व्यवहार पर ध्यान नहीं दिया। मैंने उन्हें स्पष्ट शब्दों में बताया कि उनके अधिकारी किस प्रकार पूर्वी तिब्बत में दुर्व्यवहार कर रहे हैं। मैंने उन्हें यह भी बताया कि भारतीय संसद और चीनी शासन व्यवस्था में मुझे क्या अन्तर दिखाई दिए हैं, कि भारत में लोगों को, जैसा वे सचमुच अनुभव करते हैं, वैसा ही उसे कह देने की स्वतन्त्रता है, और आवश्यकता पड़ने पर वे सरकार की आलोचना भी कर सकते हैं। चाऊ ने हमेशा की तरह बड़े ध्यान से मेरी बातें

सुनीं और वे ही शब्द कहे जो सुनने में अच्छे लगते थे। उन्होंने कहा, "आप पहली परिषद् के समय चीन आए थे। अब दूसरी परिषद् भी हो चुकी है और हालात बहुत ज़्यादा बदल गए हैं, और अच्छे हो गए हैं।" मुझे विश्वास नहीं हुआ, लेकिन बहस से कोई लाभ नहीं था। फिर उन्होंने कहा कि उन्होंने अफ़वाह सुनी है कि मैं भारत में रहने का विचार कर रहा हूँ। उन्होंने चेतावनी दी कि यह ग़लती होगी। मेरे देश को मेरी ज़रूरत है। यह बात शायद सच भी थी, लेकिन मैं यही सोचते हुए बाहर निकला कि परिणाम तो कुछ भी नहीं निकला।

मेरे दो भाई, ताक्तसेर रिन्पोचे और ग्यालो थोंडुप भी चाऊ से मिले—चाऊ को एक भारतीय समाचार पत्र ने 'च्यु एण्ड लाइ' (चबाओ और झूठ बोलो) का नाम दिया था। मेरे भाई मुझसे भी ज़्यादा स्पष्ट बोले और कहा कि उनके आग्रह के बावजूद दोनों का ल्हासा वापस लौटने का इरादा नहीं है। इसके बाद मैंने भारत के तीर्थस्थानों की यात्रा की और चेष्टा की कि इस बीच राजनीति को दिमाग़ से दूर रखूँ। लेकिन दुर्भाग्य से, मैं अपने देश की चिन्ता को अपने मन से क्षण-भर के लिए भी निकाल नहीं सका। पैंचेन लामा, जो यात्रा में मेरे साथ थे, हमारी भयंकर स्थिति का जीता-जागता उदाहरण थे। अब वे पहले की तरह नम्र और सुशील बालक नहीं रह गए थे, चीनियों के निरन्तर दबाव के कारण उनका स्वभाव एकदम बदल गया था।

फिर भी, साँची से अजंता और बोधगया से सारनाथ की अपनी यात्राओं में मैंने परम शान्ति और सुख और भक्ति के कुछ क्षण प्राप्त कर ही लिए—मैंने महसूस किया कि मैं अपने आध्यात्मिक गृह वापस आ गया हूँ। यहाँ की प्रत्येक वस्तु मुझे परिचित लगती थी।

बिहार में मैं नालन्दा भी गया, जहाँ बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा और सबसे महान विश्वविद्यालय था, जो अब सैकड़ों साल से खंडहर के रूप में पड़ा था। यहाँ अनेक तिब्बती विद्वानों ने शिक्षा प्राप्त की थी, और अब यहाँ जगह-जगह जमा पत्थर के ढेरों को देखकर मैं सोचने लगा कि यहीं बौद्ध दर्शन के कुछ सर्वोत्तम विचारों ने जन्म लिया था, और हर वस्तु अस्थायी है, का दर्शन कितना सत्य है!

अन्त में, मैं बोधगया पहुँचा। मैं उस स्थान पर खड़े होकर, जहाँ बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था, बहुत भावुक हो उठा। लेकिन मेरा सुख ज़्यादा देर नहीं ठहरा। यहाँ मुझे अपने चीनी रक्षकों से समाचार प्राप्त हुआ कि चाऊ एन-लाइ दिल्ली लौट रहे हैं और मुझसे मिलना चाहते हैं, फिर, सारनाथ में मुझे जनरल चियांग चिन-वू का तार मिला कि मैं सीधे ल्हासा पहुँचूँ। उसमें कहा गया था कि विनाशकारी प्रतिक्रियावादी तथा उनके सामाज्यवादी साथी विद्रोह की तैयारी कर रहे हैं और वहाँ मेरी उपस्थिति आवश्यक है।

मैं ट्रेन से दिल्ली आया, जहाँ स्टेशन पर ही चीनी राजदूत मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने वहीं से अपनी गाड़ी में मुझे दूतावास चलने को कहा, जिससे मेरे

प्रतिहारी और अंगरक्षक बड़े परेशान हुए। दूतावास में मैं चाऊ एन-लाइ से मिला। मेरे रक्षकों को डर था कि कहीं मुझे अगवा न कर लिया जाए, इसलिए वे भी दूतावास आ पहुँचे। यहाँ उन्हें पता नहीं चल पा रहा था कि मैं भीतर हूँ या नहीं, इसलिए उन्होंने किसी को एक स्वेटर देकर भीतर भेजा कि उसे मुझे दे आएँ—इस पर उनकी प्रतिक्रिया से उन्हें कुछ पता चल सकता था। लेकिन मैं चाऊ से बातचीत कर रहा था। उन्होंने बताया कि तिब्बत में स्थिति बहुत खराब हो गई है और चीनी अधिकारी विद्रोह को दबाने के लिए शक्ति का प्रयोग करने को तैयार हैं।

इस अवसर पर मैंने फिर खुलकर कहा कि तिब्बत में चीनी जैसा दुर्व्यवहार कर रहे हैं, उससे मैं चिन्तित हूँ, कि इस स्पष्ट आश्वासन के बावजूद कि वे जबरन कोई सुधार जनता पर नहीं थोपेंगे, यह सब किया जा रहा है। इसके उत्तर में उन्होंने फिर बड़ी मिठास से कहा कि चेयरमैन माओ ने घोषणा की है कि कम-से-कम अगले छह वर्ष तक तिब्बत में कोई सुधार लागू नहीं किए जाएँगे। फिर, इसके बाद भी अगर हम सुधारों के लिए तैयार नहीं हुए और आवश्यक हुआ तो, पचास साल तक सुधारों को स्थगित कर दिया जाएगा, चीन तिब्बत में हमारी सहायता ही करने के लिए आया है। लेकिन मुझे उनकी बातों पर विश्वास नहीं हुआ। चाऊ ने कहा कि उन्हें पता चला है कि मैं कलिम्पोंग जाने की योजना बना रहा हूँ। यह बात सही थी। वहाँ तिब्बतियों की संख्या बहुत थी और मुझसे उन्हें उपदेश देने को कहा गया था। उन्होंने मुझे बड़ी सख्ती से वहाँ न जाने को कहा, क्योंकि वहाँ 'जासूस और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का' बोलबाला है। उन्होंने यह भी कहा कि मुझे भारतीय अधिकारियों से भी सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि उनमें कुछ तो अच्छे हैं, बाकी सब खतरनाक हैं। इसके बाद उन्होंने विषय बदल दिया। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मैं पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना के प्रतिनिधि के रूप में, नालन्दा जाना चाहूँगा, और चीनी धर्म-नेता तांग सेन का अवशेष तथा एक चेक वहाँ की संस्था को भेंट कर सकूँगा। मैं यह जानता था कि पंडित नेहरू इस समारोह में रहेंगे, इसलिए मैंने तुरन्त इसे स्वीकार कर लिया।

यहाँ जब मैं नेहरू जी से मिला, तब उनके हाथ में सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' की एक प्रति थी। इस बार भी उन्होंने मुझसे यही कहा कि मुझे तिब्बत वापस जाना चाहिए और 'अनुबन्ध' के आधार पर चीनियों के साथ मिल-जुल कर काम करना चाहिए। उन्होंने कहा कि और कोई उपाय नहीं है और यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारत तिब्बत की कोई मदद नहीं कर सकेगा। उन्होंने सलाह दी कि चाऊ एन-लाइ जो कह रहे हैं, मुझे करना चाहिए और कहीं भी रुके बिना ल्हासा चले जाना चाहिए। लेकिन जब मैंने अपनी बात पर ज़ोर दिया तो उन्होंने अचानक अपना विचार बदल दिया और कहा, "भारत एक स्वतन्त्र देश है। आप यहाँ का कोई भी कानून नहीं तोड़ते।" फिर उन्होंने मेरी यात्रा के लिए सब प्रबन्ध करा दिए।

फरवरी 1957 में मैं अपने छोटे से दल के साथ ट्रेन से कोलकाता पहुँचा। मुझे याद है, रास्ते में मेरी माँ ने, जिसे मेरे खाने-पीने सम्बन्धी प्रतिबन्धों की कोई जानकारी नहीं थी, मेरे लिए एक छोटे से स्टोव पर थुगपा—पारम्परिक तिब्बती पकवान पका दिया जो मैंने बड़े स्वाद से खाया। प. बंगाल की राजधानी में पहुँचकर उत्तर में बाग-डोगरा जाने से पहले हम कुछ दिन तक रुके—यहाँ से मैदान की गर्मी समाप्त होकर शीतल पर्वतों की टेढ़ी-मेढ़ी चढ़ाइयाँ शुरू होती हैं। यात्रा का अन्तिम चरण हमने जीप से तय किया। कलिम्पोंग पहुँच कर मैं एक भूटानी परिवार के उसी घर में ठहरा, जहाँ मेरे पूर्ववर्ती दलाई लामा भी अपने निर्वासन के दौरान रहे थे। कुछ इसी तरह की परिस्थितियों में मुझे वहाँ रहते हुए अजीब सा लग रहा था। उस बहुत मित्रतापूर्ण परिवार का पिछला सदस्य भूटान का प्रधानमंत्री रहा था, जिसकी हत्या कर दी गई थी। उनके तीन युवा पुत्र थे जिनमें सबसे छोटा मेरी बहुत देखभाल कर रहा था। वह बार-बार मेरे कमरे में आता, जैसे मेरी निगरानी कर रहा हो, फिर हँसता, हुआ जंगले के पीछे गायब हो जाता।

मेरे यहाँ पहुँचने के कुछ ही समय बाद अपने पिछले प्रधानमंत्री लूखांग्वा से मेरी भेंट हुई जो तीर्थयात्रा के उद्देश्य से अभी ल्हासा से आए थे। उन्हें देखकर मुझे बहुत खुशी हुई हालाँकि मुझे फौरन पता चल गया कि वे मेरे ल्हासा वापस जाने के विरुद्ध हैं। मेरे दो भाई, जो इसी समय ल्हासा से आ पहुँचे थे, उनसे सहमत थे और सब मिलकर मुझे समझाने में लग गए। तीनों ने काशाग से भी विनती की कि मुझे वापस न आने दें। बोधगया में रहते समय मेरे भाइयों ने कई भारतीय राजनेताओं से सम्पर्क किया था, जिनमें से एक, जयप्रकाश नारायण, ने वादा किया था कि किसी उपयुक्त अवसर पर तिब्बत की स्वाधीनता के पक्ष में भारत की आवाज़ उठाएँगे। मेरे भाई, लूखांग्वा और एक-दो और लोग मानते थे कि यदि यह हुआ, तो नेहरू जी को भी तिब्बत की स्वाधीनता के समर्थन में खड़े होना आवश्यक हो जाएगा। आखिरकार, उत्तरी सीमा पर चीनी सेनाओं की मौजूदगी भारत के भी हित में नहीं है। लेकिन मुझे यह सही नहीं लगता था। मैंने न्गाबो न्गावांग जिग्मे से, जिसने सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' पर जबरन हस्ताक्षर करने वाले तिब्बती प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व किया था, और जो इस समय भी मेरे दल में था, इस समस्या पर उसकी राय माँगी। उसका उत्तर था कि यदि कोई योजना बनाकर काम किया जाए तो ठहरने का विचार सही हो सकता है। लेकिन किसी भी योजना के अभाव में मेरे लिए वापस लौटना ही ठीक होगा।

मैंने दिव्य-वक्ता से भी सलाह माँगी। दलाई लामा तीन दिव्य-वक्ताओं से सलाह ले सकता है। इनमें से दो, नेचुंग और गादोंग, यहीं थे। दोनों ने वापस लौटने की सलाह दी। जब दिव्य-वक्ता ये सलाह दे रहे थे उसी समय लूखांग्वा वहाँ आ पहुँचा,

जिसे देखकर दिव्य-वक्ता नाराज़ हो उठा और उसे बाहर जाने को कहा। लगता है कि दिव्य-वक्ता को लूखांग्वा का मत पता था, कि वह मेरे लौटने के खिलाफ़ है। लेकिन लूखांग्वा ने उसकी उपेक्षा की और वहीं बैठ गया। बाद में उसने मुझसे कहा, "जब मनुष्य परेशान होते हैं तो वे देवताओं से सलाह लेते हैं, और जब देवता परेशान होते हैं, तब वे झूठ बोलते हैं।"

मेरे दोनों भाई दृढ़ थे कि मुझे तिब्बत नहीं जाना चाहिए। लूखांग्वा की तरह ये दोनों भी शक्तिशाली और आग्रही थे। मेरे संकोच का कारण किसी की समझ में नहीं आ रहा था। उनका निश्चित मानना था कि इस समय जब तिब्बती जनता का अस्तित्व खतरे में है तब किसी भी ढंग से चीनियों का प्रतिरोध करना ही सबसे महत्त्वपूर्ण होना चाहिए। उनका मानना था कि मेरे लिए इसका सर्वोत्तम उपाय भारत में रहना है। तभी विदेशों से भी सहायता प्राप्त की जा सकेगी, जो, उन्हें विश्वास था कि आसानी से मिल जाएगी। वे यह भी मानते थे कि अमेरिका अवश्य सहायता करेगा।

हालाँकि इस समय चीनियों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष की कोई चर्चा नहीं थी, मेरे भाइयों ने, मुझे बताए बिना अमेरिकी खुफिया विभाग से सम्बन्ध बना लिए थे। अमेरिकी यह महसूस करते थे कि तिब्बती स्वाधीनता-सेनानियों को सीमित सहायता प्रदान करना लाभदायक रहेगा, इसलिए नहीं कि उन्हें तिब्बत की स्वाधीनता बहुत प्रिय थी, बल्कि इसलिए कि इस तरह दुनिया में कम्युनिज़्म के विस्तार पर रोक लगाने की उनकी नीति को बल मिलेगा। उन्होंने इस उद्देश्य से कुछ सादा हथियार हवाई जहाज़ों से स्वाधीनता-सेनानियों के बीच गिराए। उन्होंने कुछ तिब्बती जवानों को गुरिल्ला युद्ध की शिक्षा देकर उन्हें पैराशूट के ज़रिये मैदान में उतारने की योजनाएँ भी बनाईं। स्वभावतः मेरे भाइयों ने सोचा कि मुझे ये सब सूचनाएँ देना उचित नहीं होगा। वे जानते थे कि इस पर मेरी प्रतिक्रिया क्या होगी।

जब मैंने उन्हें बताया कि मैं उनके तर्क समझता हूँ, फिर भी उन्हें स्वीकार नहीं कर सकता, तो ग्यालो थोंडुप उत्तेजित हो उठा। हम पाँचों भाइयों में वही सबसे उग्र देशभक्त था—और है। उसकी इच्छाशक्ति बड़ी दृढ़ है और वह किसी की परवाह किए बिना कुछ भी करने को तैयार रहता है। लेकिन उसका हृदय बहुत कोमल है, और जब हमारी माँ का देहान्त हुआ, तब सबसे ज़्यादा दुखी भी वही हुआ। वह बहुत रोया। ताक्तसेर रिन्पोचे उसकी तुलना में नम्र और कोमल है, लेकिन उसकी ऊपरी शान्ति के पीछे भी दृढ़ इच्छाशक्ति छिपी है। संकट के समय वह धैर्य नहीं खोता लेकिन इस समय वह भी सन्तुलन खोने लगा था। अन्त में, मुझे कोई समझाने में सफल नहीं हो सका और मैंने एक बार और चीनियों को आज़माने का निश्चय किया, यही राय पंडित नेहरू ने दी थी और चाऊ एन-लाइ ने भी भरोसा दिलाया था।

कलिम्पोंग से निकलने के बाद मुझे महीना-भर गंगटोक में रुकना पड़ा, इसके बाद ही मैं नाथू दर्रा पार कर सका। लेकिन इसका मुझे कुछ विशेष खेद नहीं हुआ क्योंकि मैं वहाँ की जनता को धर्म का उपदेश देता रहा।

मार्च 1957 के अन्त में मैं भारी मन लिए ल्हासा के लिए रवाना हुआ। मुझे इस बात का भी रंज हुआ कि आखिरी समय लोबसांग सामतेन ने भी भारत में ही रहने का फैसला कर लिया, क्योंकि इन्हीं दिनों उसका अपेंडिसाइटिस का आपरेशन हुआ था और उसका स्वास्थ्य सही नहीं चल रहा था। सीमा पर पहुँच कर जब मैंने अपने भारतीय मित्रों से विदाई ली—जो इस समय रो रहे थे—तब मेरा मन भी डूबने-सा लगा। मेरे सामने लहराते रंग-बिरंगे तिब्बती प्रार्थना-झंडों के बीच करीब एक दर्जन खूनी लाल रंग के चीनी झंडे भी उड़ रहे थे जो पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना के प्रभुत्व की घोषणा कर रहे थे। जनरल चिन रूहाओ रेन मेरा स्वागत करने आए थे, लेकिन इससे मेरा सन्तोष नहीं हो रहा था। यद्यपि ये स्वयं भले आदमी थे, लेकिन मेरा ध्यान, इनके 'मुक्तिदाता' होने के बजाय इनकी सैनिक वर्दी पर ही जाता था।

7

निर्वासन

तिब्बत की सीमा में पैर रखने के बाद मैं द्रोमो, ग्यान्त्से और शिगात्से होता हुआ ल्हासा पहुँचा। हर जगह मैंने बड़ी-बड़ी सभाओं को सम्बोधित किया, जिनमें मैंने तिब्बती तथा चीनी दोनों अधिकारियों को आमन्त्रित किया। हमेशा की तरह मैं संक्षिप्त आध्यात्मिक प्रवचन देता था जिसमें सांसारिक विषयों का भी समावेश होता था। इनमें मैं तिब्बतियों से कहता कि अपने चीनी अधिकारियों के साथ ईमानदारी और न्यायपूर्वक व्यवहार करें। मैं उन्हें बताता कि जहाँ भी किसी प्रकार का कोई अन्याय होता हो, तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि, अन्यायी कौन है इसका विचार किए बिना उसका प्रतिकार करे। तिब्बतियों से मैं आग्रह करता कि सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' का कड़ाई से पालन करें। मैं उन्हें पंडित नेहरू तथा चाऊ एन-लाइ से हुई बातचीत के बारे में बताता और यह भी बताता कि उसी साल फरवरी में चेयरमैन माओ ने स्वयं सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया है कि तिब्बत अभी सुधारों के लिए तैयार नहीं है। अन्त में, मैं उन्हें याद दिलाता कि चीनियों का यह दावा है कि वे हमारी सहायता के लिए तिब्बत आए हैं। यदि कोई अधिकारी इसमें सहयोग नहीं करता, तो वह कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के विरुद्ध कार्य करता है। इसमें मैं यह भी जोड़ता कि अनेक लोग प्रशंस' के गीत गाने में ही उन्नति कर सकते हैं, लेकिन हमें, चेयरमैन माओ के निर्देशानुसार, आत्मालोचक होना चाहिए। यह सुनकर सामने बैठे चीनी अधिकारी असहज होने लगते थे।

इस प्रकार मैं अपने लोगों को यह भरोसा दिलाने की कोशिश करता कि उनके लिए जो भी किया जा सकता है, उसे मैं कर रहा हूँ, और इसी के साथ अपने नए विदेशी शासकों को यह चेतावनी भी देता कि जब भी आवश्यक होगा, उनके दुर्व्यवहार को उजागर किया जाएगा। लेकिन, अपनी यात्रा के हर पड़ाव पर मेरे स्वनिर्मित आशावाद पर पूर्वी तिब्बत में हो रहे युद्ध की खबरों से नई ताज़ी चोटें पड़ती चली जातीं। फिर, एक दिन राजनीतिक कॉमिसार जनरल तान कुआन-सेन मुझसे मिलने आए और बोले कि मैं स्वाधीनता सैनिकों के पास अपना प्रतिनिधि भेजकर यह कहूँ कि वे हथियार डाल दें। चूँकि मैं स्वयं यह चाहता था, इसलिए मैंने एक लामा को

उनसे बात करने भेजा। लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला, और जब मैं 1 अप्रैल 1957 को ल्हासा पहुँचा, मैं जानता था कि स्थिति न केवल चीनियों के, बल्कि स्वयं मेरे नियंत्रण से बाहर हो गई है।

गर्मियों के मध्य में खाम तथा आमदो में खुलेआम युद्ध शुरू हो गया था। स्वाधीनता के लड़ाके, गोम्पो ताशी नामक एक व्यक्ति के नेतृत्व में प्रतिदिन नए सैनिक भर्ती कर रहे थे और उनके हमले लगातार तेज़ होते जा रहे थे। चीनी भी नियन्त्रण से बाहर होते जा रहे थे। वे ज़मीनी फौजों तथा हवाई बमबारी दोनों से प्रदेश को तबाह कर रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि खाम और आमदो से हज़ारों लोग भागकर ल्हासा की ओर आ रहे थे और शहर के इर्द-गिर्द शिविरों में रह रहे थे। उनके साथ जो कहानियाँ आईं वे इतनी भयंकर थीं कि उनपर वर्षों तक मैं विश्वास ही नहीं कर सका। चीनी फौजें लोगों को दबाने के लिए जिन साधनों का इस्तेमाल करती थीं, वे इतने दर्दनाक थे कि मैं उनकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। सन् 1959 में जब *इन्टरनेशनल कमीशन ऑफ ज्यूरिस्ट्स* ने अपनी जाँच रिपोर्ट प्रकाशित की, तभी मैं उन सब बातों पर जो मुझे सुनने को मिलती थीं, विश्वास कर सका : सूली पर चढ़ाना, अंग-अंग काटकर मारना, पेट फाड़कर अंतड़ियाँ बाहर निकालना, छेद-छेदकर मारना, इत्यादि आम बातें थीं। इसी तरह गर्दन उड़ा देना, जलाना, पीट-पीटकर अधमरा करना, ज़िन्दा भट्ठी में झोंक देना, घोड़ों से बाँधकर लोगों को घसीटना, जब तक वे मर न जाएँ, सूली पर उल्टा लटकाना और बर्फ के पानी में हाथ पैर बाँधकर डाल देना भी सामान्य कार्य थे। इस पीड़ा के बीच लोग 'दलाई लामा की जय' न बोल सकें, इसलिए उनकी जीभें माँस काटने के नुकीले चाकुओं से निकाल ली जाती थीं।

मैंने महसूस कर लिया कि अब अन्तिम विनाश निश्चित है, इसलिए मैंने घोषणा की कि मैं भिक्षुत्व की अन्तिम परीक्षा आगामी मोनलाम पर्व के समय दे दूँगा, जिसके लिए अट्ठारह महीने बाकी थे। मुझे लगा कि समय रहते मुझे यह परीक्षा उत्तीर्ण कर लेनी चाहिए। इसी के साथ मैं पंडित नेहरू के ल्हासा आने की प्रतीक्षा करने लगा—उन्होंने अगले वर्ष ल्हासा आने का मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर लिया था—जिसका चीनी राजदूत ने गर्मजोशी से समर्थन किया था। मुझे आशा थी कि उनकी उपस्थिति से चीनियों पर सभ्यतापूर्ण व्यवहार करने का दबाव पड़ेगा।

इस बीच राजधानी का जीवन मौटे तौर पर उसी प्रकार चलता रहा जैसे वह छह वर्ष पूर्व, जब चीनी यहाँ पहली बार आए थे, चल रहा था, हालाँकि अब चीनी ज़्यादा आक्रामक हो उठे थे। अब चीनी जनरल जब कभी मुझसे मिलने आते थे, हथियारों से लैस होते थे। लेकिन वे अपनी बन्दूकें बाहर नहीं रखते थे, वर्दी के भीतर छिपाकर रखते थे। इसलिए जब उन्हें बैठना होता तो उनकी आकृतियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती थीं, और हथियार बाहर दिखाई देने लगते थे। जब वे बोलते तो हमेशा

की तरह भरोसे की बातें करते, परन्तु उनकी असली भावनाएँ उनके चेहरों पर प्रकट हो जाती थीं और वे मूली की तरह रंग बदल लेते थे।

इसके अलावा समिति की बैठकें भी नियमित रूप से होती रहती थीं जिनमें निरर्थक नीतिगत परिवर्तनों पर विचार होता रहता था। यह बड़ी विलक्षण बात है कि देश में अन्यत्र किए जाने वाले अपने आतंकपूर्ण कार्यों को एक मुखौटा पहनाने के लिए कितनी दूर तक जा सकते थे। मैं शक्तिहीन हो गया था। लेकिन मुझे विश्वास था कि यदि मैं त्यागपत्र दे दूँगा—जिसका मैंने विचार भी किया था—या चीनियों का सीधा विरोध करूँगा, तो परिणाम बहुत विनाशकारी होंगे। मैं नहीं चाहता था कि ल्हासा तथा तिब्बत के वे क्षेत्र जहाँ अभी तक खून बहना शुरू नहीं हुआ है, वे भी इसमें डूब जाएँ। इस समय मुक्ति सेना के आठ डिवीज़न पूर्वी तिब्बत में नियुक्त थे—यानी आधुनिक हथियारों से लैस डेढ़ लाख सैनिक साधारण घुड़सवारों और पहाड़ी सैनिकों के असंगठित दलों का सामना कर रहे थे। मैं भविष्य के बारे में जितना विचार करता, उतना ही निराश होता चला जाता था। अब यह लगने लगा था कि मैं या मेरे लोग जो चाहे करें, आज नहीं तो कल समूचा तिब्बत देश नए चीनी साम्राज्य का अंग बन जाएगा, जहाँ न धर्म या संस्कृति की स्वतन्त्रता होगी, न बोलने की।

नोरबुलिंग्का में भी, जहाँ अब मैं स्थायी रूप से रह रहा था, पहले की तरह ही ज़िन्दगी चल रही थी। यहाँ मक्खन के अगणित जगमगाते दीयों की रोशनी में झिलमिलाती हज़ारों सोने से मढ़ी बुद्ध की मूर्तियाँ हर समय हमें अहसास कराती थीं कि जिस दुनिया में हम रहते हैं वह अस्थायी और भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। मेरी जीवनचर्या भी हमेशा की तरह चल रही थी, हालाँकि अब मैं सवेरे काफ़ी जल्दी, पाँच बजे से पहले, जगने लगा था जिससे दिन के पहले पहर में शान्ति से प्रार्थना कर सकूँ और धर्मग्रन्थों का पाठ कर सकूँ। इसके बाद मेरे एक अध्यापक आते और मेरे साथ, जो उस दिन मैं पढ़ रहा होता, उस पर चर्चा करते थे। फिर हमारे साथ मेरे सेनशाप भी शामिल हो जाते, जिनकी संख्या अब चार हो गई थीं, और दिन का ज़्यादातर समय मैं वाद-विवाद में व्यतीत करता—क्योंकि इसी विषय में मेरी परीक्षा होनी थी। इसके अतिरिक्त सदा की भाँति, निश्चित दिनों में महल के विविध देव-मन्दिरों में मैं पूजा का नेतृत्व करता था।

परन्तु, चीनी आक्रमण के बाद ल्हासा में बहुत परिवर्तन हो गया था। कम्युनिस्ट अधिकारियों और उनके परिवारों के निवास के लिए एक पूरा इलाका तैयार हो गया था। इसमें आधुनिक चीनी नगर के सब साधन उपलब्ध थे। उन्होंने एक अस्पताल और नया स्कूल भी स्थापित कर लिया था—हालाँकि मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि तिब्बतियों को इनका लाभ नहीं मिल रहा था—और बहुत-सी नई बैरकें भी बन गई थीं। साथ ही, बिगड़ती परिस्थिति के कारण सेना ने अपने घरों के चारों ओर खाइयाँ बनानी भी शुरू कर दी थीं और रेत के बोरों की क़तारें लगा दी थीं।

अब जब भी वे बाहर निकलते, पूरे दस्तों में निकलते थे; इससे पहले वे दो मिलकर, अकेले तो कभी नहीं, बाहर जाते थे। लेकिन इस दुनिया से मेरा सम्पर्क नहीं के बराबर था, और मुझे जो भी जानकारी मिलती थी, वह सफाई वालों और अधिकारियों से ही आधी-अधूरी प्राप्त होती थी।

सन् 1958 के वसन्त में मैं नोरबुलिंग्का में नए बने एक महल में रहने चला गया—यह परम्परा थी कि प्रत्येक नए दलाई लामा को ज्वेल पार्क में अपने लिए नया भवन बनाना आवश्यक था। दूसरों की तरह यह भी काफ़ी छोटा ही था, और इसमें मेरे व्यक्तिगत उपयोग के लायक ही स्थान था। लेकिन इसकी एक विशेषता यह थी कि इसकी सज्जा आधुनिक थी और दैनिक उपयोग के सभी आधुनिक यन्त्र लगे थे। मेरे सोने के लिए पुराने लकड़ी के बक्से के स्थान पर लोहे का मज़बूत पलंग था और नहाने के लिए आधुनिक डिज़ायन का बाथरूम जिसमें पानी चौबीसों घंटे चलता रहता था। पानी को गरम करने का भी इन्तज़ाम था लेकिन हुआ यह कि इसके ठीक से चल पाने के पहले ही मुझे नोरबुलिंग्का छोड़ना पड़ा। पूरे भवन में, दोनों मंज़िलों में, बिजली लगी थी। मेरे मिलने के कमरे में पुराने ढंग के तिब्बती गद्दों के स्थान पर कुर्सियाँ और मेज़ें लगी थीं—विदेशी अतिथियों के कारण—और एक बड़ा रेडियो भी था, जो, यदि मैं भूल नहीं करता, तो भारत सरकार का उपहार था। सभी दृष्टियों से पूर्ण घर था यह। घर के बाहर एक छोटा-सा पत्थरों से सजा तालाब था जिसके इर्द-गिर्द एक बगीचा था—उसमें पेड़-पौधे मैंने स्वयं अपनी देख-रेख में लगवाए थे। ल्हासा की ज़मीन उपजाऊ है, इसलिए यह बहुत जल्द रंग-बिरंगे फूलों से सज गया। कुल मिलाकर, मैं यहाँ बहुत प्रसन्न था, लेकिन यह प्रसन्नता ज़्यादा दिन चलने वाली नहीं थी।

खाम तथा आमदो और अब केन्द्रीय तिब्बत में भी लड़ाई बढ़ती चली जा रही थी। गर्मियों के आरम्भ में हज़ारों स्वाधीनता सेनानी सड़कों पर उतर आए थे, और बहुत साधारण अस्त्रों तथा रसद इत्यादि के बावजूद लड़ते हुए ल्हासा की तरफ़ बढ़ते चले आ रहे थे। उन्होंने कुछ हथियार तो चीनियों पर हमले करके प्राप्त कर लिए थे और कुछ ताशिल हुनपो के पास तिब्बत सरकार के एक बेकार पड़े ज़खीरे से लूटे थे, और कुछ सी.आई.ए. की कृपा से—लेकिन फिर भी ये बहुत नाकाफ़ी थे।

जब मैं निर्वासन में चला गया, तब मुझे कहानियाँ सुनने को मिलती थीं कि तिब्बत में किस तरह पैसा और हथियार हवाई जहाज़ों से गिराया जाता है। लेकिन इन अभियानों से चीनी सेना की अपेक्षा तिब्बत का ही ज़्यादा नुकसान हुआ। इसका कारण यह था कि अमेरिकी यह नहीं चाहते थे कि उनकी सहायता पहचान ली जाए, इसलिए वे अमेरिका में बने हथियार न देने का विशेष ध्यान रखते थे। इसलिए वे कुछ साधारण बाज़ूका बन्दूकें और पुरानी ब्रिटिश रायफ़लें, जिनका भारत और पाकिस्तान में उपयोग हो चुका होता था और पकड़ी जाने पर जिनकी सही पहचान

नहीं हो सकती थी, ही इन्हें देते थे। फिर, जहाज़ों से गिराने की प्रक्रिया में ये इतनी खराब हो जाती थीं कि इनका ज़्यादा उपयोग नहीं हो पाता था।

मैं तो इस तरह की लड़ाइयाँ देख ही नहीं पाया, जो स्वाभाविक ही था, लेकिन सत्तर के दशक में एक बूढ़े लामा ने, जो आमदो पहाड़ों के कोने पर बने एक आश्रम में रहता था, एक बार अपनी आँखों-देखी एक लड़ाई का विवरण सुनाया। नदी के मोड़ के पास छह घुड़सवारों के एक छोटे-से दल ने कई सौ चीनी सैनिकों के एक कैंप पर हमला किया। इससे अफ़रा-तफ़री फैल गई और चीनियों ने पागलों की तरह चारों तरफ़ गोलियाँ दागनी शुरू कर दीं जिससे उनके ही बहुत-से लोग मारे गए। घुड़सवारों ने कुछ देर बाद दूसरी दिशा से उनपर हमला बोला और पहाड़ियों में निकल गए। ऐसी वीरता की कहानियाँ सुनकर मेरा दिल भर आता था।

सन् 1958 के उत्तरार्ध में इस संकट का चरम बिन्दु आया जब स्वाधीनता-सेनानियों के संगठन चूशी गान्द्रुक ने सेथांग में बने बड़े सैनिक गैरिसन पर जो ल्हासा के द्वार से दो दिन के सफर की दूरी पर था, हमला किया। इन दिनों जनरल तान कुआन-सेन अक्सर मुझसे मिलने आने लगे। देखने में ये किसान लगते थे, पीले दाँत और बाल बहुत छोटे कटे हुए; अब ये प्रायः हर सप्ताह आ रहे थे। इनके साथ मुझे समझाने, लालच देने और धमकाने के लिए कई गरम-मिज़ाज दुभाषिये होते थे। इससे पहले ये महीने में एक बार से ज़्यादा नहीं आते थे। इस कारण अब मुझे यह भेंट करने का कमरा डरावना लगने लगा, जैसे इसके समूचे वातावरण में तनाव भर गया हो।

सबसे पहले जनरल ने मुझसे माँग की कि मैं तिब्बती सेना को विद्रोहियों के विरुद्ध लड़ने को प्रेरित करूँ। उसने कहा कि यह मेरा कर्तव्य है। लेकिन जब मैंने उसे यह बताया कि यदि मैंने ऐसा किया तो तिब्बती सेना इसे अच्छा अवसर समझकर उन्हीं से जाकर मिल जाएगी, तो वह क्रोधित हो उठा। इसके बाद उसने यह कहना तो बंद कर दिया, लेकिन उसके स्थान पर यह कहना शुरू किया कि तिब्बत के लोग बड़े कृतघ्न हैं, और इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। अन्त में उसने ताक्तसेर रिन्पोचे, ग्यालो थोंडुप तथा मेरे कुछ पुराने अधिकारियों को—जो सब देश से बाहर थे—अपराधी घोषित किया और मुझे आदेश दिया कि मैं इनकी नागरिकता रद्द कर दूँ। यह काम मैंने कर दिया, क्योंकि वे देश के बाहर तो थे ही और इस कारण सुरक्षित भी थे, और दूसरा कारण यह कि इस समय मैंने उनकी बात इसलिए मान लेना उचित समझा कि ऐसा न करने पर ल्हासा में भी सैनिक कार्यवाही शुरू हो सकती थी। इसे मैं किसी भी तरह रोकना चाहता था। मुझे लगता था कि यदि ल्हासा की जनता भी लड़ाई में उलझ गई तो शान्ति की कोई सम्भावना शेष नहीं रहेगी।

स्वाधीनता-सेनानी समझौते के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने अपने कार्यों के लिए मेरा समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा भी की। मैं यह समर्थन नहीं दे सका, यद्यपि युवक तथा देशभक्त होने के कारण मैंने ऐसा करने का विचार भी किया। मैं अब

भी पंडित नेहरू के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था, यद्यपि अन्तिम समय में चीनी अधिकारियों ने इसे रद्द कर दिया। जनरल तान कुआन-सेन ने घोषणा की कि वे भारतीय प्रधानमंत्री की सुरक्षा का विश्वास नहीं दिला सकते, इसलिए यह निमन्त्रण रद्द किया जाता है। यह सुनकर मैं निराश हो उठा।

सन् 1958 की गर्मियों में मैं द्रेपुंग गया, वहाँ से सेरा मठ गया, जहाँ मेरी भिक्षुत्व की परीक्षा होनी थी। इन दोनों मठों के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों के साथ वाद-विवाद में कुछ दिन व्यतीत हो गए। द्रेपुंग में पहले दिन का आरम्भ विशाल सभाभवन में कई हज़ार भिक्षुओं द्वारा अद्‌भुत सूत्र-पाठ से हुआ। इसमें भगवान बुद्ध, उनके सन्तों तथा अनुगामियों—जिनमें से अनेक भारतीय थे—की प्रशंसा सुनकर मेरी आँखों में आँसू आ गये।

द्रेपुंग से रवाना होने से पहले, परम्परा के अनुसार, मैं मठ के पीछे खड़े सबसे ऊँचे पर्वत पर गया, जहाँ से बहुत दूर तक सैकड़ों मील का इलाका दिखाई देता था। यहाँ पर्वत इतना ऊँचा था कि बहुत-से तिब्बती भी यहाँ पहुँचकर ऊँचाई की बीमारी श्वासहीनता के शिकार हो जाते थे—लेकिन जो उन सुन्दर पक्षियों के लिए, जो यहाँ अपने घोंसले बनाते हें, बिल्कुल ऊँचा नहीं है, और जहाँ तिब्बती में 'उपेल' कहे जाने वाले जंगली फूलों की बहुतायत है। यह अत्यन्त आकर्षक पौधे हल्के नीले, लम्बे और कांटेदार होते हैं और उनकी शक्ल भी अनोखी होती है।

दुर्भाग्य से इस अनुपम सौन्दर्य का निरीक्षण करने के मार्ग में बाधा यह थी कि यहाँ मेरी रक्षा के लिए तिब्बती सैनिकों को तैनात किया गया। कारण यह कि द्रेपुंग मठ के ठीक सामने चीनी सैनिकों का एक गैरिसन था जिसके चारों ओर कँटीले तार और बंकर बने हुए थे, और जहाँ से हर रोज़ सैनिक अभ्यास और गोलियों की आवाज़ें सुनाई देती रहती थीं।

परीक्षा देने के पश्चात् जब मैं ल्हासा वापस लौटा, तब मुझे पता चला कि अब तक के प्रश्नोत्तरों में मैं उत्तीर्ण हो गया हूँ। पेमा ग्याल्सेन नामक एक अत्यन्त विद्वान भिक्षु ने मुझसे कहा कि यदि मुझे सामान्य भिक्षुओं की तरह अध्ययन की सुविधा मिलती, तो मेरा परिणाम आशातीत होता। यह सुनकर मुझे अच्छा लगा कि मेरे जैसे आलसी छात्र को लज्जित नहीं होना पड़ा।

कुछ समय शान्तिपूर्वक बिताने के बाद राजधानी में वापस आकर मुझे पता चला कि स्थिति अब पहले से ज़्यादा खराब हो गई हैं ल्हासा के बाहर प्रदेशों से चीनी अत्याचार के शिकार हज़ारों तिब्बती शहर की सीमाओं पर रह रहे थे। अब शहर की आबादी पहले से दोगुनी हो चुकी होगी। लेकिन मोटे तौर पर शहर में शान्ति थी और कहीं लड़ाई नहीं हो रही थी। फिर भी, शरद में जब मैं गान्देन के लिए रवाना हुआ, जहाँ मेरी परीक्षा का अगला भाग होना था, तो कुछ सहायकों ने मुझे परामर्श दिया कि इस अवसर का लाभ उठाकर मैं दक्षिण चला जाऊँ क्योंकि वह

प्रदेश अब भी 'बौद्ध धर्म के रक्षकों' के हाथ में है। योजना यह बनाई गई कि वहाँ जाकर मैं सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' को भंग घोषित कर दूँ और तिब्बत की अधिकृत सरकार के रूप में शासन अपने हाथ में ले लूँ। मैंने इस योजना पर गम्भीरता से विचार किया लेकिन इस बार भी इसी निर्णय पर पहुँचा कि इससे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। इसका परिणाम यही होगा कि चीनियों को पूरा हमला करने का अवसर मिल जाएगा।

इसलिए मैं ल्हासा लौट आया और सर्दियों-भर अगली परीक्षा की तैयारियों में लग गया। अब अगले वर्ष के आरम्भ में मोनलाम के उत्सव के समय अन्तिम परीक्षा होनी थी। लेकिन पढ़ने में मन लगाना कठिन हो रहा था। हर रोज़ कहीं-न-कहीं शान्त जनता पर चीनियों के अत्याचार की खबरें सुनाई देती थीं। कई दफ़ा खबरें तिब्बत के पक्ष में भी होती थीं लेकिन इससे कोई राहत नहीं मिलती थी। सिर्फ यह ख्याल कि मैं अपने साठ लाख तिब्बतियों के लिए ज़िम्मेदार हूँ, मुझे जीवित रखता था। इसके अलावा मेरा धर्म मेरी रक्षा करता था। प्रतिदिन प्रातःकाल जब मैं अपने कमरे में अनेक प्रार्थनारत मूर्तियों के सामने प्रार्थना करने बैठता, तो सृष्टि के सब जीवमान प्राणियों के प्रति करुणा में अपना ध्यान एकाग्र करने का प्रयत्न करता। मैं हमेशा बुद्ध की इस शिक्षा का स्मरण करता कि हमारा शत्रु भी एक दृष्टि से हमारा सर्वोत्तम शिक्षक होता है, और यदि कभी ऐसा करना कठिन होता, तो भी मैं कभी इस पर सन्देह नहीं करता था।

कुछ समय बाद नया वर्ष आरम्भ हो गया और 'मोनलाम' उत्सव के लिए मैं जोखांग मन्दिर में रहने चला गया—यहीं मेरी अन्तिम परीक्षा होनी थी। इससे तुरन्त पहले जनरल चियांग चिन-वू मुझसे मिलने आए, और सदा की भाँति, इस बार भी वे नये वर्ष का सन्देश लेकर आए थे। उन्होंने यह भी बताया कि ल्हासा में चीन से एक नया नृत्य-दल भी आ रहा है। उन्होंने पूछा कि मैं उससे मिलना चाहूँगा? मैंने कहा, हाँ। इस पर उन्होंने कहा कि वे यद्यपि कहीं भी प्रदर्शन कर सकते हैं लेकिन चूँकि चीनी सैनिक हेडक्वार्टर्स में एक बड़ा मंच तैयार है, जिसमें रोशनियाँ भी लगी हुई हैं, इसलिए यदि मैं वहाँ आ जाऊँ तो अच्छा रहेगा। यह बात सही थी क्योंकि नोरबुलिंग्का में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए मैंने प्रसन्नतापूर्वक उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

जब मैं जोखांग पहुँचा, मैंने देखा कि अब वहाँ पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा लोग आने लगे हैं। तिब्बत के दूर-दूर के भागों से आने वाले सामान्य लोगों के अलावा यहाँ की विशाल भीड़ में पच्चीस से तीस हज़ार तक भिक्षु भी दिखाई देते थे।

प्रतिदिन बारखोर और लिंगखोर दोनों की परिक्रमा करने वाले लोगों से भरा रहता था। इनमें से कुछ हाथ में प्रार्थना-चक्र लेकर 'ओम् मणि पद्मे हुम्' का पाठ करते जाते, जो हमारे राष्ट्रीय मन्त्र की तरह है। अन्य लोग चुपचाप अपने माथे पर

हाथ जोड़कर ले जाते, फिर गले और हृदय पर उन्हें लाकर ज़मीन पर पूरी लम्बाई में लेट जाते। मन्दिर के सामने बाज़ार में भी लोगों की भीड़ लगी रहती—लम्बे चोगे पहने, रंगीन पल्लुओं से ढँकी स्त्रियाँ; लम्बे-चौड़े खाम्पा जिनके बालों में लाल कपड़े बँधे होते और कँधों पर रायफ़लें लटकी होती; पहाड़ों पर रहने वाले खानाबदोश; और हर जगह दौड़ते-खेलते बच्चे।

मैं अपने कमरे की खिड़की से यह दृश्य देखकर चकित हो रहा था। इस वर्ष वातावरण हमेशा से अलग था, जैसे लोग कुछ आशा कर रहे थे, और सबसे अलग रहते हुए भी मैं जिसे महसूस कर रहा था। लोगों को लग रहा था कि कुछ महत्त्वपूर्ण होने जा रहा है।

'मोनलाम' का मुख्य अनुष्ठान समाप्त होने के तुरन्त बाद—इसमें एक लम्बी प्रार्थना की जाती थी—दो कनिष्ठ चीनी अधिकारी सूचना दिए बिना जनरल चियांग चिन-वू का निमन्त्रण फिर लेकर आए और पूछा कि मैं नृत्य-मंडली का प्रदर्शन कब देखना चाहूँगा। मैंने उत्तर दिया कि मैं उत्सव के बाद आ सकूँगा। लेकिन इस समय मुझे और भी अनेक चिन्ताएँ थीं, विशेष रूप से अपनी परीक्षा की जो शीघ्र ही होने वाली थी।

परीक्षा के एक दिन पहले मैंने देर तक प्रार्थना की और साथ ही यह सोचता रहा कि इसके प्रश्चात् मुझे कितनी बड़ी और आजीवन ज़िम्मेदारी सँभालनी है। सवेरा होने पर मैं वाद-विवाद में भाग लेने के लिए, जो हज़ारों लोगों की सभा के सामने होना था, जाकर उपस्थित हो गया। दोपहर तक विवाद के लिए तर्क-शास्त्र और अध्यात्म विषय थे और विपक्ष में मेरे ही समान पूर्व स्नातक थे। दोपहर के समय विषय थे माध्यमिक दर्शन तथा प्रज्ञापारमिता, और इस पर बात करने वाले भी स्नातक ही थे। शाम के समय पाँचों मुख्य विषयों पर विवाद होना था और इसमें मेरे विरोधी स्नातक थे जो वय तथा अनुभव में मुझसे कहीं बड़े थे।

अन्त में सात बजे के लगभग परीक्षा समाप्त हुई। मैं पस्त हो चुका था—लेकिन बड़ी राहत महसूस कर रहा था और प्रसन्न था कि परीक्षकों ने सर्वसम्मति से मुझे उत्तीर्ण कर दिया है और 'गेशे'—अर्थात् *डॉक्टर ऑफ बुद्धिस्ट स्टडीज़*—की उपाधि के योग्य स्वीकार कर लिया है।

5 मार्च को मैं जोखांग से नोरबुलिंग्का के लिए, हमेशा की तरह शानदार जुलूस के साथ रवाना हुआ। यह अन्तिम बार था जब हज़ार साल की सभ्यता अपनी पूरी शान तथा समारोह के साथ प्रदर्शित की गई। मेरे अंगरक्षक रंगीन अनुष्ठानिक वेशभूषा में मेरी पालकी के साथ चल रहे थे। उनके पीछे थे काशाग के सदस्य तथा ल्हासा के कुलीन व्यक्ति, कीमती सिल्क और लहराते लबादों में अपने घोड़ों पर सवार—इन घोड़ों को भी पता था कि उनके मुँह पर सोने के ज़ेवर लगे हैं—मन्द गति से आगे बढ़ रहे थे। उनके बाद थे राज्य के अनेक सुप्रसिद्ध मठाध्यक्ष तथा लामा, जिनमें

कई तो दुर्बल तथा साधु दिखाई देते थे और कई अपनी महान आध्यात्मिक शक्तियों की अपेक्षा समृद्ध व्यापारी अधिक प्रतीत होते थे।

इनके अलावा हजारों-हज़ार दर्शक मार्ग के दोनों ओर उत्सुक उत्साह से लाइनें लगाए खड़े थे और दोनों भवनों के बीच पूरे चार मील की सड़क भीड़ से ठसाठस भरी थी। बस, इस सब समारोह में कोई चीनी नज़र नहीं आ रहा था; उन्होंने तिब्बत में प्रवेश करने के बाद पहली बार किसी कार्यक्रम में अपना दस्ता नहीं भेजा था। लेकिन इससे मेरे रक्षकों तथा सेना को भरोसा नहीं हुआ था। सेना ने पहाड़ियों में दूर-दूर तक अपने सैनिक यह कहकर तैनात कर दिए थे कि ये स्वाधीनता-सेनानियों से मेरी सुरक्षा के लिए हैं, यद्यपि उनके दिमाग में शत्रु कोई और ही था। मेरे अंगरक्षकों को भी चीनियों से ही भय था। उनमें से कई ने खुले तौर पर अपनी स्थितियाँ सँभाल ली थीं और चीनी सैनिक अड्डे की दिशा में अपनी ब्रेनगनें तान रखी थीं।

इसके दो दिन बाद मुझसे फिर पूछा गया कि नृत्य का कार्यक्रम देखने के लिए मैं कब समय निकाल सकूँगा। मैंने 10 मार्च की तारीख़ उन्हें दे दी। दो दिन बाद, यानी कार्यक्रम से एक दिन पहले, कुछ चीनी मेरे अंगरक्षकों के प्रमुख, कुसुन देपॉन के पास उसके घर पर आए और कहा कि आपको ब्रिगेडियर फू से मिलना है, जो दूसरे दिन के कार्यक्रम के बारे में निर्देश देंगे।

ब्रिगेडियर ने उनसे कहा कि चीनी अधिकारी चाहते हैं कि मेरी यात्राओं में औपचारिक समारोह और सेना वगैरह का तामझाम समाप्त किया जाए। उसने यह स्पष्ट कहा कि कोई तिब्बती सैनिक मेरे साथ न चले और अगर बहुत आवश्यक हो तो दो-तीन निःशस्त्र अंगरक्षक ही लिए जाएँ, और यह भी कि यह कार्यक्रम पूरी तरह गुप्त रखा जाना चाहिए। ये सब नियम बहुत अनोखे थे और मेरे सहायकों में इन पर काफ़ी चर्चा भी होती रही। लेकिन सबने उन्हें मान लिया क्योंकि ऐसा न करना कूटनीति की दृष्टि से गलत होता और इसके हानिकर परिणाम हो सकते थे। इसलिए मैंने भी बहुत कम लोग साथ लेकर और बिना शोर-शराबा किए जाना स्वीकार कर लिया।

मेरे छोटे भाई तेनज़िन चोएग्याल को भी निमन्त्रित किया गया था। इस समय वह द्रेपिंग मठ में पढ़ रहा था, इसलिए उसे स्वतन्त्र रूप से यात्रा करनी थी। इस बीच खबर फैल गई कि चीनी हेडक्वार्टर्स से लगी नदी के पत्थर वाले पुल पर आवागमन में रोक लगा दी जाएगी।

वास्तव में मेरे आने-जाने की खबरों पर रोक लगाना बहुत मुश्किल था और चीनी यह करना चाहते हैं, यह बात ही मेरे लोगों को सही नहीं लगी, क्योंकि वे मेरी सुरक्षा के बारे में पहले से ही चिन्तित थे। यह खबर सूखी घास में आग की तरह तेज़ी से चारों ओर फैल गई।

इसका परिणाम बहुत भयंकर हुआ। दूसरे दिन सवेरे प्रार्थना और इसके बाद नाश्ता करने के बाद मैं ज़रा देर टहलने के लिए बाग में गया। अचानक कुछ दूर से आ रहे शोर से मैं चौंक उठा। मैं तेज़ी से पलट कर वापस लौटा और कुछ लोगों को यह देखने के लिए भेजा कि यह शोर किस बात का है। उन्होंने वापस आकर बताया कि शहर के लोग हमारी दिशा में बढ़े चले आ रहे हैं। उन्होंने चीनियों से मेरी रक्षा करने का फैसला किया था। सारी सुबह उनकी भीड़ बढ़ती रही। कुछ दल बनाकर ज्वेल पार्क के हर दरवाज़े पर खड़े हो गए और शेष उसकी परिक्रमा करने लगे। दोपहर तक तीस हज़ार के लगभग लोग जमा हो गए। सवेरे काशाग के तीन सदस्य मुझ से मिलने आए तो उन्हें मुख्य द्वार तक पहुँचने में कठिनाई हुई। लोग हर उस आदमी पर अपना गुस्सा निकाल रहे थे जिनपर उन्हें चीनियों की सहायता करने का सन्देह होता था। एक उच्च अधिकारी जो अंगरक्षक के साथ कार में आ रहा था, पथराव से घायल हो गया, क्योंकि लोग उसे देशद्रोही समझते थे, हालाँकि यह बात सही नहीं थी। (अस्सी के दशक में उसके बेटे ने, जो सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' पर ज़बरदस्ती दस्तखत कराए जाने वाले प्रतिनिधि-मंडल का सदस्य था, जब वह भारत आया, तब इन घटनाओं का पूरा वृत्तान्त लिखा था।) बाद में एक व्यक्ति मारा भी गया।

यह समाचार सुनकर मैं दहल उठा। स्थिति पर काबू पाने के लिए कुछ करना ज़रूरी था। मुझे लगने लगा था कि गुस्से के कारण भीड़ चीनी फौज पर भी हमला न कर दे। भीड़ में कुछ व्यक्ति नेता बनकर भी खड़े हो गए थे जो 'तिब्बत हमारा है' के नारे लगा रहे थे। मैं शान्ति के लिए प्रार्थना करने लगा। लेकिन मैंने यह तय कर लिया कि अब मुझे शाम को चीनियों के कार्यक्रम में नहीं जाना चाहिए। इसलिए, मेरे आदेशानुसार प्रमुख प्रतिहारी ने चीनियों को टेलीफोन कर दिया कि इस स्थिति में मेरा आना उचित नहीं होगा और यह भी कि स्थिति शीघ्र ही काबू में आ जाएगी और लोग तितर-बितर हो जाएँगे।

लेकिन भीड़ थी कि नोरबुलिंग्का के फाटकों से हटने को तैयार ही नहीं थी। जहाँ तक जनता और उसके नेताओं का सवाल था, उनके लिए दलाई लामा को चीनियों से खतरा था, और वे उस समय तक हटने को तैयार नहीं थे जब तक मैं उन्हें यह विश्वास न दिला दूँ कि शाम को मैं चीनी हेडक्वार्टर्स के कार्यक्रम में नहीं जाऊँगा। यह बात अपना एक अधिकारी भेजकर मैंने उनसे कहलवा दी। लेकिन यह काफ़ी नहीं था। अब उन्होंने माँग की कि मैं कभी भी वहाँ न जाने का वादा करूँ। मैंने फिर यह वादा भी कर दिया, जिसे सुनकर अधिकांश नेता शहर वापस चले गए, जहाँ देर तक वे प्रदर्शन करते रहे, लेकिन बहुत-से लोग नोरबुलिंग्का के सामने ही डटे रहे। दुर्भाग्य से, वे यह महसूस नहीं कर रहे थे कि उनके वापस जाने की अपेक्षा यहाँ बने रहना ही मेरे लिए ज़्यादा खतरा पैदा कर सकता है।

उसी दिन मैंने अपने तीन बहुत उच्च मन्त्रियों को जनरल तान कुआन-सेन से मिलने भेजा। जब वे उसके कार्यालय पहुँचे, तब उन्होंने देखा कि न्गाबो न्गावांग जिग्मे वहाँ पहले से ही मौजूद हैं। शुरू में तो चीनियों ने नम्रतापूर्वक बात की, लेकिन जनरल आया तो वह गुस्से से तमतमा रहा था। उसने तथा दो और उच्च अधिकारियों ने कई घंटे तक तिब्बतियों को लताड़ा कि 'साम्राज्यवादी विद्रोहियों' ने विश्वासघात किया है और यह आरोप भी लगाया कि तिब्बत की सरकार गुप्त रूप से आन्दोलन का संचालन कर रही है, उसने चीनियों के आदेश का उल्लंघन किया है और ल्हासा में 'विद्रोहियों' को निःशस्त्र करने से इन्कार किया है। अब इस विरोध को कुचलने के लिए सख्त कदम उठाए जा सकते हैं।

उस दिन शाम को जब उन्होंने वापस लौटकर नोरबुलिंग्का के मेरे कमरे में मुझे यह सब बताया तो मैं समझ गया कि चीनी हमें चेतावनी दे रहे हैं। इसी समय छह बजे के करीब वहाँ शेष रहे नेता तथा मेरे अंगरक्षकों ने ज्वेल पार्क के बाहर एक सभा करके सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' की भर्त्सना की और कहा कि 'तिब्बत अब चीनी आधिपत्य को स्वीकार नहीं करता।' जब मुझे इसका पता चला तब मैंने एक सन्देश भेजकर उनसे कहा कि नेताओं का कर्तव्य तनाव को बढ़ाना नहीं बल्कि कम करना है। लेकिन मेरा सुझाव ऐसे कानों में पड़ा जो सुनने को तैयार नहीं थे।

रात के समय मेरे पास जनरल तान कुआन-सेन का एक पत्र आया जिसमें सन्देहपूर्ण परन्तु सन्तुलित शब्दों में सलाह दी गई कि मैं अपनी सुरक्षा की दृष्टि से उनके हेडक्वार्टर्स में आ जाऊँ। मुझे इस गुस्ताखी पर आश्चर्य हुआ। ऐसा कोई कदम उठाने का मेरे लिए तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। फिर भी, समय को खींचने के लिए मैंने तुष्टिकारी शब्दों में जवाब दिया।

दूसरे दिन 11 मार्च को भीड़ के नेताओं ने शासन के लिए घोषणा की कि वे मंत्रिमंडल कार्यालय के सामने रक्षा-गार्ड तैनात करेंगे—यह कार्यालय नोरबुलिंग्का की बाहरी दीवार के भीतर स्थित था। इसका उद्देश्य था कि मन्त्रियों को महल के अहाते से बाहर न निकलने दिया जाए। उन्हें डर था कि यदि वे इस तरह कानून अपने हाथ में नहीं लेंगे तो चीनी अधिकारी सरकार को समझौता करने के लिए बाध्य कर सकते हैं। इसके बाद काशाग ने इन नेताओं के साथ एक मीटिंग की और उनसे प्रदर्शन समाप्त करने की प्रार्थना की, नहीं तो खुले संघर्ष की स्थिति पैदा हो सकती थी।

पहले तो नेताओं ने उनकी बात सुनने में दिलचस्पी दिखाई, लेकिन तभी जनरल तान कुआन-सेन के दो पत्र प्राप्त हुए। इनमें से एक मेरे लिए था और दूसरा काशाग के लिए। मेरे पत्र में पिछले पत्र की बात ही दोहराई गई थी और उसका उत्तर मैंने उसी तरह नम्रता से दे दिया, और स्वीकार किया कि भीड़ में कुछ खतरनाक तत्त्व अवश्य हैं जो चीन और तिब्बत के सम्बन्ध बिगाड़ना चाहते हैं। मैंने यह भी मान लिया कि अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए मेरे वहाँ आ जाने का विचार अच्छा है (लेकिन यह सम्भव नहीं प्रतीत होता।)

दूसरे पत्र में जनरल ने मंत्रियों को आदेश दिया था कि वे भीड़ को आदेश दें कि ल्हासा से चीन जाने वाली सड़क पर उन्होंने जो रोकें लगाई हैं, उन्हें हटा लें। दुर्भाग्य से, इसका खतरनाक असर पड़ा। भीड़ के नेताओं को लगा कि इन रोकों को हटाने का आदेश देकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि वे चीन से और सेनाएँ लाकर दलाई लामा पर आक्रमण करना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने इसके लिए इन्कार कर दिया।

यह सुनकर मैंने फैसला किया कि मैं स्वयं इन लोगों से बात करूँगा। मैंने उनसे बात की और समझाया कि यदि लोगों ने तुरन्त यह स्थान खाली नहीं किया तो चीनी सेनाएँ उन्हें हटाने के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकती हैं। लगा कि मेरी बात का कुछ असर हुआ है, क्योंकि उन्होंने घोषणा की कि वे यहाँ से हटकर पोटाला के नीचे स्थित गाँव शोल में चले जाएँगे, जहाँ बाद में बहुत से प्रदर्शनकारी गिरफ्तार भी किए गए। लेकिन अधिकांश लोग नोरबुलिंग्का के बाहर ही डटे रहे।

इसी समय मैंने दिव्य वक्ता नेचुंग से सलाह ली और यह जानना चाहा कि मुझे क्या करना चाहिए। उसे बड़ी जल्दी में बुलाया गया। मैंने प्रश्न किया कि मैं रुकूँ या निकलने की चेष्टा करूँ। उसने स्पष्ट उत्तर दिया कि मुझे रुकना चाहिए और चीनियों से बातचीत जारी रखनी चाहिए। इस बार मैं भी सोचने लगा कि क्या इन परिस्थितियों में यह करना वास्तव में सही होगा। मुझे लूखांग्वा की टिप्पणी याद आई कि देवताओं को जब कभी मार्ग नहीं सूझता, तब वे झूठ का सहारा लेते हैं। इसलिए मैं सारी दोपहर 'मो' का अनुष्ठान करता रहा, जो भविष्य-कथन की दूसरी विधि है। लेकिन उसका परिणाम भी यही निकला।

अगले कुछ दिन अनिश्चितता तथा भय के वातावरण में गुज़रे। कुछ सुझाई नहीं दे रहा था। रोज़ खबरें आ रही थीं कि चीनी सेना अपनी शक्ति बढ़ाती जा रही है और प्रदर्शनकारी भी अपना आपा खो रहे हैं। मैंने फिर दिव्य वक्ता की शरण ली, लेकिन उसका जवाब वही था। फिर 16 तारीख को मुझे जनरल का तीसरा और अन्तिम पत्र प्राप्त हुआ, जिसके साथ न्गाबो का भी सन्देश था। जनरल तान के पत्र में पिछले दो पत्रों की बातें ही दोहराई गई थीं। परन्तु न्गाबो ने वही बात कही जिसका हम सब पिछले कई दिनों से अन्देशा कर रहे थे, यानी चीनी सेना भीड़ पर हमला करने और नोरबुलिंग्का पर गोलीबारी करने की योजना बना रही है। वह चाहता था कि नक्शा बनाकर मैं उसे बताऊँ कि मैं कहाँ रहूँगा—जिससे सेना को उस इमारत पर हमला न करने के निर्देश दिए जा सकें। यह तथ्य जैसे-जैसे दिमाग में उतरता गया, डर बढ़ता गया। अब सिर्फ मेरी ही जान को खतरा नहीं था बल्कि मेरे हज़ारों-हज़ार लोगों के लिए जान जाने का ख़तरा पैदा हो गया था। यह खतरा तभी टल सकता था जब भीड़ को घर लौटने के लिए समझाया जा सके। वे यह समझ सकते थे कि चीनी अधिकारियों को उन्होंने अपनी भावनाओं की तीव्रता

का परिचय तो दे ही दिया है, इसलिए वे घर लौट सकते थे, लेकिन इसके लिए वे तैयार नहीं थे। वे इन विदेशियों और उनके अत्याचारों से इतने ज्यादा क्रुद्ध थे कि अब कुछ भी उन्हें डिगा नहीं सकता था। वे अपने बहुमूल्य रक्षक अर्थात् दलाई लामा के हित के लिए अन्त तक यहीं बने रहेंगे, भले ही उन्हें अपने प्राण क्यों न गँवाने पड़े।

झिझकते हुए मैंने न्गाबो और जनरल तान को कुछ इस तरह उत्तर लिखवाना शुरू किया कि मैं ल्हासा निवासियों में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के इस शर्मनाक व्यवहार से आश्चर्यचकित हूँ। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि मैं अब भी अपनी सुरक्षा के लिए उनके हेडक्वार्टर्स में जाना उचित समझता हूँ, लेकिन इस समय यह कर पाना बहुत कठिन जान पड़ता है और मैं आशा करता हूँ कि वे भी धैर्यपूर्वक इन प्रदर्शनों के स्वयं समाप्त हो जाने की प्रतीक्षा कर सकेंगे। समय को धक्का देने के लिए मैं कुछ भी कर सकता था। यह भी सच है कि भीड़ अनन्त काल तक तो यहाँ बैठी नहीं रहेगी। मैंने जान-बूझकर उन्हें अपने निवास की जगह नहीं बताई, जिससे इस बात का अज्ञान ही उन्हें देर तथा इन्तज़ार करने की प्रेरणा दे सके।

यह पत्र भेजने के बाद मैं सोचने लगा कि अब क्या किया जाए। दूसरे दिन फिर मैंने दिव्य वक्ता की सलाह माँगी। मुझे आश्चर्य हुआ, कि उसने चिल्लाकर कहा, "जाओ! जाओ! आज रात!" इसके बाद माध्यम ने, जो अभी भी ध्यान में ही था, लड़खड़ाते हुए आगे बढ़कर कहीं से एक कागज़ और एक कलम झटके से उठाया, और उस पर मेरे जाने का मार्ग, जो नोरबुलिंग्का से शुरू होता था और भारत सीमा पर आखिरी तिब्बती कस्बे तक जाता था, बड़ी स्पष्टता से अंकित कर मुझे पकड़ा दिया। ये सूचनाएँ ऐसी थीं जिनकी उससे अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। यह दिव्य वक्ता लोबसांग जिग्मे नामक एक युवा भिक्षु था, जो यह बताने के बाद ज़मीन पर गिर पड़ा, जिसका अर्थ यह था कि दोरजे द्राकदेन उसके शरीर से बाहर चले गए हैं। इसके तुरन्त बाद, जैसे माध्यम की सूचनाओं को बल देने के लिए ज्वेल पार्क के उत्तरी द्वार के आगे दलदली ज़मीन पर दो धमाके हुए।

अब कई दशक बाद इस घटना पर विचार करते हुए मुझे प्रतीत होता है कि दोरजे द्राकदेन पहले से यह बात जानते थे कि मुझे 17 तारीख को ल्हासा छोड़ना ही होगा, लेकिन अब तक उन्होंने यह इसलिए नहीं बताया कि कहीं बात फैल न जाए। कोई योजना न बनने से किसी को सन्देह नहीं हो सकता था।

लेकिन मैंने एकदम भाग निकलने की तैयारियाँ शुरू नहीं कीं। सबसे पहले मैं इस निर्णय को पुष्ट करना चाहता था, इसलिए 'मो' का अनुष्ठान दोबारा किया। इसने भी उसका समर्थन किया। परन्तु सफलतापूर्वक निकल पाने की सम्भावनाएँ बहुत कम दिखाई दे रही थीं। पहली कठिनाई तो यही थी कि महल के सामने एकत्र भीड़ किसी भी व्यक्ति को बिना तलाशी लिए न भीतर आने दे रही थी और न

बाहर जाने दे रही थी। दूसरी यह कि न्गाबो के पत्र से भी यह स्पष्ट हो गया था कि चीनी भी इस बात की आशंका कर रहे थे कि मैं भागने की कोशिश कर सकता हूँ, इसलिए उन्होंने भी अपने प्रबन्ध कर लिए होंगे। फिर भी ये अलौकिक परामर्श मेरी अपनी तर्क पद्धति का समर्थन कर रहे थे। मुझे विश्वास हो चला था कि यह भीड़ तभी यहाँ से हटेगी जब उसे मेरे यहाँ से चले जाने का भरोसा हो जाएगा। यदि मैं भीतर नहीं होऊँगा तो लोगों को यहाँ रहने का कारण भी नहीं रहेगा। इसलिए मैंने यह सलाह मानने का निश्चय कर लिया।

चूँकि स्थिति बड़ी गम्भीर थी इसलिए मैंने सोचा कि जितने कम लोगों को इसके बारे में बताया जाए, उतना ही अच्छा रहेगा। इसलिए मैंने केवल अपने प्रमुख प्रतिहारी और चिकयाब केनपो को ही बताया। अब उनका काम यह था कि रात को महल छोड़कर निकल जाने की तैयारी करें, कि कितने लोग किस प्रकार बिना किसी को बताए यहाँ से चलेंगे। इस चर्चा के साथ हमने यह भी तय किया कि हमारे दल में कौन-कौन रहेगा। मैं केवल अपने प्रमुख सहायकों तथा दोनों अध्यापकों को साथ लूँगा और परिवार के उन सदस्यों को जो इस समय यहाँ रह रहे हैं।

दोपहर के समय मेरे अध्यापक और काशाग के चारों सदस्य एक लॉरी के पिछले भाग में तिरपाल में छिपकर महल से बाहर निकल गए; शाम को मेरी माँ, तेनज़िन चोएग्याल और सेरिंग डोलमा वेश बदलकर क्यिचू नदी के दक्षिण में बने भिक्षुणियों के आश्रम में जाने के बहाने से निकल गए। इसके बाद मैंने प्रदर्शनकारियों के नेताओं को बुलाया और उनसे अपनी योजना के बारे में चर्चा की, उनसे पूरे सहयोग की माँग की—जो मुझे ज्ञात था कि अवश्य मिलेगा—और इसे एकदम गुप्त रखने को भी कहा। मुझे विश्वास था कि भीड़ में चीनियों के गुप्तचर भी अवश्य होंगे। जब ये लोग चले गए तो मैंने उनके लिए एक पत्र लिखा, जिसमें उनसे प्रार्थना की कि आत्मरक्षा के अलावा किसी भी अवस्था में गोलियाँ न चलाएँ, और यही निर्देश मेरी ओर से जनता को भी दे दें। यह पत्र उन्हें दूसरे दिन दिया जाना था।

रात बढ़ने लगी तो मैं अन्तिम बार अपने व्यक्तिगत संरक्षक देवता, महाकाल की पूजा के लिए अन्तिम बार उसके मन्दिर में गया। मैं इसके भारी कड़कड़ाते दरवाज़े से भीतर घुसा और एक क्षण रुककर अपने सामने की स्थिति का जायज़ा लिया। रक्षक देवता की विशाल मूर्ति के पैरों के पास कई भिक्षु बैठे प्रार्थना कर रहे थे। कमरे में बिजली की रोशनी नहीं थी, सिर्फ दर्जनों आरती के सोने और चाँदी के बर्तनों में जल रहे छोटे-बड़े दीये रोशनी फेंक रहे थे। दीवारों पर अनेकों भित्तिचित्र अंकित थे। वेदी पर एक बर्तन में साँपा भी रखा था। एक सेवक एक बड़े मटके पर झुका दीयों में डालने के लिए मक्खन निकाल रहा था। किसी ने सिर नहीं उठाया, हालाँकि मैं जानता था कि सबको मेरी उपस्थिति का ज्ञान हो गया होगा। मेरी दाहिनी ओर एक भिक्षु ने खंजरी हाथ में उठा ली, दूसरे ने शंख मुँह से लगाकर लम्बी दर्द-भरी

धुन निकाली। खंजरी एक-दूसरे से टकराई और उसकी आवाज़ वातावरण में गूँजने लगी। यह मुझे बड़ी भली लग रही थी।

मैंने आगे बढ़कर देवता को सफेद सिल्क का काता चढ़ाया। विदा लेते समय तिब्बत की परम्परा में यह वस्त्र अर्पित किया जाता है, जिसका अर्थ देवता की आराधना के साथ वापस लौटने की इच्छा व्यक्त करना भी होता है। फिर एक क्षण मैंने मन-ही-मन प्रार्थना की। भिक्षुओं को अब अवश्य लग रहा होंगा कि मैं जा रहा हूँ, लेकिन मुझे उनके चुप रहने का विश्वास था। कमरे से बाहर निकलने से पहले मैंने कुछ देर बैठकर बुद्ध के सूत्रों का पाठ किया, और उस स्थल पर पहुँचकर उसे समाप्त किया जहाँ 'आत्मविश्वास तथा साहस' की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

भवन से निकलते समय मैंने किसी को निर्देश दिया कि भवन की बत्तियाँ मद्धिम कर दे, फिर नीचे उतरा, जहाँ मेरा एक कुत्ता मुझे मिला। मैंने उसे थपथपाया और यह सोचकर खुश हुआ कि यह कभी मुझसे ज़्यादा घनिष्ट नहीं हुआ। उससे अलग होना कठिन नहीं हुआ। मुझे अपने अंगरक्षकों और सफाई-कर्मचारियों से अलग होने में दुख हो रहा था। फिर मार्च की ठंडी हवा में बाहर निकला। इमारत के मुख्य द्वार पर दोनों ओर ज़मीन तक सीढ़ियाँ बनी थीं। मैंने इनका चक्कर लगाया, दूसरी तरफ रुककर सोचा कि भारत सुरक्षित पहुँच गया हूँ, फिर द्वार की तरफ वापस लौटते हुए कल्पना की कि तिब्बत लौट रहा हूँ।

दस बजने से कुछ मिनट पहले मैं एक पैंट और लम्बा, काला कोट पहने खड़ा था, मेरे दायें कन्धे पर एक रायफ़िल लटकी थी और बाएँ पर दूसरे दलाई लामा का एक प्राचीन थांका पड़ा था। फिर अपना चश्मा जेब में डालकर मैंने बाहर कदम रखा। मैं बहुत भयभीत था। दो सैनिक मेरे साथ हो लिए, जो चुपचाप मुझे रास्ता दिखाते हुए भीतरी दीवार के द्वार तक ले आए, जहाँ कुसुन देपॉन मेरा इन्तज़ार कर रहे थे। इनके साथ मैं पार्क में रास्ता टटोलते हुए बाहर की ओर चला; कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। बाहरी दीवार पर चिकयाब केनपो मुझसे आ मिले, जो तलवार बाँधे हुए थे। वे धीमी परन्तु स्थिर आवाज़ में मुझसे बात कर रहे थे। मुझे हर स्थिति में उनके साथ रहना था। फाटक से बाहर निकलते हुए उन्होंने लोगों से कहा कि वे निरीक्षण के लिए जा रहे हैं। किसी ने हमें नहीं रोका। इसके बाद कोई शब्द नहीं कहा गया।

मैं भारी भीड़ को पार करके लड़खड़ाता हुआ आगे बढ़ता रहा, और किसी ने हम पर कोई ध्यान नहीं दिया, कुछ मिनट चलने के बाद हम फिर अकेले हो गए। हम अपने लोगों के बीच से तो सफलतापूर्वक निकल आए थे लेकिन अब चीनियों से सामना होना था। अपने पकड़े जाने के विचार से मुझे बहुत डर लग रहा था। जीवन में पहली बार मुझे सचमुच डर लगा था—अपने लिए तो उतना नहीं, लेकिन उन लाखों लोगों के लिए जो मुझमें आस्था रखते थे। अगर मैं पकड़ा गया

तो सब समाप्त हो जाएगा। कुछ भय इस बात का भी था कि हमें चीनी सैनिक न समझ लिया जाए और स्वाधीनता-सेनानी अनजाने में कुछ कर न बैठें।

हमारी पहली बाधा क्यिचू नदी की सहायक धारा थी; जहाँ मैं छुटपन में आया करता था, परन्तु बड़े होने पर ताथाग रिन्पोचे ने जहाँ मेरा आना बंद कर दिया था। इसे पार करने के लिए हमें पत्थरों पर पैर जमाने होते थे, जो चश्मा न पहने होने के कारण मेरे लिए बहुत कठिन हो रहा था। एक दफ़ा से ज्यादा मैंने अपना सन्तुलन खोया। फिर इसे पार करके हम मुख्य नदी की ओर चले। यहाँ पहुँचने से पहले बहुत-से लोगों का एक झुंड मिला। प्रमुख प्रतिहारी ने इनके नेताओं से संक्षिप्त सी बात की और हम दवी तट पर आ पहुँचे। यहाँ कई चमड़े की नौकाएँ हमारा इन्तज़ार कर रही थीं और उनके साथ कई मल्लाह भी थे।

हमने आराम से नदी पार कर ली, यद्यपि चप्पू की हर आवाज़ मशीनगनों के मुँह हमारी ओर कर सकती थी। उस समय ल्हासा के भीतर और बाहर हज़ारों चीनी सैनिक तैनात थे और यह सोचना कठिन नहीं था कि उनकी गश्त इधर भी तैनात होगी। नदी के पार कुछ स्वाधीनता-सेनानी घोड़ियाँ लिए हमारा इन्तज़ार कर रहे थे। यहाँ मेरी माँ, भाई, बहन और दोनों अध्यापक भी हमारे साथ शामिल हो गए। फिर हमने कुछ देर अपने अधिकारियों की प्रतीक्षा की जो हमारे पीछे-पीछे ही आ रहे थे। हम सब धीमी परन्तु तीखी फुसफुसाहट में एक-दूसरे से बातें करते रहे कि चीनियों के कारण हमें यह कैसा समय देखना पड़ रहा है। मैंने अब अपना चश्मा लगा लिया था—इससे ज्यादा अंधापन मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता था—लेकिन चश्मा लगाते ही मुझे अफसोस होने लगा कि इसे मैंने क्यों लगा लिया, क्योंकि अब मुझे चीनी सेना के सन्तरियों की टॉर्चों से हो रही रोशनियाँ दिखाई देने लगी—जहाँ हम खड़े थे उससे कुछ सौ गज़ की ही दूरी पर चीनी गैरिसन के तम्बू लगे थे। सौभाग्य से चन्द्रमा को उस समय बादलों ने ढक लिया था और बहुत कम दिखाई दे रहा था।

जब सब लोग एकत्र हो गए, हम पर्वत तथा दर्रे की दिशा में, जिसका नाम चे-ला था, बढ़ने लगे—यह दर्रा ल्हासा घाटी को सांग्यो घाटी से अलग करता है। सवेरे तीन बजे के करीब हम एक बहुत मामूली फ़ार्म-हाउस पर रुके, जो आगामी कई हफ्तों में हमें शरण प्रदान करने वाले स्थानों में पहला था। लेकिन यहाँ हम ज़्यादा देर रुके नहीं और थोड़ी ही देर बाद दर्रे की तरफ चल पड़े, जहाँ हम आठ बजे तक पहुँच गए। हमारे यहाँ पहुँचने से कुछ ही देर पहले सूरज की पहली किरण फूटी थी, और हमें अपनी जल्दबाज़ी का परिणाम दिखाई देने लगा। इस कारण हमारी घोड़ियों, उनकी ज़ीनों और सवारी करने वालों में अदला-बदली हो गई थी। जिस मठ ने हमें ये घोड़ियाँ दी थीं, उन्हें पहले कोई जानकारी नहीं दी गई थी और अँधेरे के कारण कुछ सबसे अच्छी घोड़ियों पर सबसे रद्दी ज़ीन कस दिए गए थे और उन्हें

ग़लत आदमियों को दे दिया गया था, जबकि सबसे बूढ़े और ढीले-ढाले जानवर सबसे बढ़िया ज़ीनें लगाए सबसे बड़े अधिकारियों द्वारा चलाए जा रहे थे।

सोलह हज़ार फीट ऊँचे दर्रे पर पहुँचकर—मेरी घोड़ी चलाने वाले सेवक ने रुककर पीछे नज़र डाली और मुझसे कहा कि ल्हासा नगर पर आखिरी नज़र डालूँ। दूसरी तरफ़ दूर तक फैला यह प्राचीन नगर हमेशा की तरह गम्भीर दिखाई दे रहा था। मैंने उतरकर कुछ देर प्रार्थना की और रेत पर नीचे दौड़ता चला गया। इसके बाद हमने कुछ देर तक आराम किया और फिर सांग्पो के तट की दिशा में बढ़ने लगे। यहाँ हम दोपहर होने तक पहुँच गए। यहाँ एक ही स्थान से नाव द्वारा नदी पार की जा सकती थी और हम सोच रहे थे कि हमसे पहले चीनी यहाँ न पहुँच गए हों। वे नहीं पहुँचे थे।

दूसरी ओर हम एक छोटे-से गाँव में रुके, जहाँ के निवासी हमारा स्वागत करने निकल आए थे—उनमें कई रो रहे थे। अब हम तिब्बत के सबसे कठिन प्रदेश में पहुँच रहे थे, जहाँ बहुत ही थोड़ी और बहुत ही दूर-दूर बसी बस्तियाँ थीं। इसी प्रदेश को स्वाधीनता-सेनानियों ने अपना मुख्य केन्द्र बनाया था। यहाँ से आगे, मुझे पता था कि सैकड़ों गुरिल्ला सैनिक हमारे इर्द-गिर्द दूर-दूर तक अदृश्य छिपे बैठे हैं, जिन्हें हमारे इस प्रदेश से गुज़रने की सूचना पहले ही दी जा चुकी थी, और जो यात्रा के दौरान हमारी रक्षा करते रहेंगे।

चीनियों के लिए यहाँ हमारा पीछा करना कठिन ही था, परन्तु यदि उन्हें हमारी स्थिति की सूचना हो तो यह सम्भव था कि वे हमारे यात्रा-मार्ग का अनुमान लगाकर उस पर अपने सैनिकों को तैनात कर दें और हमें रोकने की कोशिश करें। इसलिए हमारी तात्कालिक सुरक्षा के लिए तिब्बती सेना के साढ़े तीन सौ जवानों का जत्था तैयार किया गया था, और उनके अलावा पचास-साठ अनियमित सैनिक भी थे। अब हमारे दल की संख्या भी बढ़कर सौ हो चुकी थी।

मुझे छोड़कर प्रायः सभी व्यक्ति हथियारों से लैस थे—मेरा रसोइया भी एक बहुत भारी बाज़ूका गन लिए और कंधे पर कारतूसों की पेटी लटकाए घूमता रहता था। जिन कुछ जवानों को सी. आई. ए ने प्रशिक्षित किया था, यह उनमें से एक था। यह अपनी शानदार परन्तु खतरनाक बन्दूक का इस्तेमाल करने के लिए इतना उतावला रहता था कि एक दफ़ा उसने सचमुच ज़मीन पर लेटकर एक दिशा में तड़ातड़ कई गोलियाँ दाग दीं—जो, उसे लगा कि दुश्मन का ठिकाना होगा। लेकिन फिर उसे गोलियाँ भरने में इतना ज़्यादा समय लगा कि मैं सोचने लगा कि जब सचमुच का दुश्मन सामने होगा तब यह क्या कर पाएगा। कुल मिलाकर, मुझे उसका प्रदर्शन सही नहीं लगा।

हमारे दल में सी. आई. ए. से जुड़ा एक और व्यक्ति था जो रेडियो के ज़रिए पूरे सफ़र में अपने हेडक्वार्टर्स से सम्पर्क बनाए रहा, हालाँकि यह मैं आज तक नहीं

जान सका कि उसका सम्पर्क किस से था। मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि उसके पास मोर्स-की ट्रांसमीटर था।

उस रात हम रा-मे नामक मठ में रुके जहाँ मैंने जल्दी से पैंचेन लामा को एक पत्र लिखा और उसे राय दी कि वह भी यदि सम्भव हो तो भारत निकल आए और मुझसे मिले। सर्दियों के मध्य से मुझे उसके बारे में कोई खबर नहीं मिली थी, उस वक्त उसने मुझे नए वर्ष की शुभकामनाएँ भेजी थीं। इसी के साथ एक गुप्त पत्र में उसने लिखा था कि, देश-भर में स्थिति बिगड़ती चली जा रही है इसलिए हमें भविष्य के लिए कुछ नीति निर्धारित करनी चाहिए। उसकी ओर से यह पहला संकेत था कि वह भी चीनी शासकों से प्रसन्न नहीं है। दुर्भाग्य से मेरा सन्देश उस तक नहीं पहुँच सका और वह तिब्बत में ही बना रहा।

हमारे मार्ग में दूसरा दर्रा सावो-ला था, जहाँ हम दो-तीन दिन बाद पहुँचे। यहाँ बहुत ठंड थी और अंधड़ चल रहे थे। मुझे अपने कुछ साथियों की चिन्ता सताने लगी। मैं स्वयं युवा और स्वस्थ था लेकिन दल के कई बड़ी उम्र के लोग बहुत कठिनाई महसूस कर रहे थे। परन्तु हम यात्रा में ढील नहीं दे सकते थे क्योंकि चीनी सेना का खतरा अब तक बरकरार था। ग्यान्त्से और कोंगपो दोनों क्षेत्रों में चीनियों की फौजें थीं और हम इन दोनों के बीच फँस सकते थे।

पहले मेरा इरादा यह था कि भारत की सीमा के काफ़ी समीप ल्हुन्त्से ज़ोंग नामक स्थान पर रुकूँ और सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' को रद्द करके तिब्बत के वास्तविक शासक के रूप में अपनी सरकार को पुनर्स्थापित करूँ, और चीनियों के साथ वार्ता आरम्भ करने का प्रयत्न करूँ। लेकिन लगभग पाँचवें दिन एक घुड़सवारों का दल एक भयंकर समाचार लेकर हमारे पास आ पहुँचा। उसने बताया कि मेरे वहाँ से रवाना होने के अड़तालीस घंटे बाद चीनियों ने नोरबुलिंग्का पर गोलाबारी शुरू कर दी है और निहत्थी भीड़ पर भी जो अभी तक वहीं जमा है, मशीनगनें चलाई जा रही हैं। मुझे जिस बात का सबसे ज़्यादा डर था, वही हो रहा था। मैंने महसूस किया कि जो लोग इतने क्रूर कार्य कर सकते हैं उनके साथ बातचीत करने का कोई अर्थ नहीं है। अब हम यही कर सकते थे कि जल्दी से जल्दी जितनी ज़्यादा दूर हो सके, पहुँच जाएँ, हालाँकि भारत अभी भी कई दिन दूर था, जहाँ पहुँचने के लिए हमें अभी भी कई पर्वत पार करने थे।

एक हफ्ते की यात्रा के बाद हम ल्हुंत्से ज़ोंग पहुँचे; यहाँ हम सिर्फ दो रात रुके। यहाँ मैंने सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' का औपचारिक रूप से परित्याग कर दिया और अपनी सरकार के निर्माण की घोषणा की, जो तिब्बत की एकमात्र वैधानिक रूप से गठित सरकार होगी। घोषणा के इस आयोजन में लगभग एक हज़ार लोग उपस्थित थे। मैं यहाँ कुछ दिन और रुकना चाहता था लेकिन समाचार आने लगे थे कि चीनी सेनाएँ हमसे ज़्यादा दूर नहीं हैं। इसलिए हमने यथाशीघ्र भारत की सीमा तक पहुँचने

का निर्णय किया, जो सीधी लकीर में यहाँ से साठ मील दूर था, यद्यपि ज़मीन से इसकी दुगुनी दूरी पर था। अभी हमें एक और पहाड़ पार करना था, जिसमें कई दिन लगने थे, विशेषकर इसलिए कि हमारी घोड़ियाँ बहुत ज़्यादा थक चुकी थीं और उन्हें खिलाने के लिए चारा भी खत्म होता जा रहा था। अब उन्हें ताक़त इकट्ठी करने के लिए बार-बार आराम करने की ज़रूरत पड़ने लगी थी। यहाँ से चलने से पहले मैंने कुछ सबसे स्वस्थ लोगों का दल तेज़ी से भारत पहुँचने के लिए भेजा, कि वहाँ जाकर वे सबसे समीप के अधिकारियों से मिलें और उन्हें बताएँ कि हम उनके देश में शरण लेने के लिए आना चाहते हैं।

ल्हून्त्से ज़ोंग से हम झोरा गाँव होते हुए, सीमा से पूर्व के अन्तिम दर्रे, कारपो, पहुँचे। हम जैसे ही यहाँ के सबसे ऊँचे स्थल से गुज़र रहे थे, हमें एक बड़ा धक्का लगा। न जाने कहाँ से एक हवाई जहाज़ निकला और हमारे सिर के ऊपर से गुज़र गया। वह इतनी तेज़ी से निकला कि हममें से कोई उस पर लिखे अक्षर नहीं देख सका—लेकिन उसमें बैठे लोगों ने हमें अवश्य देख लिया होगा। यह अच्छा संकेत नहीं था। अगर जहाज़ चीनी था—और शायद यह चीनी ही था—तो उनको पता चल गया होगा कि हम कहाँ हैं। अब वे वापस लौटकर हम पर हवाई हमला कर सकते थे, जिससे हम सुरक्षित नहीं थे। जहाज़ जो भी रहा हो, यह हमारे लिए चेतावनी थी कि तिब्बत में हम कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं। यह जानने के बाद निर्वासन सम्बन्धी मेरी सब मिथ्या धारणाएँ एकदम चकनाचूर हो गईं। अब एकमात्र आशा थी—भारत।

कुछ समय बाद, जो लोग ल्हून्त्से ज़ोंग से सीमा पार भेजे थे, वे यह समाचार लेकर लौट आए कि भारत सरकार ने मुझे शरण देने की इच्छा व्यक्त की है। यह सुनकर मुझे बड़ी राहत मिली, क्योंकि उनकी स्वीकृति के बिना में उस देश में पैर रखना नहीं चाहता था।

तिब्बत में अपनी आखिरी रात मैंने एक छोटे-से गाँव, मंगमंग, में बिताई। हम बर्फ के अपने महान देश की इस अन्तिम चौकी पर पहुँचे, वर्षा आरम्भ हो गई। इस पूरे हफ्ते मौसम बहुत खराब रहा था, हमें ज़बरदस्त अंधड़ और चमकती बर्फ के बीच से लुढ़कते-पुढ़कते गुज़रना पड़ रहा था और अब ऊपर से यह वर्षा—हम थककर चूर हो चुके थे और अब पानी की हमें कोई ज़रूरत नहीं थी, लेकिन रात-भर धाराधार पानी गिरता रहा। मेरा तम्बू भी चूने लग गया था और उसमें छोटी-छोटी नदियाँ बहने लगी थीं—मैं जहाँ भी अपना बिछौना खींचकर ले जाता, इनसे छुटकारा नहीं था। नतीजा यह हुआ कि जिस बुखार को मैं कई दिनों से रोकने की कोशिश कर रहा था, वह रात-भर में पेचिश बनकर सवेरे प्रकट हो गया।

दूसरे दिन मैं इतना बीमार था कि चल ही नहीं सकता था, इसलिए उस दिन की यात्रा रोक दी गई। मेरे साथी मुझे समीप के एक छोटे से घर में ले गए, लेकिन यह भी मेरे तम्बू से ज़्यादा अच्छा साबित नहीं हुआ। यहाँ एक परेशानी यह भी

थी कि मेरे कमरे के नीचे गायें बँधी थीं जिनकी बू मुझसे सही नहीं जा रही थी। उस दिन मैंने अपने छोटे-से रेडियो पर, जिसे मैं साथ रखता था, आल इंडिया रेडियो द्वारा प्रसारित यह समाचार सुना कि मैं भारत पहुँच रहा हूँ, और घोड़े से गिर जाने के कारण मुझे बहुत चोट पहुँची है। यह सुनकर मुझे खुशी ही हुई, क्योंकि ऐसी दुर्घटना का मैं शिकार नहीं हुआ था, हालाँकि मुझे चिन्ता भी हुई कि मित्र परेशान हो उठेंगे।

दूसरे दिन मैंने आगे बढ़ने का निश्चय किया। अब मुझे एक कठिन काम यह करना था कि जो सैनिक तथा स्वाधीनता सेनानी ल्हासा से यहाँ तक मुझे सुरक्षित लेकर आए थे, और जो अब चीनियों का सामना करने तिब्बत लौट जाएँगे, उनसे अलविदा कहूँ एक अधिकारी भी वापस जाना चाहता था। उसका कहना था कि भारत में उसका कोई उपयोग नहीं होगा इसलिए वहीं रहकर लड़ना सही होगा। मैंने उसके साहस और दृढ़ता की प्रशंसा की।

इन सबको अश्रुपूर्ण विदाई देने के बाद मुझे एक ज़ोमो की चौड़ी पीठ पर चढ़ाकर ले जाया गया, क्योंकि अभी भी मैं घोड़े पर चढ़ने के योग्य नहीं हुआ था। अपने देश के इस साधारण पशु पर सवार होकर मैंने अपना देश छोड़ा।

8

विवशता का वर्ष

जब हम आठ यात्री, बेहद थके-माँदे और मानसिक रूप से त्रस्त भारतीय सीमा पर पहुँचे, तब हमारे दल का दृश्य दयनीय ही रहा होगा। जिन भारतीय गार्डों ने हमारा स्वागत किया, उनमें से एक, जब मैं दो साल पहले यहाँ आया था, उस समय का मेरा परिचित था, जिसे देखकर मुझे अच्छा लगा। उसने मुझे बताया कि हमें आराम करने के लिए बोमडिला ले जाने का निर्देश दिया गया है—यह बड़ा शहर है, जहाँ पहुँचने के लिए एक सप्ताह की और यात्रा करनी थी।

आखिरकार, हम ल्हासा छोड़ने के तीन सप्ताह बाद यहाँ पहुँच गए, यद्यपि हमें लग रहा था कि एक युग बीत गया है। मेरे पुराने सम्पर्क अधिकारी तथा दुभाषिये, मि. मेनन, और सोनम तोपग्याल काज़ी ने मेरा स्वागत किया, और एक ने मुझे प्रधानमंत्री नेहरू जी का यह तार दिया :

"मैं और मेरे सहयोगी भारत सुरक्षित पहुँच जाने के लिए आपका स्वागत करते हैं। हमें आपको, आपके परिवार को तथा साथियों को भारत में निवास के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने में प्रसन्नता होगी। भारत की जनता, जिसके मन में आपके प्रति गहरा भक्तिभाव है, आपको सदा अपना पारम्परिक आदर प्रदान करती रहेगी। सद्भावनापूर्वक—नेहरू।"

बोमडिला में जहाँ ज़िले के कमिश्नर तथा उनके परिवार ने हमारी अच्छी देखभाल की, हम दस दिन रहे। इस समय तक मेरी पेचिश बिलकुल ठीक हो गई थी। फिर 18 अप्रैल, 1959 को सवेरे मुझे जीप द्वारा फुटहिल्स नामक सैनिक शिविर ले जाया गया, जहाँ कैनवास की एक लम्बी पट्टी बिछाकर, जिसके दोनों तरफ सैनिक खड़े थे, मुझे सलामी दी गई। यह दरी शिविर के ओवरसियर के घर पर खत्म होती थी, यहाँ मुझे यह सवेरा बिताना था। नाश्ते में मुझे ताज़े केले दिए गए, जो मैं ज़रा ज़्यादा ही खा गया और जिसका मेरे हाज़मे पर बुरा प्रभाव पड़ा—और मि. मेनन ने मुझे उन सब इन्तज़ामों की जानकारी दी जो भारत सरकार ने मेरे लिए किए थे।

यहाँ से दोपहर बाद मैं तेज़पुर ले जाया गया, जहाँ से मसूरी के लिए मेरी यात्रा शुरू हुई; यह हिल स्टेशन दिल्ली से ज़्यादा दूर नहीं है। यहाँ मेरे लिए एक

घर का प्रबन्ध कर दिया गया था। डेढ़ हज़ार मील की यह यात्रा तय करने के लिए एक विशेष ट्रेन का प्रबन्ध किया गया था।

जब मैं फुटहिल्स की इमारत से निकला और तीस मील दूर रेलवे स्टेशन पहुँचने के लिए एक लाल रंग की बड़ी-सी कार में सवार हुआ, तो मेरे इर्द-गिर्द अनेक कैमरा-मैन इकट्ठे थे। मुझे बताया गया कि ये सब दुनिया के अख़बारों के प्रतिनिधि हैं। ये सब इस 'शताब्दी की सबसे बड़ी कहानी' की रिपोर्ट लेने यहाँ आए थे। मैं समझ गया कि शहर पहुँचने पर मुझे और ज़्यादा ऐसे लोगों का सामना करना पड़ेगा।

तेज़पुर पहुँचने पर मुझे सीधे सर्किट हाउस ले जाया गया, जहाँ मेरे लिए हज़ारों संदेश, तार और पत्र जमा थे, जिनमें दुनिया-भर के लोगों ने मेरे लिए शुभकामनाएँ इत्यादि भेजी थीं। कुछ क्षण के लिए मैं कृतज्ञता से अभिभूत हो उठा, लेकिन तुरन्त वर्तमान की आवश्यकताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। मुझे लगा कि इस समय मेरी सबसे बड़ी ज़रूरत इस बात की है कि मैं एक छोटा-सा वक्तव्य तैयार करूँ और इन सब लोगों को दूँ, जो मेरे कुछ शब्दों का अपने अख़बारों को भेजने के लिए इन्तज़ार कर रहे हैं, इस वक्तव्य में मैंने बहुत सावधानी से उस सारे इतिहास की रूपरेखा दी, जिसका मैंने इन अध्यायों में वर्णन किया है। इसके बाद मैंने हल्का लंच लिया और ट्रेन पर सवार होने के लिए, जो एक बजे छूटती थी, यहाँ से निकला।

रास्ते में, हज़ारों नहीं तो सैकड़ों लोग, जहाँ से भी मेरा दल निकलता, रास्ते के दोनों ओर हाथ हिलाते और मेरा स्वागत करते दिखाई देते। मसूरी तक की पूरी यात्रा में यही दृश्य सर्वत्र बना रहा। कई स्थानों पर गाड़ी चलाने के लिए पटरियाँ खाली करानी पड़तीं। यह खबर गाँवों में भी बड़ी तेज़ी से फैल गई थी और कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं रहा होगा जिसे पता न हो कि इस ट्रेन से मैं जा रहा हूँ। जगह-जगह हज़ारों-हज़ार लोग नारे लगा रहे थे 'दलाई लामा की जय! दलाई लामा ज़िन्दाबाद! बहुत भावुक दृश्य थे यह। तीन स्थानों, सिलीगुड़ी, बनारस और लखनऊ में तो मुझे डिब्बे से बाहर निकलकर फूलों की बौछार करती जयकार करती विशाल भीड़ को सम्बोधित भी करना पड़ा। यह सम्पूर्ण यात्रा एक विलक्षण स्वप्न की तरह थी। अब पीछे मुड़कर इस घटना पर नज़र डालता हूँ तो उस समय इतनी अपार शुभ-कामना देने के लिए भारत की जनता का मैं बहुत कृतज्ञ महसूस करता हूँ।

कई दिन का सफ़र तय करने के बाद ट्रेन आखिरकार देहरादून स्टेशन पर आ खड़ी हुई। यहाँ भी मेरा ज़बर्दस्त स्वागत हुआ। यहाँ से हम कार द्वारा घंटे भर की यात्रा करके मसूरी पहुँचे। यहाँ मुझे बिड़ला हाउस ले जाया गया, जो भारत के एक प्रमुख व्यापारी घराने का भवन है—यहाँ भारत सरकार द्वारा मेरे रहने का प्रबन्ध किया गया था। यहाँ मुझे तब तक ठहरना था जब तक भविष्य की विस्तृत योजना न बन जाती। यहाँ मुझे पूरे एक वर्ष रहना पड़ा।

यहाँ पहुँचने के दो-एक दिन बाद मुझे न्यू चाइना न्यूज़ एजेंसी का एक समाचार दिखाया गया जिसमें कहा गया था कि मेरा तेज़पुर में दिया गया वक्तव्य अन्य पुरुष की भाषा में है, इसलिए यह सत्य नहीं हो सकता। इसमें यह भी कहा गया था कि मुझे खुले आम अगवा करके ले जाया गया और 'विद्रोहियों' द्वारा बन्दी बनाकर रखा गया; और मेरे वक्तव्य को 'तर्क की दृष्टि से लँगड़ा, झूठ का पुलन्दा और छेदों से भरपूर एक घटिया दस्तावेज़' बताया गया था। इस घटना के चीनी विवरण में जनता के आन्दोलन को 'उच्च वर्ग के प्रतिक्रियावादी दल' द्वारा संगठित बताया गया था। इसके बाद कहा गया था कि 'देशभक्त तिब्बती भिक्षुओं और जनता की सहायता से पीपुल्स लिबरेशन आर्मी ने इसे पूरी तरह कुचल दिया। यह इस कारण सम्भव हुआ कि तिब्बत की जनता देशभक्त है, जनता की केन्द्रीय सरकार का समर्थन करती है, पीपुल्स लिबरेशन आर्मी को बहुत प्यार करती है और साम्राज्यवादियों तथा देशद्रोहियों का विरोध करती है।' इसलिए मैंने एक दूसरा संक्षिप्त वक्तव्य जारी करके स्पष्ट किया कि वह वक्तव्य मेरे द्वारा अधिकृत था।

24 अप्रैल को पंडित नेहरू स्वयं मसूरी आए। हम चार घंटे तक, एक दुभाषिये की सहायता से, अकेले बातें करते रहे। मैंने उन्हें पिछली दफ़ा तिब्बत लौटने से लेकर—मैंने उन्हें बताया कि उन्हीं के आग्रह पर मैं वापस लौटा था—अब तक हुई एक-एक घटना बताई। मैंने बताया कि मैंने वही सब कुछ किया जो उन्होंने मुझसे कहा था, चीनियों के साथ सही और ईमानदारी से व्यवहार किया, जहाँ ज़रूरी समझा उनकी आलोचना भी की और सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' का भरपूर पालन करने की चेष्टा की। फिर मैंने स्पष्ट किया कि आरम्भ में मैं भारत का आतिथ्य नहीं चाहता था बल्कि ल्हुन्त्से ज़ोंग में अपनी सरकार स्थापित करना चाहता था। ल्हासा से ख़बर मिलने के बाद मेरा दिमाग बदला। यह बात सुनकर वे चिढ़-से गए। बोले, 'लेकिन भारत सरकार तो इसे मान्यता नहीं दे सकती थी, आप भले ही देते।' उनके रुख़ का मुझ पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा जैसे वे मुझे बच्चा समझते हैं जिसे थोड़ी-थोड़ी देर बाद डाँटते रहने की ज़रूरत होती है।

बातचीत के दौरान वे अक्सर मेज़ पर घूँसा जमा देते थे। एक-दो बार उन्होंने गुस्से में मुझसे पूछा, "ऐसा कैसे हो सकता है?" लेकिन मैं, यह जानकर भी कि उनका व्यवहार कुछ दबंग की तरह होता है, अपनी बात कहता रहा। अन्त में, मैंने उनसे स्पष्ट कहा कि अब मेरे उद्देश्य दो हैं : "मैं तिब्बत को स्वाधीन करने के लिए दृढ़संकल्प हूँ, और इस समय मैं चाहता हूँ कि रक्तपात रोका जाए।" यह सुनकर तो वे अपना आपा खो बैठे। उन्होंने बड़ी तीखी आवाज़ में कहा, "यह सम्भव नहीं है! एक तरफ तो आप कहते हैं कि मुझे तिब्बत की स्वतन्त्रता चाहिए और उसी के साथ यह कि आप रक्तपात नहीं चाहते! असम्भव है यह!" यह कहते हुए उनका निचला होंठ काँपने लगा था।

मैं यह महसूस करने लगा कि प्रधानमंत्री एक बड़ी जटिल परन्तु शर्मनाक स्थिति में फँस गए हैं। मेरे ल्हासा से भागने की खबर आने के बाद भारतीय संसद में तिब्बत के प्रश्न पर बड़ी गर्म बहस हो चुकी थी। पिछले कई वर्षों से यहाँ के राजनीतिज्ञ इस स्थिति पर उनके रुख की तीखी आलोचना करते चले आ रहे थे। और अब मुझे लग रहा था कि सन् 1957 में मुझ पर तिब्बत वापस जाने का दबाव डालकर वे अपने-आपको दोषी महसूस कर रहे थे।

लेकिन इसी के साथ यह भी स्पष्ट था कि नेहरू जी चीन के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखना चाहते थे और पंचशील के उस दस्तावेज़ का पालन करना चाहते थे जिसके लिए आचार्य कृपलानी ने कहा था कि यह 'पाप से उत्पन्न हुआ है और एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी सहमति की मुहर लगाने के लिए' तैयार किया गया है। उन्होंने साफ कर दिया कि तिब्बती अधिकार के प्रश्न पर भारत सरकार चीनी सरकार से पंगा लेने का विचार भी नहीं कर सकती। इस समय मुझे आराम करना चाहिए और निकट भविष्य की योजनाएँ नहीं बनाना चाहिए। इस विषय पर बाद में बातें की जा सकेंगी। यह सुनकर मैंने अनुभव किया कि अब मेरा और मेरी जनता का भविष्य जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज़्यादा भयंकर है। हमारी बातचीत शान्तिपूर्वक ही समाप्त हुई लेकिन प्रधानमंत्री के जाने के बाद मैंने बड़ी निराशा महसूस की।

बहुत जल्द यह स्पष्ट हो गया कि तिब्बत की स्वतन्त्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हमारे सामने खड़ी थीं। हमारे मसूरी पहुँचने के बाद से ही समाचार आने शुरू हो गए थे कि बड़ी संख्या में शरणार्थी न केवल भारत बल्कि भूटान में भी पहुँचने लगे हैं। इनके लिए भारत सरकार ने शरणार्थी शिविर खोलने शुरू कर दिए थे, जहाँ उनसे मिलने के लिए मैंने अधिकारियों को भेजा।

इन लोगों से मुझे पता चला कि नोरबुलिंग्का में पहली गोलाबारी करने के बाद चीनियों ने पोटाला और जोखांग में भी हमले करने शुरू कर दिए थे, जिनमें हज़ारों लोग मारे जा रहे थे और घायल हो रहे थे। दोनों इमारतें भी बुरी तरह ध्वस्त हो गई थीं। चाकपोरी मेडिकल स्कूल तो बिलकुल नष्ट हो गया था। इस घटनाचक्र में कितने लोग मारे गए, उनकी असली संख्या तो कोई नहीं जानता, लेकिन साठ के दशक में स्वाधीनता-सेनानियों ने चीनी सेना का जो एक दस्तावेज़ पकड़ा था, उसमें बताया गया था कि मार्च 1959 और सितम्बर 1960 के बीच सैनिक कार्यवाही में 87 हज़ार लोग मारे गए थे। (इस संख्या में वे लोग शामिल नहीं हैं जो भुखमरी, आत्महत्या और उत्पीड़न के कारण मरे।)

इसका परिणाम यह हुआ कि मेरे अनगिनत हज़ारों देशवासियों को तिब्बत छोड़कर भागना पड़ा। इनमें भी बहुत-से मर गए, या तो चीनियों के हाथों, या घावों,

ठंड, बीमारी और भुखमरी से, और जो निकल पाने में सफल हुए, उनकी अवस्था बहुत ही गम्भीर थी। फिर, भारत पहुँचने पर उन्हें खाना और निवास तो प्राप्त हो गया लेकिन यहाँ के तपते हुए सूरज ने उनकी ज़िन्दगी को बेहाल कर दिया। उनके लिए दो बड़े आरम्भिक शिविर बनाए गए थे, एक तो तेज़पुर के पास मिस्सामारी में, और दूसरा उत्तर-पूर्व में भूटान की सीमा के पास बक्सा दुआर में जो अंग्रेज़ों के ज़माने में युद्धबन्दियों के लिए बनाया गया था।

ये दोनों स्थान छह हज़ार फीट की ऊँचाई पर स्थित मसूरी की तुलना में बहुत नीची ज़मीन पर थे, इसलिए वहाँ की गर्मी इनके बर्दाश्त के बाहर थी। यद्यपि तिब्बत में भी गर्मी के मौसम में काफ़ी सख्त गर्मी पड़ती थी, उन ऊँचाइयों पर हवा बहुत खुश्क होती है, जबकि भारतीय मैदानों की गर्मी में हवा बहुत नम होती है। यह पसीने वाली गर्मी उन्हें परेशान ही नहीं करती, अक्सर मारक भी सिद्ध होती है। इस वातावरण में तिब्बतियों को वे बहुत-सी बीमारियाँ सताने लगीं जिनका उन्होंने कभी नाम तक नहीं सुना था। इस तरह भागने की परेशानियों से उत्पन्न चोटों और उनके कारण होने वाली मौतों के अलावा अब उन्हें गर्मी के दौरों और टी. बी. जैसी बीमारियाँ भी होने लगीं जो इन परिस्थितियों में आम हैं। इनमें भी बहुतों की मौत हो जाती थी।

हम लोग जो मसूरी में रहते थे, अपने अन्य साथियों की तुलना में अधिक भाग्यवान थे। फिर, बिड़ला हाउस में पंखे भी लगे थे, इसलिए मुझे ही सबसे कम कष्ट सहना पड़ा। हालाँकि मैंने पाया कि पंखे अपनी अलग परेशानियाँ पैदा करते हैं। उन्हें रात में चलते रहने को छोड़ दिया जाता था—इसलिए हाज़मे की समस्या उठ खड़ी हुई। इस पर मुझे पोटाला के एक सफ़ाईकर्मी की कही कहावत याद आई : 'सर्दियों में चूँकि ठंड पड़ती है, इसलिए आप ओढ़ लेते हैं; लेकिन गर्मियों में मौसम गर्म होता है तो आप भूल जाते हैं।'

इन दिनों मैंने एक और बात नोट की, कि गर्मियों में फल बहुत खाए जाते हैं, लेकिन सर्दियों में उनकी इच्छा ही नहीं होती।

गर्मी के महीनों में जब कभी मैं किसी काम से नीचे मैदान में जाता, तब भी मुझे अपने साथियों की कठिनाइयों का सही अन्दाज़ नहीं हो पाता था। पहली दफ़ा मैं जून में भारतीय प्रधानमंत्री से मिलने दिल्ली गया, कि उनसे शरणार्थियों की समस्या पर बात करूँ। उस समय तक बीस हज़ार शरणार्थी भारत पहुँच चुके थे और हर रोज़ इनकी संख्या बढ़ती जा रही थी।

मैंने नेहरू जी से कहा कि यदि इन लोगों को, जहाँ जैसे हैं, वैसे ही छोड़ दिया जाएगा तो ज़्यादातर लोग मर जाएँगे। यह सुनकर वह चिढ़े-से नज़र आए। कहने लगे कि मैं बहुत ज़्यादा उम्मीद कर रहा हूँ। मुझे याद रखना चाहिए कि भारत

गरीब विकासशील देश है। लेकिन शीघ्र ही उनकी मानवता जागने लगी। पहले ही भारतीय अधिकारियों से काशाग की बात हो गई थी कि उत्तर भारत के सड़क शिविरों में शरणार्थियों को काम पर लगाया जाए, और अब नेहरू जी ने कहा कि वे जल्द इसकी व्यवस्था कराएँगे। इससे उनकी रोज़ी-रोटी का प्रबन्ध भी हो जाएगा और रहने के लिए भी ज़्यादा उपयुक्त स्थान प्राप्त हो जाएँगे।

इसके बाद उन्होंने शरणार्थियों के बच्चों की शिक्षा के बारे में बात करनी शुरू की, और बहुत जल्द इसकी योजनाएँ इतने उत्साह से बनाने लगे कि मीटिंग समाप्त होते समय यह लगने लगा कि इसे उन्होंने अपना व्यक्तिगत मसला बना लिया है। उन्होंने कहा कि जहाँ तक उनका अपना सवाल है, वे हमें काफी समय के लिए भारत का मेहमान मानते हैं, और हमारे बच्चे ही हमारे भविष्य की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति हैं। उन्हें बहुत अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए। और तिब्बती संस्कृति को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनके लिए अलग स्कूलों की व्यवस्था की जाए। इसलिए भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र *सोसायटी फॉर तिब्बतन एजुकेशन* होना चाहिए। उन्होंने कहा कि इन सब स्कूलों का व्यय भी भारत सरकार ही वहन करेगी। (आज तक वह इस कार्यक्रम का अधिकांश व्यय वहन कर रही है।)

अन्त में, उन्होंने मुझे सचेत करते हुए कहा कि यद्यपि यह आवश्यक है कि बच्चों को अपने इतिहास तथा संस्कृति का भरपूर ज्ञान हो, यह भी ज़रूरी है कि उन्हें आधुनिक दुनिया की भी जानकारी हो। मैं इससे पूरी तरह सहमत था। इसलिए उन्होंने कहा कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी को बनाना सही होगा—क्योंकि वह 'भविष्य की विश्वभाषा' है।

बैठक के बाद लंच हुआ जिसमें उन्होंने कहा कि वे शिक्षा मन्त्री डॉ. श्रीमाली को बुलाएँगे। इसलिए हमारी बातचीत देर तक होती रही। फिर, उसी शाम प्रधानमंत्री ने कहा कि सरकार उसी दिन सोसायटी के निर्माण की घोषणा भी कर रही है। इतने शीघ्र काम होते देख मैं बहुत प्रभावित हुआ।

पिछले वर्षों में भारत सरकार और जनता ने तिब्बती शरणार्थियों को आर्थिक सहायता तथा अन्य बहुत-से रूपों में विपुल धन प्रदान किया है, और यह सब उन्होंने अपनी अनेक आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद किया है। दुनिया में अन्य किसी देश ने अपने शरणार्थियों के लिए इतना नहीं किया होगा। यह बात हमेशा मेरे दिमाग में रही है, जब कभी तिब्बतियों को और अधिक धन माँगने के लिए विवश होना पड़ा है भारत ने उन्हें दिया है जबकि भारत के अपने हज़ारों बच्चे अभी तक प्रारम्भिक शिक्षा तक से वंचित हैं।

फिर भी एक तरह से यह बात सही भी है कि भारत हमारी सहायता करे। तिब्बत में बौद्ध धर्म भारत से ही आया था, और भी अनेक सांस्कृतिक प्रभाव हमें यहीं से प्राप्त हुए। मेरे दिमाग में ज़रा भी सन्देह नहीं है कि चीन की अपेक्षा भारत का तिब्बत पर कहीं अधिक दावा है—उनका प्रभाव तो बहुत थोड़ा ही रहा। मैं अक्सर भारत और तिब्बत के सम्बन्ध की तुलना गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से करता हूँ। जब कभी शिष्य को कोई समस्या या कठिनाई होती है तब गुरु ही उसकी सहायता के लिए आगे बढ़ता है।

भारतीय जनता के अतिरिक्त संसार की अनेक सहायता प्रदान करने वाली संस्थाओं ने भी हमारी बहुत सहायता की है। इनकी सहायता का अधिकांश भाग व्यावहारिक किस्म का है, जैसे स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्रों में दी जाने वाली सेवाएँ। विविध प्रकार के हुनर सिखाने के केन्द्र स्थापित करने में भी इनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है, जिनसे लोगों को रोज़ी-रोटी कमाने की आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें सबसे पहले थे दरियाँ बुनने के दो केन्द्र जिनमें से पहला नेपाल की सीमा पर काफी ऊँचाई पर स्थित चाय-उत्पादन का नगर दार्जिलिंग था और दूसरा डलहौज़ी जो धर्मशाला से ज़्यादा दूर नहीं है। भारत सरकार ने इन दोनों की स्थापना सन् 1959 के अन्त में की। इन्हीं के नमूने पर फिर विदेशी संस्थाओं ने और अनेक केन्द्र स्थापित किए जिनमें से कई आज तक सहायता कर रहे हैं। अब इतने वर्ष बीत जाने के बाद इनमें से प्रत्येक संस्था ने, जिन्होंने आरम्भ से ही हमारी सहायता की, उनके मार्गदर्शन में कार्य कर रहे इन केन्द्रों की प्रगति के प्रति पूरा सन्तोष व्यक्त किया है।

इस सहायता को तिब्बतियों ने जिस सकारात्मक ढंग से स्वीकार किया है, वही इनके प्रति उनका सबसे बड़ा कृतज्ञता-ज्ञापन है। यह बात इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, जिसके प्रति मैं सचेत भी हूँ, कि इन संस्थाओं को दान में प्राप्त होने वाला अधिकांश धन बहुत कम साधनों वाले आम लोगों से ही प्राप्त होता है।

दिल्ली की इस यात्रा से मसूरी लौटने के बाद मुझे लगा कि अब मैं अपनी स्वयं-निश्चित शान्ति को समाप्त करूँ, और 20 जून को मैंने एक प्रेस कान्फ्रेंस सम्बोधित की। मसूरी में अब भी अनेक संवाददाता मुझसे कुछ सुनने की प्रतीक्षा कर रहे थे। हालाँकि अब यह 'कहानी' दो महीने पुरानी पड़ चुकी थी, कान्फ्रेंस में 130 संवाददाताओं ने भाग लिया, जिनमें दुनिया-भर के प्रतिनिधि थे।

आरम्भ में मैंने सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' का दोबारा औपचारिक रूप से परित्याग करते हुए स्पष्ट किया कि क्योंकि चीन ने स्वयं अपने ही 'अनुबन्ध' को तोड़ा है,

इसलिए उसे स्वीकार करने का कोई कानूनी आधार नहीं रह जाता। इसके बाद मैंने अपने पिछले छोटे वक्तव्य को विस्तार से प्रस्तुत किया और तिब्बतियों पर चीनियों द्वारा किए गए कुछ अत्याचारों के बारे में बताया। मुझे विश्वास था कि चीनियों द्वारा प्रचारित असम्भव-सी कहानियों की तुलना में लोग मेरी कहानी को सत्य के ज़्यादा समीप पाएँगे। मेरे नए वक्तव्य को व्यापक रूप से प्रसारित किया गया, लेकिन चीनियों के सुव्यवस्थित प्रचार तथा जन-सम्पर्क की शक्ति का मैं अनुमान नहीं लगा पाया था। मैं समझता था कि लोग सत्य क्या है, इसे अपने-आप समझ सकते हैं। अब मेरा मानना है कि पहले सांस्कृतिक क्रान्ति तथा उसके बाद सन् 1989 में थियेन आनमन चौक के हत्याकांड के बाद से ही, जिनके चित्र दूरदर्शन पर दिखाए गए, दुनिया के लोगों ने कम्युनिस्ट चीन की बर्बरता तथा अत्याचारी चरित्र पर पूरी तरह विश्वास करना आरम्भ किया।

उसी शाम भारत सरकार की ओर से एक विज्ञप्ति जारी की गई, कि सरकार निर्वासन में बनी दलाई लामा की सरकार को मान्यता नहीं देती। इससे पहले तो मुझे कुछ आश्चर्य हुआ और चोट भी लगी। मैं अच्छी तरह जानता था कि राजनीतिक रूप से सरकार हमारा समर्थन नहीं करती, लेकिन इस तरह दूरी बनाने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन तुरन्त ही मेरी आहत भावनाओं को यह जानकर बड़ी राहत मिली, जब पहली दफ़ा मेरी समझ में आया, कि 'लोकतन्त्र' का सही अर्थ क्या है। भारत सरकार ने हमेशा मेरे दृष्टिकोण का सख़्त विरोध किया था, लेकिन उसने न कभी मुझे अपनी बात कहने से, और न उस पर क़ायम रहने से, रोका।

इसी प्रकार, दिल्ली ने कभी हमारे जीवन में, कि मैं और मेरे निरन्तर बढ़ रहे तिब्बती देशवासी कैसा और क्या जीवन व्यतीत कर रहे हैं, हस्तक्षेप नहीं किया। जनता के आग्रह पर मैंने बिड़ला हाउस के मैदान में प्रति सप्ताह प्रवचन देना आरम्भ कर दिया था। इससे मुझे भी विभिन्न प्रकार के लोगों से मिलने का अवसर मिलता था और मैं उन्हें तिब्बत की वास्तविक स्थिति बता सकता था। इससे मुझे अपने और तिब्बतियों के बीच की वे अनेक औपचारिकताओं को समाप्त करने का भी अवसर मिला जिनका निभाना तिब्बत में आवश्यक था। मैं हमेशा महसूस करता था कि समय के अनुसार प्रथाएँ बदलती रहनी चाहिए। यहाँ मैं लोगों से अक्सर कहता था कि यह मत भूलो कि अब हम शरणार्थी हैं।

इस उद्देश्य से मैंने आग्रह किया कि सभी औपचारिकताएँ बहुत कम कर दी जाएँ और स्पष्ट कर दिया कि मैं पुरानी शिष्टताओं को समाप्त करना चाहता हूँ। विदेशियों की दृष्टि से तो यह बहुत आवश्यक था। यदि उन्हें हममें कोई गुण दिखाई देगा तो वे ज़रूर आकृष्ट होंगे। अलगाव की भावना से लोगों को दूर ही किया जा सकता है। मैंने निश्चय कर लिया था कि सबके प्रति बिलकुल खुला रहूँगा, अपनी

हर चीज़ सबको देखने को सामने रख दूँगा, और शिष्टाचार के पीछे छिपने का कभी प्रयत्न नहीं करूँगा। इस प्रकार लोग मुझसे इस तरह मिलेंगे जैसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मिलता है।

मैंने यह भी नियम बनाया कि जब कभी कोई मुझसे मिलने आएगा, उतनी ही ऊँची कुर्सी पर बैठेगा, जितनी पर मैं बैठता हूँ—पिछले नियम के अनुसार मुझसे नीची कुर्सी पर नहीं। शुरू में तो मुझे भी इस तरह व्यवहार करने में कठिनाई हुई, क्योंकि मुझमें आत्मविश्वास की कमी थी, लेकिन धीरे-धीरे सब ठीक होने लगा। मेरे कुछ पुराने सहायक इससे सहमत नहीं थे, लेकिन मेरा ख्याल है कि इससे वे ही कुछ लोग परेशानी महसूस करते थे जो सीधे तिब्बत से आकर मुझसे मिलते थे और जिन्हें दलाई लामा के इन नए नियमों का पता नहीं होता था।

बिड़ला हाउस की ज़िन्दगी भी औपचारिकताओं के अनुरूप नहीं थी। न यह भवन बहुत शानदार या विशाल था, और कई दफ़ा तो यहाँ बहुत भीड़ हो जाती थी। यहाँ मेरी माँ तथा परिवार के लोग रहते थे, और मेरे अधिकारी समीप के एक मकान में रहते थे। जीवन में पहली बार मुझे माँ के साथ रहने को मिला था और मुझे उसका साथ बहुत प्रिय था।

औपचारिकताएँ कम करने के अलावा, हमारी इस त्रासदी ने भी मुझे अपने व्यक्तिगत जीवन को सरल बनाने का अवसर प्रदान किया। ल्हासा में मेरे पास अनेक ऐसी वस्तुएँ थीं जिनका कोई उपयोग ही नहीं था। लेकिन जिन्हें निकालना सम्भव नहीं था। अब मेरे पास बिलकुल कुछ नहीं रहा था, इसलिए लोग मुझे जब भी कुछ देते तो उसे किसी दूसरे शरणार्थी को उसके उपयोग के लिए दे देना अब मेरे लिए बहुत आसान हो गया था।

शासन के क्षेत्र में भी मैंने कई नए सुधार किए। जैसे मैंने कई नए विभाग आरम्भ किए : सूचना विभाग, शिक्षा विभाग, पुनर्वास, सुरक्षा, धार्मिक और आर्थिक कार्य विभाग। मैंने स्त्रियों को विशेष रूप से शासन कार्यों में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित किया। मैंने स्पष्ट आदेश दिए कि लिंग के आधार पर व्यक्तियों का चयन न किया जाए बल्कि योग्यता और प्रवृत्ति के आधार पर ही चुनाव किया जाए। जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ, तिब्बती समाज में स्त्रियों ने हमेशा महत्त्वपूर्ण योगदान किया है और आज तिब्बत की निर्वासन में कार्यरत सरकार में वे अनेक ऊँचे पदों पर कार्य कर रही हैं।

सितम्बर में मैं दिल्ली लौटा। इस समय तक शरणार्थियों के विषय में मेरी चिन्ता कम होने लगी थी। उनकी संख्या बढ़कर तीस हज़ार तक पहुँच चुकी थी, और नेहरू जी ने अपने वादे के अनुसार उनमें से बहुतों को उत्तर भारत की पहाड़ियों के सड़क निर्माण शिविरों में पहुँचा दिया था। अब मेरा मुख्य उद्देश्य यह था कि

राष्ट्रसंघ में तिब्बत की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठाने का प्रयत्न किया जाए। मैंने फिर प्रधानमंत्री से मिलने की तैयारी की। हमने कुछ नए शरणार्थियों को दक्षिण भारत में रहने के लिए भेजने से बातचीत की शुरुआत की। उन्होंने पहले ही कई भारतीय राज्यों के प्रमुखों को यह जानने के लिए पत्र लिख दिए थे कि तिब्बतियों को अपने यहाँ रखने में किसकी रुचि है।

उनकी इस सूचना पर कि एक से अधिक राज्यों ने ज़मीन देने की इच्छा व्यक्त की है, अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करने के बाद मैंने राष्ट्रसंघ में यह प्रश्न उठाने की अपनी योजना उनके सामने रखी। इस पर नेहरू जी की चिढ़ फिर व्यक्त होने लगी। उन्होंने कहा कि तिब्बत और चीन दोनों में से कोई भी राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है, इसलिए मेरी सफलता मुश्किल है, और अगर मैं सफल हो भी गया, तो भी इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैंने उत्तर दिया कि मुझे कठिनाइयों का ज्ञान है लेकिन मेरा उद्देश्य यही है कि तिब्बत लोगों के दिमाग़ में बना रहे। मैं इसे ज़रूरी मानता हूँ कि हमारे दुख में लोग हमें भुला न दें। इस पर उन्होंने कहा, 'तिब्बत का प्रश्न जीवित रखने का उपाय राष्ट्रसंघ नहीं है, वह है आपके बच्चों की सही शिक्षा। लेकिन फैसला आपको ही करना है। आप स्वतन्त्र देश में रह रहे हैं।'

मैंने कई देशों की सरकारों को पत्र लिखे थे, और अब कुछ के राजदूतों से भेंट होने लगी थी। यह कार्य मुझे बहुत कठिन लगा। मेरी अवस्था इस समय केवल चौबीस वर्ष थी, और उच्च शासकीय अधिकारियों से मिलने का मेरा अनुभव अपनी चीन की यात्रा तथा अब नेहरू जी तथा उनके सहयोगियों से होने वाली भेंटों तक सीमित था। फिर भी इतनी सफलता तो मिली कि कुछ ने मेरी समस्या के प्रति पूरी सहानुभूति व्यक्त की और मुझे परामर्श दिया कि यह कार्य किस प्रकार किया जाए, और सबने मुझसे वादा किया कि वे अपनी सरकारों को समर्थन की मेरी प्रार्थना से सूचित कर देंगे। इसका परिणाम यह निकला कि फेडरेशन ऑफ मलेशिया तथा रिपब्लिक ऑफ़ आयरलैंड ने राष्ट्रसंघ की जनरल असेम्बली में एक मसौदा प्रस्ताव पेश किया और अक्टूबर में इस पर बहस हुई। प्रस्ताव हमारे पक्ष में पास हो गया, लेकिन मत-विभाजन में, पैंतालीस मत हमारे पक्ष में पड़े और नौ विपक्ष में, और छब्बीस मतदान से अलग रहे। भारत तीसरी श्रेणी में था।

राजधानी में अपनी इस यात्रा के दौरान मैं सहानुभूति रखने वाले कई राजनीतिज्ञों से भी मिला, जिनमें जयप्रकाश नारायण भी थे—उन्होंने सन् 1957 में दिए गए अपने वचन के अनुसार एक तिब्बत समर्थन समिति की स्थापना कर दी थी। उनका मानना था कि अब तिब्बत की समस्या पर भारत सरकार पर मत बदलने के लिए दबाव डाला जा सकता है। उनका उत्साह ज़बर्दस्त था और मुझे अच्छा भी लग रहा था, लेकिन मैं अपने मन में जानता था कि नेहरू जी मत बदलने को तैयार नहीं हैं।

दूसरी उत्साहजनक खबर यह थी कि दुनिया में न्याय को बल देने के लिए निर्मित स्वतन्त्र संस्था, *इन्टरनेशनल कमिशन ऑफ ज्यूरिस्टस* ने तिब्बत की वैधानिक स्थिति पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसने हमारे दावों को पूरी तरह सही ठहराया। कमीशन ने वर्ष के आरम्भ में हमारे मामले को हाथ में लिया था, और अब वे पूरी गहराई से जाँच की योजना बना रहे थे।

एक महीने बाद, मसूरी लौटने पर दिल्ली में अफ्रो-एशियन कमेटी की एक बैठक हुई, जिससे हमारे निश्चय को बहुत बल मिला। उन्होंने अपना अधिकांश समय तिब्बत के प्रश्न पर बात करने में ही लगाया। इसमें भाग लेने वाले अधिकतर प्रतिनिधि उन्हीं देशों के थे जिन्होंने उपनिवेशीय अत्याचारों को भुगता था, इसलिए स्वभावतः उन्होंने हमारा समर्थन किया। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने से पूर्व वे भी ऐसी ही स्थिति में रहे थे, जैसी हमारी आज थी। उन्होंने सर्वसम्मति से हमारा पक्ष लिया, यह समाचार सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और आशा भी उत्पन्न हुई, और अब मुझे लगने लगा कि इसका कुछ ठोस परिणाम ज़रूर निकलेगा। लेकिन अपने मन में गहरे कहीं मैं यह भी समझ रहा था कि प्रधानमंत्री की बात ही सही है, हम तिब्बतियों को इतनी जल्दी देश वापस लौटने की आशा नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत हमें यहाँ निर्वासन में ही अपने समाज को इतना मज़बूत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, कि जब भी वापस लौटने का समय आए, हम वहाँ लौटकर नए अर्जित अनुभव से अपना जीवन पुनः आरम्भ कर सकें।

नेहरू जी ने जिस ज़मीन के दान की बात की थी, वही इस समय सर्वोत्तम उपाय हो सकता था। दक्षिण भारत में मैसूर के पास तीन हज़ार एकड़ ज़मीन हमारे लिए तुरन्त उपलब्ध हो सकती थी, लेकिन, इसके बहुत उदार प्रस्ताव होने के बावजूद, मुझे इसे स्वीकार करने में थोड़ी झिझक हुई। भारत की अपनी पहली यात्रा के समय मैं यहाँ भी गया था और जानता था कि यह शान्त है तथा यहाँ आबादी भी कम है, लेकिन यह उत्तर भारत की अपेक्षा कहीं ज़्यादा गरम है, इसलिए मुझे लगा कि यहाँ जीवन काफी कठिन होगा। इसके अलावा, धर्मशाला से, जहाँ मेरा केन्द्र था, यह स्थान दूर भी बहुत था।

दूसरी बात यह थी कि, हमारी वर्तमान स्थिति में यह भी आवश्यक था कि हम अर्धस्थायी रूप में भारत में रहने का विचार करें। तभी हमारे लिए यह सम्भव होगा कि हम शिक्षा का कार्यक्रम शुरू करें और तिब्बत की जनता में उसकी सांस्कृतिक परम्परा को बनाए रखने का उद्योग करें। अन्त में मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि भौगोलिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का तालमेल बिठाना आवश्यक होगा, इसलिए मैंने कृतज्ञतापूर्वक भूमि का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। निश्चय हुआ कि 1960 के नए वर्ष में 666 तिब्बतियों का पहला जत्था वहाँ बसने की तैयारियाँ करने के

लिए रवाना होगा। एक शरणार्थी के लिए एक एकड़ ज़मीन के आधार पर यहाँ तीन हज़ार लोगों को बसाने की योजना बनाई जाने लगी।

सन् 1959 के अन्त में दो संस्थाओं की स्थापना की खबर आई : एक थी केन्द्रीय सहायता समिति जिसके अध्यक्ष आचार्य कृपलानी थे, और दूसरी *अमेरिकन एमरजेन्सी कमेटी फॉर तिब्बेतन रिफ्यूजीज़,* जिसकी स्थापना हमारी सहायता के विशेष उद्देश्य से ही की गई थी। इनके बाद अन्य देशों ने भी हमारी सहायता के लिए संस्थाओं की स्थापना की, जिन्होंने हमारे लिए बहुत कार्य किया।

इस बीच मेरा बहुत-से नए लोगों से मिलना भी शुरू हुआ। इनमें से एक वह भारतीय भिक्षु था जिससे मैं द्रोमो में मिला था, जब वह बुद्ध का स्मृति चिह्न लेकर मेरे पास आया था। उससे फिर मिलकर मुझे बहुत खुशी हुई। वह बहुत विद्वान था और सामाजिक अर्थशास्त्र में उसकी विशेष पैठ थी। हमारी पिछली भेंट तथा इस समय के बीच उसने बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक सिद्धान्तों के साथ मार्क्सवादी विचारधारा का समन्वय करने की दिशा में काफी काम किया था। इस विषय में मेरी बहुत रुचि थी। मेरा मानना था कि चूँकि एशिया का बहुत बड़ा भाग, थाई सीमा से साइबेरिया तक, बौद्धधर्म को मानने वालों का प्रदेश है, जो इस समय मार्क्सवाद के धर्मविरोध से बहुत ज़्यादा पीड़ित है, इसलिए इस प्रकार का कार्य बहुत सामयिक और महत्त्वपूर्ण है।

लगभग इसी समय मेरी भेंट एक सिंहली भिक्षु से हुई जो वामपक्षीय विचारधारा का था। मसूरी से विदा लेते समय उसने मुझे श्रीलंका आने का निमन्त्रण दिया। यहाँ जाने का मैं हमेशा इच्छुक था, इसलिए भी कि वहाँ बौद्ध धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण अवशेष, बुद्ध का दांत, सुरक्षित था। लेकिन, कुछ महीने बाद जब मैं वहाँ जाने को तैयार हुआ, तो मुझे यह मालूम हुआ कि शरणार्थी की स्थिति दुनिया में कितनी अनिश्चित है। मुझे श्रीलंका सरकार का एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें खेद व्यक्त करते हुए, मुझे सूचना दी गई थी कि 'विशेष परिस्थितियों' के कारण मेरी यात्रा अनिश्चित काल के लिए स्थगित की जा रही है। ये स्थितियाँ बीजिंग के कारण उत्पन्न हुई थीं। एक बार फिर मुझे उच्च पदों पर विराजमान भाइयों और बहनों की शक्ति का, जो यदि चाहें तो धार्मिक गतिविधियों पर भी रोक लगा सकते हैं, अनुभव हुआ।

इन्हीं दिनों पूर्वी तुर्किस्तान का एक प्रतिनिधि-मंडल मुझसे मिलने आया जिससे बातचीत करके मुझे चीनियों के साथ भी एक सार्थक वार्तालाप आरम्भ करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इनकी स्थिति भी हमारे ही समान थी और सन् 1949 में चीनियों ने इस प्रदेश पर कब्ज़ा कर लिया था। हमें बहुत-सी बातें करनी थीं और

घंटों हम एक-दूसरे को अपने अनुभव सुनाते। इस चर्चा से यह स्पष्ट हुआ कि इनके शरणार्थियों की संख्या हमारे शरणार्थियों से कहीं ज्यादा है, और यह कि इनके नेताओं में एक वकील है। इस समय तिब्बत में प्रशिक्षित वकील की बात तो दूर, एक शिक्षित एलोपैथी का डाक्टर तक नहीं था। हम उन तरीकों पर विचार करते जिनके द्वारा हमारे देशों में स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी जा सकती थी। अन्त में, हमने आपस में सम्बन्ध बनाए रखने का निश्चय किया, जो आज तक कायम है, हालाँकि किन्हीं कारणों से उनकी अपेक्षा तिब्बत की समस्या को ज़्यादा प्रचार प्राप्त हुआ है।

दिसम्बर में मैंने फिर दिल्ली के लिए छह घंटे की यात्रा की, जो मेरी नई तीर्थ यात्रा का पहला चरण था। मैं उन स्थानों पर ज़्यादा समय बिताना चाहता था, जहाँ मैं सन् 1957 के आरम्भ में गया था। जाने से पहले मैं नेहरू जी से मिलने गया। मुझे इस बात की चिन्ता थी कि राष्ट्रसंघ में पारित प्रस्ताव के प्रति उनका क्या रुख होगा और आधी सम्भावना यही थी कि वे इससे इससे चिढ़े हुए होंगे। लेकिन उन्होंने गर्मजोशी से मुझे बधाई दी। अब मेरी समझ में यह आने लगा कि कभी-कभी अपनी उग्रता के बावजूद वे बहुत उदार व्यक्ति हैं। एक बार फिर मुझे 'लोकतन्त्र' का वास्तविक अर्थ पता चला। यद्यपि मैंने उनकी राय को ठुकरा दिया था, लेकिन तिब्बतियों के प्रति उनके व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अब मैं उनकी बातों पर ज़्यादा ध्यान देने लगा। यह चीन में हुए मेरे अनुभव के एकदम विपरीत था। नेहरू जी ज़्यादा मुस्कराते नहीं थे। वे उत्तर देने से पहले चुपचाप बात को सुनते थे, और उनका ज़रा-सा बाहर निकला होंठ धीरे-धीरे हिलता रहता था। वे बेबाक ईमानदारी से बात करते थे। सबसे बड़ी बात यह थी उन्होंने मुझे अपनी आत्मा का आदेश मानने की स्वतन्त्रता दे रखी थी। इसके विपरीत चीनी हर वक्त अपनी धोखे-भरी मुस्कराहटें फेंकते रहते थे।

मैं राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद से भी दोबारा मिला। मैं राष्ट्रपति भवन में उनका मेहमान था, जहाँ जैन साधु आचार्य तुलसी भी ठहरे हुए थे। उनके प्रति मेरे मन में गहरे आदर का भाव जागा। सन् 1956 में भी मैं राष्ट्रपति जी से मिल चुका था और उनकी विनम्रता से बहुत प्रभावित हुआ था। उनका व्यवहार इतना विलक्षण था कि आँखों में आँसू आ जाते थे। मुझे वे सच्चे भावों में बोधिसत्व प्रतीत होते थे। उनसे मेरी अन्तिम भेंट उनके बगीचे में हुई। मैं बहुत तड़के घूमने को निकला था और मैंने देखा कि वे भी बहुत वृद्ध, झुके हुए कँधे लेकिन भव्य व्यक्तित्व, काफी बड़ी काली पहिया-गाड़ी पर घूम रहे थे।

दिल्ली से मैं बोध गया गया। यहाँ मुझे लगभग साठ तिब्बती शरणार्थियों का एक दल मिला : वे भी तीर्थयात्रा पर आए थे। उनके कुछ नेताओं ने मेरे पास आकर शपथ ली कि वे आजीवन तिब्बत की स्वतन्त्रता के लिए लड़ेंगे, तो मैं द्रवित हो

उठा। इसके बाद मैंने इस जीवन में पहली बार एक सौ बासठ युवा तिब्बतियों को भिक्षुत्व की दीक्षा प्रदान की। मैं इस भावना से अभिभूत था कि जिस स्थान पर भगवान बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे, ज्ञान प्राप्त किया था उसी के साये में खड़े इन महाबोधि मन्दिर के बिलकुल समीप तिब्बती मठ में, मैं यह दीक्षा प्रदान कर रहा हूँ।

मैं फिर सारनाथ तथा मृग-उद्यान गया जहाँ बुद्ध ने पहला प्रवचन किया था। मेरे साथ मुझसे जुड़े कुछ लोग भी थे जिनमें लिंग रिन्पोचे, त्रिजंग रिन्पोचे, और मेरे वस्त्रों के, कर्म-कांड के और भोजन के अधिकारी प्रमुख थे। यहाँ पहुँचकर मुझे पता चला कि नेपाल के रास्ते अभी आए दो हज़ार के लगभग तिब्बती शरणार्थी भी, यह सुनकर कि मैं यहाँ प्रवचन करूँगा, एकत्र हो गए हैं। इन सबकी स्थिति बड़ी दयनीय थी लेकिन ये बड़ी बहादुरी से कष्टों को झेल रहे थे। तिब्बत के लोग परिश्रमी व्यापारी होते हैं और उन्होंने यहाँ भी अपनी दुकानें लगा ली थीं। उनमें से कुछ अपनी वे मूल्यवान वस्तुएँ बेच रहे थे जिन्हें वे तिब्बत से ला पाने में सफल हुए थे, बाक़ी पुराने वस्त्र बेच रहे थे। कुछ चाय बेच रहे थे। इतने कष्टों में भी उनका उद्योग देखकर मैं बहुत उत्साहित हुआ। इनमें से हर व्यक्ति के पास कठिन संघर्ष और क्रूरता की कहानी थी, लेकिन ज़िन्दगी ने उन्हें ज़रा-सा जो भी दिया था, उसी का सर्वोत्तम उपयोग करने में वे कोई कसर नहीं छोड़ रहे थे।

मृग-उद्यान में सप्ताह भर का मेरा यह प्रवचन कार्यक्रम मेरे लिए एक अद्‌भुत अनुभव था। यह मेरे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात थी कि जिस स्थान पर भगवान बुद्ध ने ढाई हज़ार वर्ष पहले अपना प्रथम उपदेश दिया था, वहीं मैं भी बोल रहा था। इसके दौरान मैंने इस स्थिति के सकारात्मक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करने की कोशिश की। मैंने श्रोताओं को बुद्ध के इस वचन का स्मरण दिलाया कि दुख मुक्ति के मार्ग का पहला कदम है। एक पुरानी तिब्बती कहावत भी है कि 'दुख के द्वारा ही सुख को नापा जा सकता है।'

मसूरी लौटने के कुछ ही समय बाद मुझे पता चला कि सरकार हमें स्थायी रूप से रहने के लिए धर्मशाला नामक एक स्थान पर भेजने की योजना बना रही है। यह खबर अप्रत्याशित थी और मैं चिन्तित हो उठा। मैंने नक्शे में इसे ढूँढ़कर निकाला और पाया कि यह भी मसूरी की ही तरह हिल स्टेशन है, लेकिन बहुत ज़्यादा दूर है। अधिक खोजबीन करने पर मुझे पता चला कि मसूरी से जहाँ दिल्ली पहुँचने में केवल चार घंटे लगते हैं, वहीं धर्मशाला से पूरा दिन लग जाता है। मुझे अब शक होने लगा कि भारत सरकार हमें संचार की सुविधाओं से दूर किसी ऐसे स्थान पर छिपा कर रख देना चाहती है जहाँ से हम बाहरी दुनिया के लिए एकदम ग़ायब हो जाएँ।

मैंने इसलिए प्रार्थना की कि मुझे वहाँ किसी तिब्बती अधिकारी को यह देखने के लिए भेजने की अनुमति दी जाए कि यह स्थान हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप है या नहीं। मेरी बात मान ली गई और मैंने काशाग के एक सदस्य जे. टी. कुंडेलिंग को वहाँ का जायज़ा लेने भेजा। एक सप्ताह बाद जब वे वापस आए, उन्होंने घोषणा की कि धर्मशाला का पानी मसूरी के दूध से अच्छा है। हमने तुरन्त वहाँ जाने का निश्चय कर लिया।

इसी बीच मैंने पहली दफ़ा उत्तर भारत के उन स्थानों का दौरा करने का निश्चय किया जहाँ हज़ारों तिब्बती सड़कें बनाने की मज़दूरी कर रहे थे। उन्हें देखकर मेरा दिल रो उठा। बच्चे, स्त्रियाँ और पुरुष सभी एक-दूसरे के साथ दल बनाकर काम कर रहे थे : भिक्षु, भिक्षुणियाँ, किसान, अफसर, सब इनमें शामिल थे। तपते सूरज के नीचे वे दिन-भर मेहनत करते और रात को छोटे-छोटे तम्बुओं में सोने चले जाते। इन परिस्थितियों से किसी का तालमेल नहीं बैठ पा रहा था, और यद्यपि यहाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा मौसम कुछ ठंडा था। गर्मी और पसीने से वे बेहाल थे। चिपचिपी हवा और उसमें मच्छरों की भरमार। इस कारण बीमारियाँ आम थीं जिनसे मौतें भी हो रही थीं, क्योंकि लोग पहले से ही कमज़ोर यहाँ आए थे। इससे भी बुरी बात यह थी कि यह काम काफी खतरनाक था। उन्हें ज़्यादातर ढलानदार पहाड़ियों पर काम करना पड़ता था और डाइनामाइट के इस्तेमाल की अपनी परेशानियाँ थीं।

आज भी वहाँ काम कर चुके बहुत-से वृद्ध इस कठोर श्रम के निशान बदन पर लिए फिरते हैं और कई अंगहीन भी हो चुके हैं। अब यद्यपि उनके कार्य के परिणाम लोगों के सामने हैं, उस समय तो यह बिलकुल निरर्थक ही लगता था। एक तेज़ बारिश होती और उनका किया-कराया सब कीचड़ में बदल जाता था। इस सबके बावजूद, उन निराशाजनक परिस्थितियों में भी, शरणार्थियों ने, जब मैंने उनसे कहा कि हमें आशावादी बने रहना होगा, उन्होंने मेरी बात ध्यान से सुनी और मेरे प्रति अपनी पारम्परिक श्रद्धा व्यक्त की।

सड़क-शिविरों की इस यात्रा ने मेरा ध्यान एक और समस्या की ओर आकर्षित किया। सड़कें बनाने वालों के बच्चे कुपोषण के ज़बर्दस्त शिकार थे और उनकी मृत्यु-दर बहुत ज़्यादा थी। मैंने भारत सरकार को यह सूचना दी तो उन्होंने आवश्यकताओं के अनुरूप एक नए पारगमन शिविर की स्थापना की। इसी समय पचास बच्चों का एक दल मसूरी भेजा गया जहाँ उनके लिए पहला स्कूल खोला जा रहा था।

1 फरवरी 1960 को कुछ तिब्बती बसने के लिए मैसूर राज्य में बयलाकुप्पे पहुँचे। बाद में मुझे पता चला कि ज़मीन को देखकर वे बेहद निराश हो उठे और कुछ तो रोने भी लगे। यहाँ उन्हें बहुत काम करना था। उन्हें तम्बू और ज़रूरी औज़ार

तो दे दिए गए थे, लेकिन इनके अलावा उनके पास अपने निश्चय के अलावा और कुछ नहीं था।

इसके करीब महीने भर बाद, 10 मार्च को, अपने अस्सी अधिकारियों के साथ, जो निर्वासन में मेरी सरकार के अंग थे, धर्मशाला जाने के तुरन्त पहले, मैंने तिब्बती विद्रोह की वर्षगाँठ पर प्रतिवर्ष एक वक्तव्य जारी करने की परम्परा का आरम्भ किया। इस प्रथम वक्तव्य में मैंने तिब्बतियों को इस स्थिति का दीर्घकालीन आकलन करने की आवश्यकता को रेखांकित किया। निर्वासन में रह रहे अपने साथियों से मैंने कहा कि उन्हें अपने पुनर्वास तथा सांस्कृतिक परम्पराओं को बनाए रखने पर वल देना चाहिए—जहाँ तक हमारे भविष्य का प्रश्न है, सत्य, न्याय और साहस हमारे हथियार हैं, जिनकी सहायता से हम तिब्बत को स्वतन्त्र करा लेंगे।

9

एक लाख शरणार्थी

मेरी धर्मशाला की यात्रा ट्रेन तथा मोटरगाड़ी दोनों से पूरी हुई। अपने दल के साथ मैं 29 अप्रैल 1960 को मसूरी से चला और दूसरे दिन हिमाचल प्रदेश के पठानकोट स्टेशन पर जा उतरा। इसके बाद मोटर का सफ़र मुझे अच्छी तरह याद है। घंटा-भर सड़क पर चलने के बाद मुझे दूर-दूर तक पहाड़ की सफेद ऊँची चोटियाँ दिखाई देने लगीं। हम उन्हीं की दिशा में चले जा रहे थे। मार्ग में हमें देश का कुछ सबसे सुन्दर प्रदेश देखने को मिला—हरे विशाल मैदान, जगह-जगह वृक्ष और चारों तरफ रंगीन लहलहाते फूल। तीन घंटे बाद हम धर्मशाला के केन्द्र में पहुँच गए, जहाँ मैंने अपनी लिमोज़िन छोड़कर कुछ मील दूर अपने घर तक जीप पर सवारी की, जो मैक्लिऑडगंज नामक बस्ती के बिलकुल ऊपर बना था, और जिसके सामने विशाल घाटी फैली हुई थी।

यह बहुत सीधी और डरावनी चढ़ाई थी, जिससे मुझे ल्हासा के इर्द-गिर्द के कुछ सफ़र याद आ गए। सड़क के किनारे से कई जगह आप हज़ारों फीट नीचे नज़र डाल सकते थे। मैक्लिऑडगंज पहुँचकर हमने देखा कि हमारे लिए यहाँ बाँस का एक फाटक बनाया गया है जिस पर सुनहरे अक्षरों में ऊपर लिखा है—'स्वागतम्'। इस फाटक से हमारा घर स्वर्ग आश्रम, एक मील और आगे है—इसका पिछला नाम था हाइफ्राफ्ट हाउस और ब्रिटिश शासन में यहाँ डिवीज़नल कमिश्नर रहा करता था। घर तो छोटा ही था, जिसके चारों तरफ जंगली इलाके में और भी छोटी-बड़ी इमारतें, दीवार से घिरीं थीं, जिनमें रसोईघर भी था। इससे थोड़ी दूर पर तीन और घर मेरे कर्मचारियों के लिए ले लिए गए थे। हालाँकि इसमें विस्तार की गुंजाइश थी, लेकिन हम जितनी जगह में रहने के आदी थे, यहाँ उससे कम जगह थी—परन्तु मैं कृतज्ञ था कि अब हम यहाँ बस सकते हैं।

हम जब यहाँ पहुँचे तब काफी रात हो चुकी थी। इसलिए मैं ज़्यादा देख नहीं सका, लेकिन दूसरे दिन सुबह जब मैं जागा तब मैंने एक पक्षी की आवाज़ सुनी जिसके बारे में मुझे बाद में पता चला कि यह इस प्रदेश का विशेष पक्षी है—जैसे कह रहा हो—'कारा-चोक, कारा-चोक'। मैंने खिड़की खोलकर इसे देखना चाहा लेकिन

दिखाई नहीं दिया। इसके स्थान पर मुझे दिखाई दिए ऊँचे-ऊँचे शानदार पहाड़।

मोटे तौर पर, धर्मशाला में हमारा अनुभव काफी अच्छा रहा, लेकिन मैं यह बताऊँ कि कुछ समय बाद कुंडेलिंग को मसूरी के दूध का स्वाद याद आने लगा और कुछ साल बाद वह वहाँ वापस चला गया। धर्मशाला की सबसे बड़ी समस्या यहाँ की वर्षा है, जिसका स्थान सम्पूर्ण भारत में दूसरा है। आरम्भ में यहाँ सौ से कम तिब्बती आए, लेकिन अब यह संख्या पाँच हज़ार से ज़्यादा हो गई है। एकाध दफ़ा यहाँ से स्थान-परिवर्तन का विचार भी हुआ। पिछली दफ़ा कुछ वर्ष पूर्व जब एक भयंकर भूकम्प से कई इमारतें नष्ट हो गईं, लोगों ने कहना शुरू किया कि यहाँ रहना खतरनाक है। लेकिन फिर भी हम यहीं बने रहे, क्योंकि यद्यपि यहाँ भूकम्प की समस्या स्थायी है, लेकिन वे ज़्यादातर हलके ही होते हैं। सबसे भारी भूकम्प सन् 1905 में आया था जब अंग्रेज़ यहाँ गर्मी में आराम करने आते थे। उस समय ईसाई गिरजे का शिखर भी ध्वस्त हो गया था। इसलिए, यह मानना सही लगा कि खतरनाक भूकम्प यहाँ कम ही आते हैं। इसके अलावा, स्थान-परिवर्तन करना आसान कार्य नहीं होता।

बिड़ला हाउस की तरह यहाँ भी माँ मेरे साथ रहीं और दो ल्हासा आप्सो कुत्ते, जो किसी ने मुझे भेंट किए थे। इनके कारण लोगों का अच्छा मनोरंजन होता था। दोनों का व्यवहार एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न है। बड़े वाले कुत्ते को हमने सांग्ये नाम दिया। मैं अक्सर सोचता हूँ कि पिछले जन्म में यह भिक्षु रहा होगा, उनमें से एक जो भुखमरी में मारे गए। यह बात मैं इसलिए कहता हूँ कि एक तरफ़ तो उसने कुतियों में कोई रुचि नहीं दिखाई, दूसरी ओर भोजन में तो उसकी जान बसती थी : जब उसका पेट खूब भरा होता तब भी वह और खाने के लिए जगह निकाल लेता था। लेकिन मेरा वह ज़बर्दस्त वफ़ादार था।

इसके विपरीत ताशी बिलकुल अलग स्वभाव का कुत्ता था। कद में छोटा होते हुए भी वह उससे ज़्यादा बहादुर था। प्रसिद्ध एवरेस्ट-विजेता तेनज़िन नोरगे ने इसे मुझे दिया था—इसलिए यह सम्बन्ध भी इसका कारण हो सकता है। मुझे याद है कि एक बार वह बीमार पड़ा और उसे इंजेक्शन देने पड़े। एक इंजेक्शन लगा तो वह बहुत डर गया। इसलिए बाद में जब इंजेक्शन लगाने डाक्टर आता तो दो लोगों को उसे पकड़कर रखना पड़ता। इंजेक्शन लगते वक्त वह गुर्राता रहता और डाक्टर भी काम खत्म होते ही वहाँ से फौरन निकल जाता। लेकिन उसके जाने के बाद जब कुत्ते को छोड़ा जाता तो वह तेज़ी से बाहर निकलकर हर मकान में सूँघता फिरता कि उसे तकलीफ़ देने वाला शैतान कहाँ जा छिपा है। लेकिन देखने में वह भले ही खूँख्वार हो, उसके काटने से उसका भौंकना ज़्यादा भयंकर था, काटते समय उसका जबड़ा कुछ इस तरह आगे आ जाता कि वह ढंग से काट ही नहीं पाता था।

मैं जब धर्मशाला आया, मेरे साथ भारत सरकार का एक सम्पर्क अधिकारी तथा भारतीय सेना से कुछ अंगरक्षक थे। सम्पर्क अधिकारी मि. नायर से मेरी अच्छी मित्रता हो गई, उन्होंने मुझे अंग्रेज़ी सीखने के लिए प्रोत्साहित किया और स्वयं सिखाने का वादा भी किया। इसकी महत्ता समझने के कारण मैंने अपने भाई तेनज़िन चोएग्याल को दार्जिलिंग के इंग्लिश स्कूल नार्थ पाइंट, में भर्ती करा दिया था, और स्वयं भी मसूरी में सीखना शुरू कर दिया था। भारत सरकार ने उदारतापूर्वक मुझे हर सप्ताह दो-तीन दिन अंग्रेज़ी पढ़ाने के लिए एक शिक्षक का प्रबन्ध कर दिया था। लेकिन उस समय मैं अच्छा शिष्य साबित नहीं हुआ और बहानेबाज़ी करने लगा, इसलिए अब तक ज़रा भी प्रगति नहीं कर पाया था। लेकिन सम्पर्क अधिकारी से सीखने में मुझे अच्छा लगने लगा और तेज़ी से प्रगति भी करने लगा, हालाँकि वह लिखने का इतना ज़्यादा काम दे देता था, जिससे मुझे परेशानी होती थी। दो साल बाद उसे कहीं और भेज दिया गया, तो मुझे बहुत दुख हुआ।

उसके जाने के बाद मेरा अंग्रेज़ी अभ्यास निश्चित नहीं रहा। कई लोग मेरी सहायता करते रहे, जिनमें कुछ तिब्बती भी थे, लेकिन मैं सोचता हूँ कि आज पच्चीस वर्ष बाद मेरा अंग्रेज़ी ज्ञान उस समय जैसा अच्छा नहीं है। जब कभी मैं विदेश जाता हूँ, तब मुझे यह कमी कष्ट देने लगती है। मैं अक्सर ज़बरदस्त गलतियाँ कर जाता हूँ और शर्मिंदा होता हूँ, और मुझे अफसोस होता है कि जब अवसर था, तब मैंने परिश्रम नहीं किया।

धर्मशाला निवास के उन पहले वर्षों में मैंने अंग्रेज़ी सीखने के अलावा धार्मिक अध्ययन पर फिर से ध्यान देना शुरू किया। मैंने जिन तिब्बती धर्मग्रन्थों को वर्षों पहले पढ़ा था, उनको फिर से पढ़ना आरम्भ किया। इसके अलावा मैंने अन्य परम्पराओं के जो आध्यात्मिक गुरु तिब्बत से यहाँ आ गए थे, उनसे भी पढ़ना आरम्भ किया। और यद्यपि मुझे बोधचित्त—प्राणिमात्र के लाभ के लिए बुद्धत्व की प्राप्ति की भावना—की उपलब्धि अभी भी बहुत दूर प्रतीत होती थी, मेरे पास अब समय की कमी नहीं थी, क्योंकि यहाँ ज़्यादा काम करने की विवशता नहीं थी, और इस साधना में रुचि होने के कारण मैं काफ़ी कुछ करने भी लगा। लेकिन दुर्भाग्य से, मेरी व्यस्तता अचानक बढ़ गई और इस क्षेत्र में मेरी प्रगति रुक गई। मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि मैंने आध्यात्मिक रूप से जो कुछ प्राप्त किया, वह इस क्षेत्र में मेरे किए उद्योग के अनुपात में बहुत ज़्यादा है।

धर्मशाला पहुँचने के बाद पन्द्रह दिन में मैंने तिब्बती बच्चों के लिए पहली नर्सरी का आरम्भ किया। एक पुरानी टूटी-फूटी इमारत में, जिसे भारत सरकार ने हमारे लिए किराए पर, तिब्बत से हर रोज़ आ रहे अनाथ बच्चों के लिए, ले लिया था,

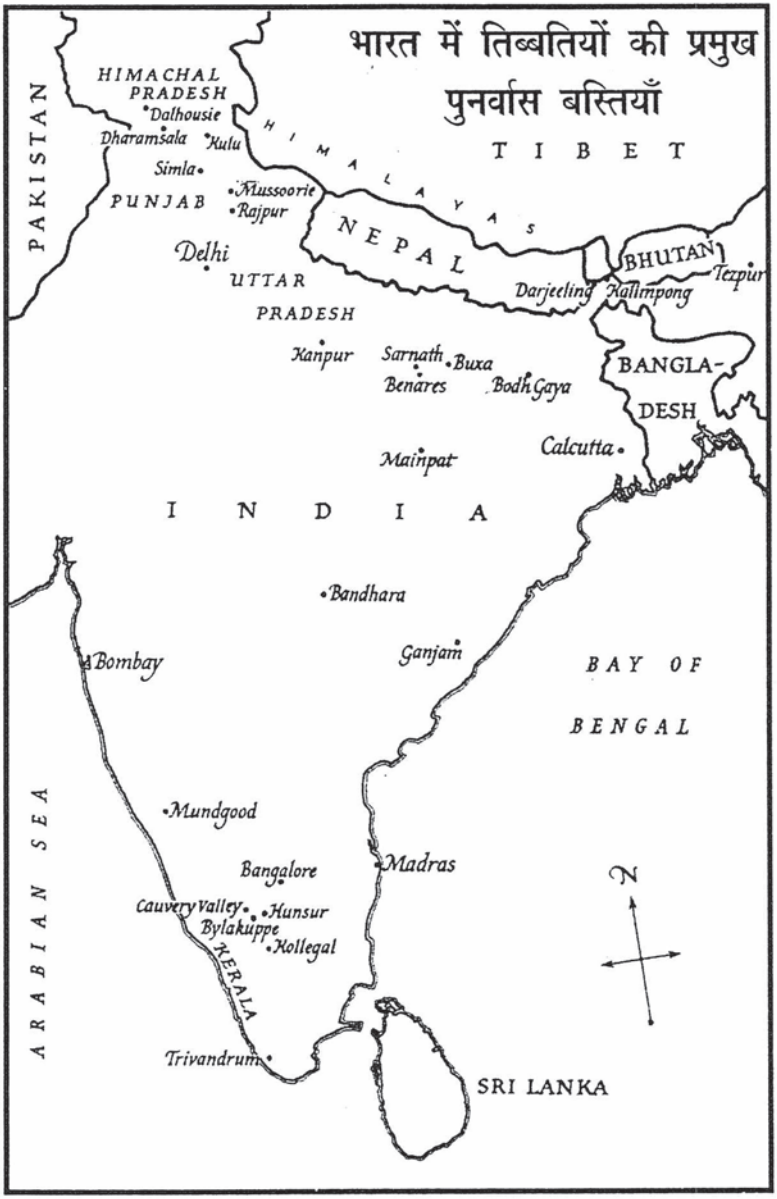
भारत में तिब्बतियों की प्रमुख
पुनर्वास बस्तियाँ
PAKISTAN
HIMACHAL PRADESH
Dalhousie
Dharamsala
Kulu
Simla
PUNJAB
Mussoorie
Rajpur
Delhi
UTTAR PRADESH
HIMALAYAS
TIBET
NEPAL
BHUTAN
Tezpur
Darjeeling
Kalimpong
Kanpur
Sarnath
Buxa
Benares
Bodh Gaya
BANGLA-DESH
Calcutta
Mainpat
INDIA
Bandhara
Bombay
Ganjam
BAY OF BENGAL
ARABIAN SEA
Mundgood
Bangalore
Madras
Cauvery Valley
Hunsur
Bylakuppe
Hollegal
KERALA
Trivandrum
SRI LANKA
N

इसकी शुरुआत की गई। मैंने अपनी बड़ी बहन सेरिंग डोलमा को इसे चलाने के लिए नियुक्त किया। शुरू में पचास बच्चे थे लेकिन उनके लिए काफी जगह नहीं थी। साल खत्म होने पर इनकी संख्या बढ़कर दस गुनी हो गई, और जो रुकती नहीं लग रही थी, उसकी तुलना में इस समय उन्हें बहुत आराम था। एक वक्त आया जब एक कमरे में 120 बच्चे सोते थे। हर खाट पर पाँच-छह इस तरह आड़े लेट जाते कि सब समा सकें। लेकिन स्थितियाँ कठिन होने पर भी जब कभी मैं अपनी बहन और उसके बढ़ते जा रहे परिवार को देखने जाता, मुझे अच्छा ही लगता। क्योंकि, अनाथ होते हुए भी ये बच्चे हर वक्त इतना हँसते-खिलखिलाते और खुश रहते थे कि लगता था, मुश्किलों का मज़ाक उड़ा रहे हों।

मेरी बहन अच्छी नेत्री साबित हुई, जो कभी निराश नहीं होती थी। वह काफ़ी सख्त और स्वस्थ औरत थी, उसे परिवार का स्वभाव विरासत में मिला था। लेकिन दिल से वह बड़ी कोमल और हँसी-मज़ाक पसन्द थी। उस कठिन समय में उसका योगदान महत्त्वपूर्ण था। गाँव की सीधी-सादी लड़की, उसे नहीं के बराबर शिक्षा मिली थी और उसका ज़्यादातर वक्त घर चलाने में माँ की सहायता करते हुए ही बीता था। उसमें परिश्रम करने की अपार क्षमता थी और उसके कठोर स्वभाव ने उसे अच्छी नेत्री बना दिया।

लेकिन, बहुत जल्द यह स्पष्ट हो गया कि न तो हम और न भारत सरकार इतने अनाथ बच्चों की ज़िम्मेदारी सँभाल सकते हैं, इसलिए मैंने सोचना शुरू किया कि, यदि यह सम्भव हो तो, इनमें से कुछ को विदेशियों को गोद देने का प्रयत्न किया जाए। इसलिए मैंने अपने एक स्विस मित्र, डॉ. ऐशमान से सम्पर्क किया और उनसे इसकी सम्भावनाएँ देखने को कहा। इस कार्य के लिए स्विट्ज़रलैंड मुझे आदर्श देश लगता था, क्योंकि एक तो वह छोटा है और आवागमन की सुविधाओं से भरपूर है, दूसरे पहाड़ों का देश है जो तिब्बतियों को घर की याद दिलाते हैं।

स्विस सरकार आरम्भ से ही बहुत सहयोगी रही और उसने तुरन्त दो सौ बच्चे लेने की इच्छा व्यक्त की। इसके अलावा उसने यह भी वादा किया, कि यद्यपि बच्चे साधारण स्विस परिवारों में ही रहने को दिए जाएँगे, लेकिन उन्हें अपनी तिब्बती संस्कृति का पालन करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

एक के बाद दूसरे, बच्चों के कई दल स्विट्ज़रलैंड जाते रहे और कुछ समय बाद पुराने विद्यार्थी भी शिक्षा के लिए वहाँ जाने लगे, और एक हज़ार बड़ी उम्र के शरणार्थियों के वहाँ पुनर्वास की भी योजना बनाई गई। लेकिन जैसे-जैसे भारत में हमारी स्थिति में सुधार होता गया, हमें उनकी सहायता की आवश्यकता कम होती गई। उन्होंने हम तिब्बतियों के लिए जो कुछ भी किया है, उसके लिए मैं हमेशा उनका अतिकृतज्ञ रहूँगा।

धर्मशाला आने के बाद *इन्टरनेशनल कमीशन ऑफ़ ज्यूरिस्ट्स* के सदस्यों से, जिन्होंने पिछले वर्ष हमारे पक्ष में रिपोर्ट प्रकाशित कर हमारा आत्मविश्वास बढ़ाया था, मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध बढ़ने लगा। उन्होंने मुझे कमीशन की *लीगल एनक्वायरी कमेटी* के सामने बयान देने के लिए आमन्त्रित किया, जो मैंने प्रसन्नतापूर्वक दिया। इस जाँच के परिणाम अगस्त 1960 में जेनेवा में प्रकाशित किए गए। इस बार भी कमीशन ने तिब्बत के दृष्टिकोण को पूरी तरह सही ठहराया; उसने कहा कि चीन ने *यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स* की सोलह धाराओं का उल्लंघन किया है और वह तिब्बत में नरसंहार का दोषी है। उन्होंने उन अनेक पैशाचिक कृत्यों का भी विवरण दिया, जिनका उल्लेख मैं कर चुका हूँ।

व्यावहारिक धरातल पर कमीशन के साथ बातचीत के दौरान मुझे एक महत्त्वपूर्ण बात का ज्ञान हुआ। एक सदस्य ने, वह शायद अंग्रेज़ था, मुझसे पूछा कि क्या आपका कोई व्यक्ति बीजिंग रेडियो के प्रसारणों को नियमित रूप से सुनता है। मैंने कहा, नहीं, तो यह सुनकर उसे धक्का-सा लगा, और उसने ज़रा विस्तार से मुझे समझाया कि वे लोग जो कुछ भी कहते हैं, उसे ध्यान से सुनना बहुत आवश्यक है। यह ऐसी बात थी जिससे इस क्षेत्र में हमारी कमियों का पता चलता था। इस सम्बन्ध में हमारा मानना था कि चीनी हमारे विरुद्ध प्रचार और झूठ बोलने के अलावा और कुछ नहीं करते, और यही हमारे लिए काफी था। हम इस बात का महत्त्व नहीं समझते थे कि इन्हें ध्यान से सुनकर हम यह भी जान सकते हैं कि चीनियों के दिमाग में किस वक्त क्या चल रहा है। लेकिन अब यह बात समझ में आते ही मैंने काशाग को इस काम के लिए विशेष टीम बनाने का निर्देश दिया—यह काम आज तक चल रहा है।

1960 के पूरे वर्ष मैं तिब्बती शासन में सुधार लाने में लगा रहा, और काशाग तथा अन्य लोगों की सहायता से उसके लोकतन्त्रीकरण का कठिन कार्य भी शुरू कर दिया। 2 सितम्बर को मैंने *कमीशन ऑफ़ तिब्बेतन पीपुल्स डिपुटीज़* का उद्घाटन किया। यह हमारे शासन की सर्वोपरि विधायक संस्था थी और देश के तीन मुख्य प्रदेशों, ऊ-सांग, आमदो और खाम के चुने हुए प्रतिनिधि इसके सदस्य होते थे। इनके अलावा मुख्य धार्मिक परम्पराओं के प्रतिनिधि इसमें आते थे, और कुछ समय बाद प्राचीन बॉन धर्म को भी इनमें शामिल कर लिया गया। अब इस कमीशन का नाम है *असेम्बली ऑफ तिब्बेतन पीपुल्स डिपुटीज़,* या भोए मिमांग चेतुई ल्हेनखांग और यह सामान्य संसद की भाँति कार्य करती है। इसके सदस्य महीने में एक बार काशाग तथा विभिन्न विभागों के सचिवों, ल्हेनखांग, से मिलकर आवश्यक विषयों पर चर्चा करते हैं, विशेष अवसरों पर यह पूरी राष्ट्रीय कार्यकारिणी, या ग्यूनले के साथ बैठती है—इसमें ल्हेनखांग के अध्यक्ष और काशाग के सदस्य होते हैं—इन सदस्यों का अब मैं नामांकन नहीं करता, बल्कि चुनाव होता है। किसी भी पीपुल्स डिपुटी द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव पर मतदान के अनुसार कार्यवाही होती है।

आरम्भ में ये नए प्रबन्ध बड़े सन्तोषजनक नहीं थे। चूँकि ये परिवर्तन मौलिक थे इसलिए कुछ तिब्बतियों ने कहना शुरू किया कि धर्मशाला की सरकार सच्चे कम्युनिज़्म का पालन कर रही है। कई दशक बाद अब भी हमारे सामने अनेक समस्याएँ हैं, लेकिन परिवर्तन आ रहा है और सुधार होना भी शुरू हो गया है। यह निश्चित है कि हम अपने चीन के भाइयों और बहनों से बहुत आगे हैं और अब वे हमसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। ये शब्द लिखते समय तिब्बत की निर्वासन में सरकार लोकतन्त्र को आगे बढ़ाने के लिए कुछ और नियम लागू कर रही है।

हमारे कुछ पुराने अधिकारी जो निर्वासन में भारत आ गए थे, शुरू में इन परिवर्तनों से प्रसन्न नहीं थे। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें इनकी उपादेयता समझ में आने लगी और बाद में इन्हें लागू करने में वे जी-जान से जुट गए। शुरू के इन वर्षों में यद्यपि दूसरों की तुलना में मुझे कुछ सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं, अधिकांश अधिकारियों को बड़ी कठिनाइयों में रहना पड़ा था। इनमें से कई काफ़ी वृद्ध लोग बड़ी बुरी स्थितियों में रहने को विवश थे—जैसे, कुछ को गौशालाओं में रहना पड़ा था। लेकिन उन्होंने इसे हँसकर स्वीकार किया और कभी कोई शिकायत नहीं की, यद्यपि ये तिब्बत में बड़े विशाल भवनों और सुख-सुविधाओं में रहने के आदी थे। भले ही उनमें से कुछ लोग अपने पुरानेपन के कारण मेरी कुछ बातों से सहमत नहीं थे लेकिन उन सबने इन कठिन दिनों में कुछ न कुछ योगदान अवश्य किया। उन्होंने बड़ी खुशी और दृढ़ता से सब कठिनाइयों को सहा और बिना किसी स्वार्थ के लोगों की टूटी हुई ज़िन्दगियों को फिर से बनाने में सबका साथ दिया। उन दिनों उनका वेतन पचहत्तर रुपये महीने से ज़्यादा नहीं होता था, यद्यपि वे अपनी शिक्षा के सहारे अन्यत्र कहीं ज़्यादा कमा सकते थे।

यह सब कहने का अर्थ यह नहीं है कि शासन का कार्य आसान था। लोगों में स्वाभाविक रूप से मतभेद तो होते ही थे, छोटी-मोटी कहा-सुनी भी बहुत होती थी। दरअसल यह मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन कुल मिलाकर यही कहना होगा कि सब लोगों ने सामान्य हित के लिए हमेशा मिल-जुलकर ही काम किया।

आरम्भ से ही मेरा दूसरा प्रमुख कार्य था अपने धर्म को बनाए रखना और बढ़ाना। मैं जानता था कि इसके बिना तो हमारे जीवन का स्रोत ही समाप्त हो जाएगा। भारत सरकार ने भी इसके पहले कदम के रूप में भूटान की सीमा पर 'बक्सा दुआर' के पुराने युद्धबन्दी शिविर में 300 भिक्षुओं की एक विद्या समिति स्थापित करने की सुविधा प्रदान कर दी थी। फिर, जब हमने स्पष्ट किया कि बुद्ध धर्म ज्ञान के उच्चतम अध्ययन पर निर्भर है, तो उन्होंने सभी परम्पराओं के डेढ़ हज़ार भिक्षुओं का दायित्व लेना स्वीकार कर लिया। तिब्बत से जो छह हज़ार भिक्षु भागकर आए थे, उनमें से सबसे युवा तथा अनुभवी शिक्षकों का इस प्रकार प्रबन्ध हो गया।

दुर्भाग्य से 'बक्सा दुआर' की दशा बड़ी खराब थी। यहाँ की जलवायु विशेष गर्म तथा चिपचिपी थी और रोगों की भरमार थी। इन कठिनाइयों में एक यह भी थी कि भोजन की सामग्री बहुत दूर से लानी पड़ती थी। जब वे यहाँ पहुँचतीं, सड़ने-गलने लगती थीं। कुछ ही महीने में कई सौ भिक्षु तपेदिक के शिकार हो गए। लेकिन जब तक उन्हें दूसरा स्थान न मिल जाता, उन्हें यहाँ रहना ही था। मुझे खेद है कि मैं वहाँ खुद एक बार भी नहीं जा सका, लेकिन मैं पत्रों तथा सन्देशों से बराबर उनका हौसला बढ़ाता रहता था। बाद में इसका कुछ लाभ भी हुआ क्योंकि यहाँ की परिस्थितियों को तो बदला नहीं जा सका, यहाँ के शेष रहे भिक्षु एक जीवन्त धार्मिक समाज के प्रेरक केन्द्र बन गए।

इस समय हमारी सबसे बड़ी कठिनाई थी धन का अभाव। जहाँ तक हमारे पुनर्वास तथा शिक्षण का प्रश्न है, भारत सरकार और विदेशों की अनेक सहायता संस्थाओं के कारण इनमें हमें कोई परेशानी नहीं हुई क्योंकि इन सबने बड़ी उदारता से हमें अनेक योजनाओं के लिए धन दिया। लेकिन शासन चलाने जैसे कार्यों के लिए धन माँगना मुझे उपयुक्त नहीं लगता था। इन कामों के लिए पैसा जमा करने के लिए हमने स्वाधीनता कर लगाया जिसमें प्रति व्यक्ति एक रुपया प्रतिमास देना होता था और दूसरा सवेतन नौकरी करने वालों पर आयकर के रूप में दो प्रतिशत प्रतिमास, लेकिन इनसे हमारा काम नहीं चलता था। सौभाग्य से राज्य का वह खज़ाना जो सन् 1950 में केनराप तेनज़िन ने बड़ी दूरदर्शितापूर्वक सिक्किम में जमा करवा दिया था, और अब तक वहाँ सुरक्षित था, इस समय हमारे बड़े काम आया।

पहले तो मेरा विचार था कि यह खज़ाना भारत सरकार को ही बेच दूँ, जो सुझाव नेहरू जी ने ही मुझे दिया था। लेकिन मेरे सहायक इसके विरुद्ध थे और खुले बाज़ार में ही इसे बेचना चाहते थे। उन्हें विश्वास था कि इस प्रकार ज़्यादा धन प्राप्त होगा। इसलिए अन्त में इसे कोलकाता के खुले बाज़ार में बेचा गया, जहाँ, मुझे लगा कि इससे हमें काफ़ी पैसा मिला, जो उस समय अस्सी लाख डालर के बराबर होता था।

इस धन से अनेक उद्योग आरम्भ किए गए। इनमें कई हमारी दृष्टि से निश्चित रूप से धन की बारिश करने वाली योजनाएँ थी, जैसे लोहे के पाइप बनाने का कारखाना और एक कागज़ मिल से सम्बन्धित व्यापार, परन्तु दुर्भाग्य से, बहुत कम समय में ये सब उद्योग असफल हो गए। इन्हें चलाने में जो लोग हमारी सहायता कर रहे थे, उनका कार्य सही नहीं रहा। वे दरअसल हमारी सहायता करने के स्थान पर स्वयं अपनी सहायता करने पर ज़्यादा ध्यान दे रहे थे और हमारा अधिकांश धन लुप्त हो गया। इस प्रकार चिकयाब केनपो के बनाए सपने चूर-चूर हो गए।

मूलधन का आठवाँ से भी कम हिस्सा बचाया जा सका जिससे हिज़ होलीनेस दलाई लामा ट्रस्ट की सन् 1964 में स्थापना की गई। यद्यपि इस घटना में दुख का

भी कुछ अंश है, लेकिन बाद में इसका जो परिणाम हुआ, उसके कारण मुझे ज़्यादा अफसोस नहीं हुआ। समग्र दृष्टि से देखने पर मेरा मत यह है कि यह ख़जाना तिब्बत की समूची जनता की सम्पत्ति था, उस पर केवल हम निर्वासितों का अधिकार नहीं बनता था। इसे मैं कर्म का अधिकार कहता हूँ। इस सम्बन्ध में मुझे लिंग रिन्पोचे की याद आई। जिन्होंने ल्हासा छोड़ते समय अपनी प्रिय घड़ी वहीं रख दी थी। उनका कहना था कि ल्हासा छोड़ने के कारण इस पर उनका अधिकार समाप्त हो गया है। अब मुझे लगता है कि उनका दृष्टिकोण सही था।

जहाँ तक मेरे अपने खर्चों का सवाल है, पुराने ज़माने में दलाई लामा की अर्थ-व्यवस्था को सँभालने के लिए दो विभाग थे, लेकिन 1959 के बाद यह एक ही रह गया था। इसे प्राइवेट ऑफिस कहते हैं, जो मेरी सारी आय और व्यय का हिसाब रखता है, जिसमें भारत सरकार द्वारा मुझे दिया जाने वाला भत्ता भी शामिल है, जो बीस रुपये प्रतिदिन (अपरिवर्तनीय) के हिसाब से दिया जाता है। पिछले दिनों की तरह मेरा पैसे से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, जो शायद अच्छी बात ही है, क्योंकि मुझे अपना स्वभाव ज़रा ज्यादा ही उदार लगता है, हालाँकि मैं यह भी जानता हूँ कि बचपन से ही मैं कई दफ़ा छोटे-छोटे खर्चों में भी बहुत कंजूसी से काम लेता था। फिर भी, जो पैसा मुझे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त होता—जैसे नोबेल पुरस्कार से प्राप्त धन—उसके व्यय का आदेश देने की क्षमता मुझमें है।

धर्मशाला में बिताई पहली गर्मियों में मुझे आराम करने का कुछ समय मिलने लगा, तो मैंने शाम को बैडमिंटन खेलना शुरू कर दिया—मैं अक्सर भिक्षु के वस्त्र नहीं पहनता था। फिर जब सर्दियाँ आईं, जो बहुत कड़ाके की थीं, तो हम बर्फ में खेलने लगे। मेरी बड़ी बहन और माँ, अपनी उम्र के बावजूद, बर्फ के गोले बनाकर फेंकने और भाग-दौड़ करने में बहुत मज़ा लेती थीं।

इनसे ज़्यादा कठिन खेल था पहाड़ों की चढ़ाई, और सामने खड़े धौलाधार के शिखरों पर, जो सत्रह हज़ार फीट ऊँचे थे, हम अक्सर चल पड़ते थे। मुझे पर्वत हमेशा से प्रिय रहे हैं। एक दफ़ा मैं अपने तिब्बती अंगरक्षकों के साथ काफी ऊँचाई तक चढ़ गया। चोटी पर पहुँचकर हम काफी थक गए तो मैंने कहा, कुछ क्षण आराम कर लेते हैं फिर वहाँ बैठकर जब हम प्रकृति का आनन्द लेने लगे, तो मैंने देखा कि कुछ दूर पर यहीं रहने वाले लोगों में से एक व्यक्ति हमें देख रहा है। यह एक छोटे-से क़द का, काला और डरावना-सा आदमी था। वह कुछ देर तक हमें ध्यान से देखता रहा, फिर एक लकड़ी के टुकड़े की तरह दिखाई देने वाली किसी चीज़ पर बैठकर बड़ी तेज़ी से पहाड़ के नीचे की तरफ फिसलने लगा। मैं चकित होकर

उसे हज़ारों फीट नीचे, एक छोटे-से बिन्दु की तरह, जाते हुए देखता रहा। मैंने कहा कि हम भी इसी तरह नीचे उतरते हैं।

किसी ने एक रस्सी निकाली और हम दसों लोग उससे अपने को बाँधकर लकड़ी या बर्फ या किसी और चीज़ पर बैठकर ढाल पर उतरने लगे। खेल खतरनाक था लेकिन सबने काफ़ी मज़ा लिया। हम एक-दूसरे से और पहाड़ की बर्फ से उल्टे-सीधे टकराते और चोटें खाते चले जा रहे थे। गनीमत यही हुई कि किसी को ज़्यादा चोट नहीं लगी, लेकिन इसके बाद मेरे कई सहायकों ने आधार शिविर से कहीं और जाने से इन्कार करना शुरू कर दिया। मेरे अंगरक्षकों ने तो विशेष रूप से मेरी साहसिक यात्राओं पर लगाम लगाना शुरू कर दिया।

शुरू के इन दिनों में मैं अपना खाली समय एक और काम में लगाने लगा—एक अंग्रेज़ लेखक डेविड हॉवर्थ की सहायता से अपने देश और अपनी ज़िन्दगी पर एक किताब की तैयारी, जिसका नाम था *'माई लैंड एण्ड माई पीपुल'*।

सन् 1961 में मेरी सरकार ने तिब्बत के संविधान की एक रूपरेखा प्रकाशित की। तिब्बत के सब लोगों को इस पर अपना मत देने को कहा गया। बहुत सारी प्रतिक्रियाएँ आईं। इनमें से अधिकतर दलाई लामा के कार्य से सम्बन्धित थीं। मैंने धर्म-शासन से लोकतन्त्री शासन की दिशा में शासन को ले जाने के लिए राष्ट्रीय परिषद् को यह अधिकार देने का प्रावधान किया था कि वह दो-तिहाई मत से उसे पदच्युत कर सकती है। लेकिन दलाई लामा को हटा सकने के विचार से ही तिब्बती एकदम भड़क उठे। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की कि लोकतन्त्र बौद्ध सिद्धान्तों के अनुरूप है, और एक तरह से उन्हें आज्ञा की कि इस धारा का विरोध न करें।

इस वर्ष के आरम्भिक दिनों में मैंने सड़क शिविरों में काम कर रहे तिब्बतियों से दोबारा भेंट की और पहली बार बायलाकुप्पे की नई बस्ती की यात्रा की। यहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि सभी तिब्बती काले और दुबले हो गए हैं। इसका कारण एकदम मेरी समझ में आ गया। शिविर में जंगल के किनारे लगे तम्बुओं के अलावा कुछ नहीं था, हालाँकि चारों तरफ फैली प्रकृति, जैसी मैं उसे अपनी पिछली यात्रा में देखकर गया था, बहुत सुहावनी थी, ज़मीन ज़रूर उपजाऊ नहीं लग रही थी। और गर्मी भी बर्दाश्त के बाहर थी।

इन लोगों ने मेरे लिए एक विशेष तम्बू लगाया था जिसकी दीवारें बाँस से बनी थीं और छत केनवास से ढकी थी। यह काफी अच्छा बना था लेकिन सफाई और निर्माण के कारण जो बेतहाशा धूल उड़ती थी, उससे यह सुरक्षित नहीं था। हर रोज़ चारों तरफ़ गहरे धुएँ के बादल छा जाते। रात को ये नीचे उतरते और हर छेद से तम्बुओं में घुसते, और सवेरे उठने पर यह काली धूल आपके चेहरों पर पुती होती। इन स्थितियों के कारण इनका आत्मविश्वास भी बहुत गिरा हुआ था। मैं इन पथ-निर्माताओं के लिए कुछ कर भी नहीं सकता था, सिवाय इसके कि उनका

उत्साह कुछ और बढ़ा दूँ। मैंने उनसे कहा कि हमें आशा नहीं छोड़नी चाहिए और उन्हें विश्वास दिलाया—हालाँकि खुद मुझे विश्वास करना कठिन हो रहा था—कि हमारी उन्नति का समय शीघ्र आएगा। मैंने उनसे वादा किया कि हम जीतकर रहेंगे। सौभाग्य से, उन्होंने मेरे हर शब्द पर विश्वास कर लिया और सचमुच, धीरे-धीरे ही सही, उनकी स्थिति बदलने लगी।

भारतीय राज्यों की उदारता के कारण हम सन् 1960 के आरम्भ तक विभिन्न स्थानों पर बीस से अधिक बस्तियाँ बसाने में सफल हो गए, जिनमें सड़क शिविरों से शरणार्थियों को स्थानान्तरित किया जाने लगा, जिसके परिणाम स्वरूप लगभग एक लाख शरणार्थियों में से कुछ सौ ही शेष रह गए हैं, जिनमें से ज़्यादातर अपनी इच्छा से ही वहाँ रह रहे हैं।

चूँकि हमें आधी से ज्यादा ज़मीन दक्षिण भारत में दी गई, जहाँ उत्तर की अपेक्षा गर्मी भी ज्यादा पड़ती है, इसलिए मैंने तय किया कि आरम्भ में वहाँ तगड़े लोगों को ही भेजा जाए। फिर भी गर्मी के कारण होने-वाली बीमारियाँ और लू इत्यादि लगने से होने वाली मौतें इतनी ज़्यादा थीं कि मैं यह सोचने लगा कि इन उष्ण-कटिबंधीय प्रदेशों में ज़मीन लेना स्वीकार करके कहीं ग़लती तो नहीं की। फिर भी मुझे विश्वास था कि कुछ समय में लोग इसे सहन करना सीख जाएँगे। जिस प्रकार उन्हें मुझमें विश्वास था, उसी तरह मेरा भी उनमें पूरा विश्वास था।

जब मैं इन शिविरों में जाता, मुझे अक्सर इन्हें समझाना पड़ता कि स्थिति की जटिलताओं को समझकर काम करें। अपने घरों से इतनी दूर आ पड़ने की स्थिति, जहाँ न बर्फ है, न पहाड़ है, इनकी बर्दाश्त से बाहर हो रही थी। मैं इन बातों से उनका दिमाग़ हटाने की कोशिश करता था। मैं उनसे कहता था कि अब तिब्बत का भविष्य उसके शरणार्थियों पर निर्भर है। अगर हम अपनी संस्कृति तथा जीवन-शैली को बचाए रखना चाहते हैं तो हमें अपने समाज को शक्तिशाली बनाना होगा। मैं उन्हें शिक्षा का महत्त्व बताता और विवाह संस्था का महत्त्व भी उन्हें समझाता। यद्यपि भिक्षु होने के कारण यह विषय मेरे लिए वर्जित था, मैं स्त्रियों से कहता कि जहाँ तक सम्भव हो, वे तिब्बती युवकों से ही विवाह करें जिससे उनकी सन्तानें भी तिब्बती ही उत्पन्न हों।''

सन् 1960 और 1965 के बीच ही अधिकांश बस्तियों की शुरुआत की गई। इस अवधि में मैं जितनी ज़्यादा उनकी यात्रा कर सका, करता रहा। यद्यपि मैंने कभी असफलता का विचार नहीं किया, ऐसे क्षण आते थे जब कठिनाइयाँ अविजेय लगने लगती थीं। जैसे, महाराष्ट्र के भंडारा कस्बे में वसन्त के मौसम में शरणार्थियों का पहला जत्था पहुँचा, और कुछ ही हफ्तों में सौ के करीब लोग, कुल संख्या का पाँचवाँ भाग, गर्मी से मर गए। जब मैं पहली दफ़ा वहाँ उन्हें देखने पहुँचा तो सब आँखों में आँसू भरकर मेरे पास आए और कहने लगे कि यहाँ से कहीं और ठंडी जगह

ले चलो। मैं उन्हें यह समझाने के अलावा और कुछ नहीं कर सकता था कि उन्हें गलत वक्त पर यहाँ भेजा गया, और यह कि गर्मी अब बीत चुकी है। उन्हें यहाँ के निवासियों का जीवन अपनाना होगा और इसी स्थिति का अधिक से अधिक उपयोग करना होगा। मैंने उनसे एक साल और यहाँ रहने का आग्रह किया। यदि उस समय तक, जब अगली सर्दियों में मैं यहाँ आऊँगा, वे यहाँ रहने में सफल नहीं हो सके, तो मैं उन्हें कहीं और ले जाऊँगा।

और यही हुआ भी, इस दिन से स्थिति बदलना शुरू हो गई। एक साल बाद जब मैं फिर वहाँ गया, उन्होंने उन्नति करना शुरू कर दिया था। मैंने शिविर के नेताओं से कहा, "तो तुम सब ज़िन्दा हो।" तो वे हँसने लगे और बताया कि जैसा मैंने कहा था, बिलकुल वही सब हुआ। लेकिन, यहाँ मैं यह भी बता दूँ कि ये लोग बहुत सफल हो गए, परन्तु इनके बाद यहाँ और तिब्बतियों को लाना सम्भव नहीं हुआ, गर्मी के कारण इनकी संख्या सात सौ से ज़्यादा नहीं बढ़ी। बायलाकुप्पे की तरह यहाँ भी एक एकड़ प्रति आदमी के हिसाब से तीन हज़ार एकड़ ज़मीन दी गई थी, लेकिन 2,300 एकड़ जमीन हमें उन्हें वापस करनी पड़ी। इस ज़मीन पर सरकार ने दूसरे शरणार्थी रखे लेकिन वे भी यहाँ ज़्यादा दिन टिक नहीं सके।

पुनर्वास योजना की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि हम कई कठिनाइयों की तो पहले से कल्पना कर लेते थे, लेकिन कुछ ऐसी भी थीं जो हमें बिना बताए आकर दबोच लेती थीं। मिसाल के लिए, एक जगह जंगली सूअर और हाथियों के कारण हमें बड़ी तकलीफें झेलनी पड़ीं। ये सिर्फ हमारी फसलें ही नहीं बर्बाद कर देते थे, बल्कि कभी-कभी आकर हमारी झोपड़ियाँ भी उखाड़ देते थे और लोगों को मार डालते थे।

मुझे याद है, एक दफ़ा एक बूढ़े लामा ने यहाँ मुझसे सुरक्षा के लिए प्रार्थना करने को कहा, और इसमें मुझे 'हाथी' शब्द का इस्तेमाल करना था। संस्कृत प्रार्थनाओं में हाथी को बहुत मूल्यवान और परोपकारी प्राणी माना जाता है। मैं उसका आशय समझ गया लेकिन उसकी इस इच्छा पर मुझे आश्चर्य हुआ। शायद भिक्षु यह सोचता होगा कि हाथी प्रसन्न होकर उनकी सहायता करेंगे।

फिर कुछ साल बाद जब मैं स्विट्ज़रलैंड गया, तो मुझे एक फ़ार्म दिखाया गया जो बिजली के तारों से घिरा हुआ था। मैंने अपने गाइड से पूछा कि क्या ये तार हाथियों से रक्षा कर सकते हैं। उसे आश्चर्य तो हुआ लेकिन उसने कहा कि अगर बिजली का करेंट काफ़ी हो तो ज़रूर कर सकते हैं। इसके बाद मैंने कुछ लोगों को बस्ती की इस दृष्टि से जाँच करने भेजा।

हमारी सब समस्याएँ व्यावहारिक नहीं होती थीं। कई दफा हमारी संस्कृति ही तिब्बतियों को कई काम करने से रोक देती थी। जब मैं पहली दफ़ा बायलाकुप्पे गया, लोगों ने मुझसे आकर कहा कि यहाँ ज़मीन साफ़ करने के लिए हमें जो आग लगानी पड़ती है, उसमें तो अगणित जीव-जन्तुओं का भी नाश हो जाता है। हम

बौद्धों के लिए यह वर्जित कार्य है क्योंकि हम मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र के जीवन को पवित्र मानते हैं। बहुत-से शरणार्थियों ने तो मुझसे यही कहा कि यह काम बंद कर देना चाहिए।

इन्हीं कारणों से विदेशी संस्थाओं द्वारा चलाए गए कई प्रोजेक्ट समाप्त हो गए। उदाहरण के लिए, मुर्गी और सूअर-पालन की सभी योजनाएँ असफल हो गईं। कठिनाइयों का जीवन बिताने पर भी तिब्बती खाने के लिए जानवरों का पालन करना पसन्द नहीं करते। इस कारण बहुत-से विदेशियों ने तिब्बतियों पर कटाक्ष करना शुरू कर दिया कि इन्हें माँस खाना तो अच्छा लगता है पर उसे पैदा करना पसन्द नहीं है।

इनके अलावा इन संस्थाओं की सहायता से चलाए गए और सब प्रोजेक्ट बहुत सफल हुए हैं, जिन पर वे हमेशा खुशी ज़ाहिर करते रहे हैं।

औद्योगिक रूप से विकसित देशों के द्वारा संसार की सहायता के इन अनुभवों से मेरा यह मौलिक विश्वास, जिसे मैं 'वैश्विक दायित्व' का नाम देता हूँ, पुष्ट हुआ है। मेरी दृष्टि में यही समग्र मानव विकास की कुंजी है। वैश्विक दायित्व की भावना के बिना दुनिया का असमान विकास ही होगा। जितने ज़्यादा लोग यह मानने लगेंगे कि इस पृथ्वी पर हम अकेले ही नहीं रहते—कि हम सब एक-दूसरे के भाई और बहन हैं—उतना ही ज़्यादा इस पूरी मानवता का, उसके अलग-अलग टुकड़ों का नहीं, विकास होगा।

शरणार्थियों की सहायता के लिए विदेशों से अनेक लोग आए और इसी में अपना जीवन लगा दिया। उनमें पोलेंड के यहूदी, मारिस फ्रीडमान, एक थे। मैं उनसे पहली बार सन् 1956 में मिला, उनके साथ उनकी एक पोलिश चित्रकार मित्र, उमादेवी, भी थीं। वे दोनों—अलग-अलग—भारतीय जीवन का अध्ययन करने के लिए इस उपमहाद्वीप में बस गए थे। जब हम निर्वासन में भारत आए, तो सबसे पहले उन्होंने अपनी सेवाएँ अर्पित कीं।

फ्रीडमान काफी वृद्ध हो चुके थे और उनका स्वास्थ्य भी कमज़ोर था। उनकी कमर हमेशा झुकी रहती थी और आँखों पर मोटा चश्मा चढ़ा रहता था, लेकिन उनकी नीली आँखों में एक तेज़ चमक थी और दिमाग बहुत चुस्त था। कई दफ़ा उनसे परेशानी भी होती थी, क्योंकि वे ऐसी योजनाओं पर अड़ जाते थे जिन्हें कर पाना असम्भव होता था। लेकिन कई विषयों पर, जैसे बाल-गृहों की स्थापना पर, उनकी राय अनमोल होती थी। फ्रीडमान की अपेक्षा उमा देवी ज्यादा आध्यात्मिक थीं, हालाँकि उन्हीं की तरह वृद्ध थीं, उन्होंने अपना सारा जीवन तिब्बतियों की सेवा में लगा दिया।

दूसरे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे मि. लूथी, जो स्विस रेड क्रास के लिए काम करते थे। तिब्बती उन्हें 'पाला' कहते थे—यानी पापा—शक्ति तथा उत्साह उनमें कूट-कूट

कर भरे थे, अद्‌भुत नेता, जो लोगों से कड़ी मेहनत कराते थे। स्वभाव से आराम-पसन्द तिब्बत के लोग उनके काम करने और कराने के ढंग से काफी परेशान रहते थे और उनकी शिकायतें भी करते थे, लेकिन सच्चाई यह है कि वे उन्हें चाहते भी बहुत थे। मैं उन्हें हमेशा याद करता हूँ, और उनकी तरह के उन दूसरे लोगों की भी, जिन्होंने बड़े निस्वार्थ भाव और परिश्रम से तिब्बतियों की सेवा की।

हम तिब्बती शरणार्थियों के लिए सन् 1962 का भारत-चीन युद्ध एक महत्त्वपूर्ण घटना की। जब युद्ध आरम्भ हुआ, मैं बहुत दुखी था, जो स्वाभाविक ही था, लेकिन इसमें भय भी सम्मिलित था। उस समय पुनर्वास का कार्य चल ही रहा था। कई सड़क-शिविर लड़ाई के स्थानों के पास ही थे, जैसे लद्दाख और नेफ़ा में, और इन्हें बंद कर देना पड़ा। इस तरह मेरे बहुत से लोग दूसरी दफ़ा शरणार्थी हो गए। हमें यह देखकर भी बहुत दुख होता था कि हमारी ही भूमि तिब्बत में चीनी सैनिक हमारे रक्षक भारतीयों को अपमानित कर रहे थे।

अच्छी बात यह हुई कि लड़ाई ज्यादा दिन नहीं चली, हालाँकि दोनों ओर काफ़ी लोग मरे, लाभ किसी का कुछ नहीं हुआ। चीन के सम्बन्ध में अपनी नीति के बारे में नेहरू जी ने कहा कि 'हम अब तक खुद अपने बनाए मूर्खों के स्वर्ग में रह रहे थे।' उन्होंने आजीवन स्वतन्त्र एशिया का सपना देखा था जिसमें प्रत्येक देश मैत्री भाव से रह सकेगा। और अब पंचशील का सिद्धान्त जिस पर एक दशक पूर्व उन्होंने हस्ताक्षर किए थे और जिसकी स्थापना के लिए इस महामानव ने अपना सर्वस्व दाँव पर लगा दिया था, एक खाली बर्तन ही साबित हुआ था।

मैं सन् 1964 में उनके देहान्त के समय तक नेहरू जी के सीधे सम्पर्क में रहा। वह तिब्बती शरणार्थियों के जीवन में, विशेषकर बच्चों की शिक्षा में, जिसे वे इस स्थिति में सबसे महत्त्वपूर्ण मानते थे, गहरी रुचि लेते रहे। कई लोगों का मत है कि भारत-चीन युद्ध ने उनका दिल तोड़ दिया। मैं उनसे सहमत हूँ। उस वर्ष मैं मई मास में अन्तिम बार उनसे मिलने गया। जब उनके कमरे में घुसा, पाया कि वे गहरी मनोव्यथा से गुज़र रहे थे। अभी उन पर दौरा भी पड़ा था और वे बड़े कमज़ोर तथा निढाल नज़र आ रहे थे। उन्हें तकियों के सहारे आरामकुर्सी पर बिठाया गया था। उन्हें शारीरिक कष्ट भी कम नहीं था। हमारी भेंट संक्षिप्त रही और मैं भारी मन लिए वापस लौटा।

उसी दिन शाम वे देहरादून के लिए रवाना हुए और मैं विदाई देने हवाई अड्डे गया। यहाँ उनकी बेटी इन्दिरा गाँधी दिखाई दीं, जिन्हें मैं उस समय से जानता आया था जब सन् 1954 में वे अपने पिता के साथ बीजिंग गई थीं (पहले मैं उन्हें इनकी

पत्नी समझता था)। मैंने उनसे कहा कि उनके पिता को इस अवस्था में देखकर मैं कितना दुखी हूँ; मैंने यह भी कहा कि शायद मैं उन्हें अन्तिम बार देख रहा हूँ।

मेरी बात सही सिद्ध हुई क्योंकि एक सप्ताह के भीतर उनका निधन हो गया। दुर्भाग्य से, मैं उनके दाह-संस्कार में सम्मिलित न हो सका। जब उनकी अस्थियाँ विसर्जन के लिए इलाहाबाद की त्रिवेणी पर ले जाई गईं, तब मैं वहाँ उपस्थित रहा। यह मेरे लिए बड़े सम्मान की बात थी क्योंकि इससे मुझमें उनके परिवार के समीप होने की भावना उत्पन्न हुई। वहाँ इन्दिरा मुझे दिखाई दीं। अनुष्ठान के कुछ समय बाद वे मेरे पास आईं और सीधे मेरी आँखों में देखते हुए बोलीं, 'आप जानते थे!'

10

भिक्षु-वेश में भेड़िया

सन् 1964 में ही सेरिंग डोलमा का भी देहान्त हो गया। मेरी छोटी बहन जेतसुन पेमा ने उसका काम सँभाल लिया; उसमें भी वही साहस तथा दृढ़ता की भावना थी। आज यह नर्सरी धर्मशाला के तिब्बेतन चिल्ड्रेन्स विलेज में फल-फूल रही है।

सभी तिब्बती बस्तियों में इस बाल-ग्राम की शाखाएँ हैं, जिनमें कुल मिलाकर छह हज़ार बच्चे पढ़ रहे हैं, और धर्मशाला में ही डेढ़ हज़ार हैं। यद्यपि आरम्भ में इसका सारा व्यय भारत सरकार ने ही किया, अब इसका अधिकांश एस.ओ.एस. इन्टरनेशनल संस्था द्वारा किया जा रहा है। तीन दशक बाद इसके सुखद परिणाम दिखाई देने लगे—दो हज़ार से अधिक बच्चे उच्च शिक्षा संस्थानों से, अधिकतर भारतीय शिक्षा संस्थानों से और कई पश्चिमी देशों से भी, स्नातक बनकर निकल चुके थे। मैंने भी इनकी शिक्षा पर पूरा ध्यान देने का प्रयत्न किया है, क्योंकि नेहरू जी के अनुसार ये बच्चे ही हमारी सबसे मूल्यवान निधि हैं।

शुरू के दिनों में स्कूल टूटी-फूटी इमारतों से ज़्यादा कुछ नहीं थे जहाँ भारतीय अध्यापक तरह-तरह के बच्चों को पढ़ाते थे। अब हमारे पास प्रशिक्षित तिब्बती अध्यापकों का एक बड़ा दल है। बहुत-से भारतीय उच्च शिक्षाधिकारी इस कार्य में लगे हैं। इन सब स्त्री-पुरुषों को, तथा उनके सब पूर्ववर्ती शिक्षकों को मैं धन्यवाद देता हूँ। इन सब लोगों के प्रति, जिन्होंने बड़ी साधारण परिस्थितियों में और बड़ी दूर के प्रदेशों में बड़ी लगन से इस कार्य को आगे बढ़ाया, मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता किस प्रकार व्यक्त करूँ, समझ नहीं पा रहा।

इसका दूसरा नकारात्मक पक्ष यह भी है, कि बहुत-से बच्चे, विशेषकर लड़कियाँ, अपनी शिक्षा पूरी नहीं कर पाते। इसका कारण कई दफ़ा उनकी अपनी ही अरुचि होती है, और कई दफ़ा उनके माता-पिता में दूरदृष्टि का अभाव। मुझे जब कभी अवसर मिला, मैंने माता-पिताओं को यह समझाने की कोशिश की है कि उन्हें अपने बच्चों के छोटे-छोटे हाथों का उपयोग अपने छोटे-छोटे कामों के लिए नहीं करना चाहिए। इससे यह खतरा पैदा होता है कि वे अर्ध-शिक्षित रह जाते हैं और ज़िन्दगी के रंग-बिरंगे अवसर सामने आने पर उनकी तरफ़ आकर्षित तो होते हैं, परन्तु पूरी

शिक्षा के अभाव में उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते। इससे असन्तोष के साथ-साथ लालच भी उत्पन्न होता है।

पंडित नेहरू के बाद लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री बने। वे तीन वर्ष से कम ही इस पद पर रहे, लेकिन मैं उनसे कई बार मिला और उनके प्रति मेरे मन में गहरा आदर भाव जाग्रत हुआ। नेहरू जी की तरह वे भी तिब्बती शरणार्थियों को बहुत चाहते थे, और नेहरू जी से अधिक वे हमारे राजनीतिक मित्र थे।

सन् 1965 की शरद ऋतु में संयुक्त राष्ट्रसंघ में तिब्बत पर पुनः चर्चा हुई। यह प्रस्ताव थाइलैंड, फिलिपीन्स, माल्टा, आयरलैंड, मलयेशिया, निकारागुआ और अल-साल्वाडोर ने प्रस्तुत किया था। इस अवसर पर शास्त्री जी के आग्रह पर भारत ने तिब्बत के पक्ष में मतदान किया। उनके शासन-काल में यह लगने लगा था कि भारत सरकार निर्वासन में तिब्बत की सरकार को मान्यता दे देगी। लेकिन दुर्भाग्य से वे ज़्यादा दिन जीवित नहीं रहे। इस बीच भारत को दोबारा, इस बार पाकिस्तान के साथ, युद्ध में उलझना पड़ा। 1 सितम्बर 1965 के दिन युद्ध आरम्भ हो गया।

चूँकि धर्मशाला भारत-पाक सीमा से सौ मील से भी कम दूरी पर है, इसलिए मुझे युद्ध के त्रासद परिणामों को समीप से देखने का अवसर मिला। युद्ध शुरू होने के कुछ ही समय बाद मैं दक्षिण स्थित बस्तियों में से एक को देखने के लिए निकला। रात का समय था और युद्ध के कारण ब्लैक आउट था। इस घनघोर अंधकार में हमें तीन घंटे तक बिना हेडलाइट जलाए पठानकोट स्टेशन तक का सफर तय करना पड़ा। सड़क पर हमारे अलावा मिलिट्री ही दिखाई देती थी, और रास्ते भर मैं यह सोचता रहा कि यह कितने अफसोस की स्थिति है जिसमें सामान्य नागरिकों को तो छिपकर रहना पड़ रहा है और रक्षकों को बाहर रहने का आदेश दिया गया है। जबकि सच्चाई यही है—कि ये भी मेरे ही समान मनुष्य है।

जब काफी कठिनाई के बाद हम स्टेशन पहुँचे, तब मुझे पास ही स्थित पठानकोट हवाई अड्डे पर बमबारी की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। फिर कुछ देर बाद कई जेट विमान हमारे सिरों के ऊपर से चीखते हुए गुज़रे और इसके कुछ ही क्षण बाद एंटी-एयर क्रॉफ्ट गनों की ज़बरदस्त धड़-धड़-धड़ सुनाई देने लगी। शोर इतना ज़्यादा था कि मैं बहुत डर गया—हालाँकि मुझे यह बताते हुए खुशी है कि इसमें और लोग भी मेरे साथ शामिल थे। उस रात मेरी ट्रेन जितनी तेज़ी से स्टेशन से भागी, उतनी तेज़ गाड़ी पर मैं पहले कभी नहीं चढ़ा था।

दक्षिण पहुँचकर मैं सबसे पहले बायलाकुप्पे गया, जो यहाँ की पहली निर्वासित तिब्बतियों की बस्ती थी। मैं 10 सितम्बर को यहाँ पहुँचा, अब यहाँ बत्तीस सौ लोग रह रहे थे। स्थायी घर बनने शुरू हो गए थे, हर इमारत ईंटों की बन रही थी जिनके

ऊपर स्थानीय टाइलों की छतें थीं, और कुओं की खुदाई तथा पेड़ों की कटाई का काम पूरा हो रहा था। योजना के अनुसार खेती का काम शुरू होने जा रहा था। हर व्यक्ति को एक एकड़ ज़मीन का कानूनी पट्टा दे दिया गया था, यद्यपि कृषि का कार्य सहकारी ढंग से किया जा रहा था, और हर घर में थोड़ी-सी ज़मीन फल और सब्ज़ियाँ उगाने के लिए भी सुरक्षित छोड़ दी गई थी। मुख्य फसलें तीन थीं—चावल, मक्का और रागी (जौ)। यह प्रगति देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और सकारात्मक दृष्टिकोण तथा निश्चय की शक्ति में मेरा विश्वास दृढ़ हो गया।

कुल मिलाकर स्थिति में बहुत सुधार नज़र आ रहा था। अब मुझे निराशा की सतह पर खड़े लोगों को ढाढ़स बँधाने की ज़रूरत नहीं होती थी। मुझे किसी से भावी समृद्धि के वादे न करने पड़ते थे—जिन पर मुझे स्वयं भी विश्वास कर पाना कठिन होता था। फिर भी, यद्यपि अब यह स्पष्ट था कि उनकी दृढ़ता के परिणाम दिखाई देने शुरू हो गये हैं, अभी भी उनका जीवन अत्यन्त कठिन था।

आरम्भ के दिनों में भारत सरकार के साथ पुनर्वास की योजनाएँ बनाते समय हमें आशा थी कि पाँच वर्षों में शरणार्थी आत्मनिर्भर हो जाएँगे। इसके बाद, हम चाहते थे कि कृषि का उत्पादन बढ़ाकर और उसे सरकार को बेचकर भारत की अर्थव्यवस्था में भी कुछ योगदान करें। लेकिन उस समय हम यह बात बिल्कुल नहीं समझ पाए कि हमारे लोग इन कामों में प्रशिक्षित नहीं हैं। जो लोग खेतों में काम करते थे, उनमें से बहुत कम को कृषि का कोई ज्ञान था। पुराने व्यापारी, भिक्षु, सिपाही, बंजारे और साधारण ग्रामीण, जिनमें से किसी को खेती करना नहीं आता था, बिना सोचे-समझे इस काम में लगा दिए गए थे। फिर, तिब्बत के पहाड़ी प्रदेशों में कृषि की स्थितियाँ भी एकदम भिन्न हैं। इसलिए जो लोग कुछ जानते भी थे, उन्हें भी यहाँ खेती के नियमों को नए सिरे से सीखना पड़ा—जैसे बैलों को कैसे जोता जाता है और ट्रैक्टरों को कैसे चलाया और सँभालकर रखा जाता है। इसलिए, अब पाँच वर्ष बाद भी शिविरों की दशा काफी दयनीय थी।

फिर भी, आज जब मैं पीछे की तरफ नज़र डालता हूँ तो पाता हूँ कि साठ के दशक का मध्य तिब्बती पुनर्वास योजना का उच्च बिन्दु था, जब भूमि को काटने और साफ़ करने का अधिकांश कार्य पूरा हो चुका था, अधिकांश शरणार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास तथा अन्य संस्थाओं की कृपा से आवश्यक चिकित्सा-सुविधाएँ प्राप्त होने लगी थीं, और कृषि यन्त्र भी आ गए थे जो इस समय बिल्कुल नए थे—लेकिन आज जो काफ़ी पुराने पड़ गए हैं और जिन्हें अब बदले जाने की ज़रूरत है।

सन् 1965 में इस समय मैं बायलाकुप्पे में हफ्ता-दस दिन रहा, जिसके बाद मैं सड़क मार्ग से मैसूर, ऊटामकंड और मद्रास (अब चेन्नई) गया, और फिर वहाँ से केरल की राजधानी तिरुवनंतपुरम गया—केरल भारत का सबसे अधिक साक्षर राज्य है। वहाँ मैं राज्यपाल के साथ ठहरा। अन्त में मुझे वहाँ कई हफ्ते ठहरना पड़ा

क्योंकि उत्तर भारत में युद्ध तेज़ी पकड़ता जा रहा था; धर्मशाला पर दो बम गिर चुके थे। लेकिन, मेरा यह समय बर्बाद नहीं गया।

हुआ यह कि राजभवन में मेरे कमरे के बिलकुल सामने रसोई घर था। एक दिन मैंने देखा कि उसमें एक मुर्गा गर्दन मरोड़कर मारा जा रहा है, जिसे बाद में दोपहर के खाने में हमें परोसा गया। मैं सोचने लगा कि इससे बेचारे जीव को कितना कष्ट हुआ होगा, और मुझे पश्चात्ताप होने लगा। मैंने निश्चय किया कि अब मुझे माँसाहार छोड़ देना चाहिए, मेरे निरामिषभोजी होने का समय आ गया है। जैसा मैं पहले बता चुका हूँ, तिब्बत के लोग नियम के तौर पर शाकाहारी नहीं होते, क्योंकि उस प्रदेश में सब्ज़ियाँ आसानी से प्राप्त नहीं होतीं और माँसाहार आवश्यक हो जाता है। फिर भी, कुछ महायान धर्मग्रन्थों के अनुसार, भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए शाकाहारी होना अनिवार्य है।

अपने निश्चय को स्वरूप देने के लिए, मैंने अपना भोजन मँगवाया और उसे बड़े ध्यानपूर्वक देखा। चिकन अंग्रेज़ी ढंग से पकाया गया था, प्याज़ और रसे से भरपूर, खुशबू ज़ोरदार। लेकिन मुझे उसे वापस करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इस घटना के बाद मैंने शाकाहार के नियम का सख्ती से पालन किया और कुछ समय बाद मछली और अंडे खाना भी छोड़ दिया।

यह नया आचार मेरे बिलकुल उपयुक्त सिद्ध हुआ और मुझे सन्तोष भी हुआ। इसका सख्ती से पालन करके मुझे एक पूर्णता का भाव भी महसूस होने लगा। सन् 1954 में अपनी बीजिंग यात्रा के समय मैंने एक भोज में चाऊ एन-लाइ तथा एक अतिथि के साथ इस विषय पर चर्चा की थी। यह अतिथि स्वयं को शाकाहारी कहता था लेकिन अंडे खाता था। मैंने इसे ग़लत बताया था और तर्क यह दिया था कि चूँकि मुर्गी अंडे से ही निकलती है, इसलिए अंडे को शाकाहारी भोजन नहीं माना जा सकता। इस पर हमारी बहस छिड़ गई—फिर चाऊ एन-लाइ ने कूटनीति से इसे समाप्त कराया।

10 जनवरी 1966 को पाकिस्तान से भारत का युद्ध समाप्त हो गया। लेकिन इस सुसमाचार के साथ एक कुसमाचार भी आया : प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री की ताशकंद में जहाँ वे पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खाँ से शान्ति-वार्ता करने गए थे, मृत्यु हो गई। शान्ति-समझौते पर हस्ताक्षर करने के कुछ ही घंटे बाद उनको दिल का दौरा पड़ गया।

लालबहादुर शास्त्री ने मेरे दिल और दिमाग़ पर एक गहरा असर छोड़ा है, क्योंकि यद्यपि वे बहुत छोटे क़द के, कमज़ोर और अति साधारण लगने वाले व्यक्ति थे, उनका मस्तिष्क तथा आत्मा बड़ी बलवती थी। वे अद्वितीय नेता थे। अन्य बहुत

से बड़े-बड़े पदों पर बैठे लोगों के विपरीत वे साहसी थे और निर्णय लेने में देर नहीं करते थे; वे घटनाओं को दिशा देते थे, उनके अधीन नहीं चलते थे।

मुझे उनके दाह-संस्कार में निमन्त्रित किया गया, और तिरुवनंतपुरम से घर वापस लौटते समय मैं उसमें सम्मिलित हुआ। यह दुख का अवसर था, विशेष रूप से इसलिए कि मैंने जीवन में पहली बार किसी का शव समीप से देखा—यद्यपि बौद्ध होने के नाते मुझे प्रतिदिन मृत्यु का ध्यान करना पड़ता है। दाह के लिए निर्मित शय्या पर पड़े उनके निर्जीव शरीर को देखते हुए मैं उनसे हुई बहुत-सी छोटी-बड़ी बातें याद करता रहा। उन्होंने मुझे अपनी अनेक व्यक्तिगत बातें भी बताई थीं, जैसे कि वे कट्टर शाकाहारी थे—क्योंकि स्कूल के दिनों में उन्होंने एक घायल कबूतर को इतना इधर-उधर उड़ाया कि वह मर ही गया। इस घटना से वे इतने आतंकित हुए कि उन्होंने जीवन में किसी जीवित प्राणी का माँस न खाने का प्रण ले लिया। इसलिए उनके निधन से भारत ने न केवल अपना एक सर्वोत्तम राजनीतिज्ञ, दुनिया ने एक जागरूक नेता खोया, बल्कि मानवता ने एक सच्ची करुणामय आत्मा ही खो दी।

दिवंगत प्रधानमंत्री को अपनी अन्तिम श्रद्धा अर्पित करने के बाद मैं धर्मशाला लौट आया, लेकिन इस बीच दिल्ली के सब अस्पतालों में युद्ध में घायल सैनिकों से भी मिला। इनमें से ज़्यादातर लोग अफसर थे। वे पीड़ा से कराह रहे थे और देखने से ही लगता था कि बड़ी तकलीफ़ों से गुज़र रहे हैं। बिस्तरों की इन क़तारों से गुज़रते हुए, जहाँ घायलों के परिवार वाले भी रोते-बिलखते उनकी सेवा में लगे हुए थे, मैं सोचता रहा कि अपार कष्ट ही युद्धों का परिणाम होता है। संघर्ष से जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान शान्तिपूर्ण उपायों से भी किया जा सकता है। यह सोचना कि घायलों को इन अस्पतालों में जो चिकित्सा तथा सुविधाएँ मिल रही हैं, उससे वे बहुत सारे लोग, जो यहाँ नहीं पहुँच पाए, बिल्कुल वंचित रह गए होंगे, मुझे ज़्यादा सन्तोष नहीं दे पा रहा था।

दो सप्ताह बाद इन्दिरा गाँधी ने भारत के प्रधानमंत्री पद की शपथ ली। चूँकि मैं जब भी उनके पिता से मिलने जाता था, हमेशा उन्हें देखता और उनसे बातचीत करता था, इसलिए मैं उनसे काफी निकटता का अनुभव करता था। मैं यह भी कह सकता हूँ कि वे भी मुझसे निकटता अनुभव करती थीं। एक दफा से ज़्यादा उन्होंने मुझे अपनी परेशानियाँ और उन लोगों के बारे में बताया जो उनके लिए कठिनाइयाँ पैदा करते हैं। जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं अपने को उनके इतने समीप समझने लगा था कि एक बार, उनके पहले कार्यकाल के अन्त में, उन्हें यह सलाह दे डाली कि अच्छे नेता के लिए यह आवश्यक है कि वह सामान्य जनता से अपना सम्पर्क बना कर रखे।

मैंने बहुत कम उम्र में यह सीख लिया था कि जो व्यक्ति नेतृत्व करना चाहता है, उसे जनता से जुड़कर रहना चाहिए, नहीं तो परामर्शदाताओं और अधिकारियों

और आपके इर्द-गिर्द घूमने वालों के लिए यह बहुत आसान हो जाता है कि वे अपने हित-साधन के लिए, आपको सच्चाई की स्पष्ट जानकारी न होने दें।

भारत के पिछले प्रधानमंत्रियों के अलावा मैं इन्दिरा गाँधी का भी तिब्बती शरणार्थियों में इतनी अधिक रुचि लेने के लिए अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मसूरी में बनी तिब्बतन होम फाउंडेशन की वे आरम्भ से ही सदस्या रहीं और शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने हमारी विशेष सहायता की। अपने पिता की ही तरह वे बच्चों की शिक्षा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानती थीं। यद्यपि इमरजेन्सी के दिनों में लोगों ने उनके विरुद्ध बड़ी कठोर भाषा का प्रयोग किया, उन्हें तानाशाह तक कहकर पुकारा, लेकिन मार्च 1977 में जब जनता ने उनके ख़िलाफ़ मतदान किया, तब उन्होंने बड़ी गरिमा से पद त्याग कर दिया। मेरे लिए यह लोकतन्त्री आचरण का अद्‌भुत उदाहरण था, क्योंकि उस समय यद्यपि संसद के भीतर तथा बाहर ज़बरदस्त संकट चल रहा था, समय आने पर उन्होंने बिना शोर मचाए पद छोड़ दिया। मुझे याद है कि राष्ट्रपति निक्सन के समय भी यही हुआ था। नहीं तो नेतृत्व-परिवर्तन का मतलब खून बहाने से लिया जाता है। सुसभ्य देश का यही लक्षण है कि इसमें व्यक्तिगत हित के ऊपर संसदीय प्रणाली को महत्त्व दिया जाता है।

इस समय पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना की घरेलू राजनीति की तस्वीर एकदम भिन्न थी। साठवें दशक के मध्य से 1976 में माओ के देहान्त तक चीन तथा उसके उपनिवेशों में लगातार खूनी संघर्ष होते रहे। सांस्कृतिक क्रान्ति के दुष्परिणाम अनेक वर्षों के बाद सामने आने शुरू हुए। तब पता चला कि यह समय निरुद्देश्य पागलपन का काल था, और माओ की पत्नी, चियांग चिंग का व्यवहार तो महारानी के समान था। यह सब देखकर ही मुझे अनुभव हुआ कि कम्युनिस्ट नेता, जिन्हें मैं अब तक एक दिमाग़ और अनेक शरीरों का समझता था, वास्तव में एक-दूसरे के खून के प्यासे हो रहे थे।

उस समय घटनाओं का सही अन्दाज़ लगा पाना भी सम्भव नहीं था। मैं और दूसरे तिब्बती यह तो जानते थे कि देश में भयंकर घटनाएँ घट रही हैं, लेकिन सम्पर्क एकदम समाप्त हो गए थे। समाचारों के एकमात्र साधन वे छिटपुट नेपाली व्यापारी थे जिन्हें कभी-कभी सीमा के भीतर जाने का अवसर मिल जाता था। फिर जो सूचनाएँ उनसे प्राप्त होतीं वे बड़ी साधारण और पुरानी होती थीं। मिसाल के लिए, सन् 1969 में तिब्बत के विभिन्न प्रदेशों में जो व्यापक विद्रोह हुआ, उसकी जानकारी मुझे पूरे एक साल बाद मिली। कुछ लोगों के अनुसार इस विद्रोह में सन् 1959 में हुए विद्रोह से कहीं ज़्यादा लोगों की मृत्यु हुई थी।

अब हमें पता है कि ऐसे कई संघर्ष तिब्बत में समय-समय पर होते रहे। इस समय बीजिंग स्थित नेताओं से मेरा कोई सम्पर्क नहीं रहा था, और वे मुझे 'भिक्षु-वेश में भेड़िया' कहने लगे थे। मैं चीनी नेताओं के आक्रोश का शिकार हो गया था और

वे ल्हासा में प्रचार करने लगे थे कि मैं सिर्फ नाम का धर्मनेता हूँ। सच्चाई यह है कि चीनी मुझे चोर, हत्यारा और बलात्कारी तक बताते थे। उन्होंने यह भी बताया कि मैं श्रीमती गाँधी को कुछ बहुत आश्चर्यजनक सेक्स सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करता हूँ!

इस तरह करीब पन्द्रह साल तक तिब्बती शरणार्थी अंधकार युग में पड़े रहे। जब हम निर्वासन में भारत आए थे उस समय से अब वापस जाने की सम्भावनाएँ बहुत दूर प्रतीत होने लगी थीं। लेकिन जिस प्रकार रात का समय मनुष्य के लिए नवीकरण का समय होता है, उसी तरह इन वर्षों में पुनर्वास की योजना सफलतापूर्वक लागू होने लगी। धीरे-धीरे सड़क-शिविरों से शरणार्थी हटाकर देश के विभिन्न स्थानों में बनी इन बस्तियों में स्थानान्तरित कर दिए गए। कुछ शरणार्थियों ने भारत छोड़कर अन्य देशों में भी छोटी-छोटी बस्तियाँ बसाकर रहना शुरू कर दिया। यह पुस्तक लिखते समय तक 1200 लोग कनाडा तथा अमेरिका में—दोनों देशों में करीब-करीब बराबर, 2000 स्विट्ज़रलैंड में, 100 ग्रेट ब्रिटेन में और थोड़े-थोड़े यूरोप के हर देश में, एक युवा परिवार आयरलैंड में भी, रह रहे हैं।

पुनर्वास की इस दूसरी लहर को देखते हुए निर्वासन में तिब्बत सरकार ने विदेशों में भी अपने कुछ कार्यालय खोल दिए हैं। पहला कार्यालय काठमांडू में खोला, दूसरा न्यूयार्क में, फिर ज्यूरिख, टोकियो, लन्दन और वाशिंगटन में खोले गए। ये कार्यालय उन देशों में तिब्बतियों के हित का ध्यान रखने के अलावा अपने देश की संस्कृति, इतिहास और कला के बारे में भी जानकारी देने का प्रयत्न करते हैं।

सन् 1968 में मैंने अपने आठ साल के घर, 'स्वर्ग आश्रम', से ब्रिन कॉटेज नामक एक छोटे-से घर में चले जाने की योजना बनाई। यह इमारत पिछली से ज़्यादा बड़ी नहीं थी लेकिन यहाँ सुविधा यह थी कि इसमें एक नया बना अहाता था जिसमें प्राइवेट ऑफिस और इंडियन सिक्योरिटी ऑफिस के अलावा मेरे लिए भी ऑफिस और मेरे लोगों से मिलने के लिए भी अलग कमरे थे। अब तक निर्वासन में तिब्बत सरकार एक काफ़ी बड़ी संस्था बन गई थी जिसके सैकड़ों कर्मचारी थे और उनके कार्यालयों की व्यवस्था भी आसपास ही कर दी गई थी। जब यह पुनर्गठन चल रहा था, मेरी माँ भी एक नए, कश्मीर कॉटेज नामक मकान में रहने चली गई थी—हालाँकि शुरू में उसने इस पर एतराज़ भी किया था—और अब मैं सच्चे मायनों में भिक्षु का जीवन बिताने के लिए अकेला रह गया था।

ब्रिन कॉटेज में रहना शुरू करने के कुछ समय बाद मैंने नामग्याल मठ की पुनर्स्थापना का विचार आरम्भ कर दिया—इसके भिक्षु स्वर्ग आश्रम से ऊपर बने एक छोटे-से मकान में रहते थे। अब यह मेरे निवास से कुछ ही दूर बनी एक इमारत में है। इसके कुछ समय बाद, सन् 1970 में, सुग्लाखांग नामक एक नये मन्दिर का कार्य भी पूरा हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि अब मैं तिब्बती पंचांग के अनुसार सभी धार्मिक अनुष्ठान विधिपूर्वक सम्पन्न कर सकता था। आज नामग्याल के भवनों

से लगा एक बौद्ध तर्कशास्त्र का स्कूल भी बन गया है जिसमें हमारी वाद-विवाद शैली का प्रशिक्षण दिया जाने लगा है। अब शाम के समय मन्दिर के बाहर मैदान में पीले कपड़े पहने युवा भिक्षु तालियाँ बजाकर सिर हिलाते और हँसते हुए परीक्षा के लिए इसका अभ्यास करते हुए देखे जा सकते हैं।

सन् 1963 में मैंने सब धार्मिक परम्पराओं तथा बॉन धर्म सभा के प्रतिनिधियों की एक बैठक आयोजित की थी। हमने अपनी सबकी समस्याओं और उन्हें हल करने के उपायों तथा तिब्बती बौद्ध संस्कृति के सभी पक्षों की सुरक्षा तथा प्रसार पर चर्चा की थी। कई दिन की बातचीत के बाद यह निष्कर्ष निकलकर आया कि यदि हम आवश्यक सुविधाएँ जुटा सकें तो हमारा धर्म जीवित रहेगा। इसलिए अपने मठ की स्थापना के तुरन्त बाद मैंने दक्षिण भारत के राज्य कर्नाटक में गान्देन, द्रेपुंग और सेरा मठों की पुनर्स्थापना की, इनमें बक्सा दुआर से आए 1300 भिक्षु रहने लगे।

अपने निर्वासन का चौथा दशक आरम्भ करते समय भिक्षुओं की कुल संख्या छह हज़ार को पार कर गई थी। मैं तो इस संख्या को ज़्यादा ही मानता हूँ क्योंकि धर्म में संख्या नहीं, गुण तथा समर्पण का महत्त्व है।

साठ के दशक के अन्त में एक और महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य का आरम्भ किया गया, *लायब्रेरी ऑफ़ तिब्बेतन वर्क्स एण्ड आर्काइव्स* की शुरुआत। जिसमें अब चालीस हज़ार से अधिक तिब्बती भाषा के प्राचीन ग्रन्थ हैं; इसने अंग्रेज़ी तथा तिब्बती दोनों भाषाओं में नए ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य भी आरम्भ किया। सन् 1990 में इसने अंग्रेज़ी की 200वीं पुस्तक प्रकाशित की। लायब्रेरी की इमारत तिब्बती शैली में बनाई गई है और पुस्तकों के अलावा इसमें एक संग्रहालय भी है, जिसमें शरणार्थियों द्वारा लाई हुई प्राचीन वस्तुओं का अच्छा संकलन है। ये लोग जो वस्तुएँ अपने साथ लाए, उनमें ज़्यादातर, यांका, धर्मग्रन्थ तथा कलात्मक वस्तुएँ थीं। ये सब परम्परा के अनुसार दलाई लामा को भेंट दी गईं और मैंने इन्हें इन संस्थाओं को सौंप दिया।

ब्रिन कॉटेज में आने के तुरन्त पहले मैं काफ़ी बीमार पड़ गया और कई हफ्ते बीमार रहा। सन् 1966 के आरम्भ में धर्मशाला वापस आने पर—इस समय भारत-पाक युद्ध समाप्त हो चुका था—मैंने बड़े उत्साह से शाकाहारी भोजन लेना शुरू कर दिया था। दुर्भाग्य से तिब्बती पाक कला में माँस के बिना बहुत कम वस्तुएँ बनाई जाती हैं, इसलिए रसोइयों को ऐसा शाकाहारी भोजन बनाने में, जो स्वादिष्ट भी हो, काफ़ी परिश्रम करना पड़ा। लेकिन अन्त में उन्होंने सफलता प्राप्त की और अच्छा शाकाहारी भोजन बनाना सीख गए। मुझे वह अच्छा भी लगने लगा। लेकिन कई भारतीय मित्रों

ने मुझसे कहना शुरू किया कि अब मुझे दूध और मेवे ज़्यादा खाना चाहिए—और मैंने भरपूर उनकी सलाह का पालन किया। नतीजा यह हुआ कि मैं बीस महीने बाद बहुत तीव्र पीलिया रोग से ग्रस्त हो गया।

पहले दिन तो मुझे उल्टी ही होती रही। फिर दो-तीन हफ्ते के लिए मेरी भूख एकदम जवाब दे गई, और मैं बेहद अशक्त महसूस करने लगा। ज़रा सा हिलना-डुलना भी कठिन होने लगा। इसके अलावा मेरी चमड़ी एकदम पीली पड़ गई। मैं खुद बुद्ध लगने लगा। पहले लोग कहते थे कि सोने के पिंजड़े में दलाई लामा रहते हैं, अब मैं दलाई लामा खुद सोने का हो गया था।

धीरे-धीरे यह बीमारी, जिसे हेपाटाइटिस-बी कहते हैं, ठीक होने लगी, लेकिन इसे ठीक करने में मुझे बड़ी मात्रा में तिब्बती औषधियों का सेवन करना पड़ा—इसके बारे में मैं एक अगले अध्याय में लिखूँगा। अब मैंने फिर खाने-पीने में रुचि लेना शुरू किया, तो मेरे डाक्टरों ने आदेश दिया कि मैं कम चिकनी चीज़ें खाऊँ, मेवे और दूध लेना बहुत कम कर दूँ और माँस खाना फिर से आरम्भ कर दूँ। उन्हें डर था कि मेरा जिगर काफ़ी खराब हो गया है और मेरी ज़िन्दगी के साल भी अब शायद कम हो जाएँगे। जिन भारतीय डाक्टरों से मैंने सलाह ली, उनका भी यही मत था, इसलिए मैंने फिर अनिच्छापूर्वक माँस खाना शुरू कर दिया। अब मैं विशेष धार्मिक अवसरों को छोड़कर हमेशा माँस खाता हूँ, और जिन कई तिब्बतियों ने शाकाहार में मेरा अनुसरण किया था, वे भी मेरी ही जैसी दशा भुगतकर पुराने रास्ते पर वापस आ गए हैं।

शुरू से ही मैं अपने नए मकान में बहुत खुश रहा। स्वर्ग आश्रम की ही तरह यह भी पहले अंग्रेज़ों का निवास था और एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित था। इसके चारों ओर पेड़ों से घिरा एक छोटा सा बाग़ था। यहाँ से एक ओर धौलाधार पर्वत और दूसरी ओर घाटी, जिसमें धर्मशाला बसी है, दिखाई देती थी। सामने इतनी खुली जगह थी जिसमें हज़ार लोगों से मैं बातचीत कर सकूँ और बाग़ तो मेरा मुख्य आकर्षण था। मैंने इस पर एकदम काम शुरू कर दिया और फल तथा फूलों के बहुत से पेड़ लगाने शुरू किए। ये काम मैं अपने हाथों से खुद करता था क्योंकि बाग़बानी मुझे बहुत पसन्द है। दुर्भाग्य से, बहुत थोड़े, पेड़ पनपे और फल भी उनमें कड़वे ही निकले, लेकिन वहाँ तरह-तरह के पशु-पक्षी आते-जाते थे, जो मुझे बहुत अच्छे लगते थे।

बाग़बानी की अपेक्षा मुझे वन्य-जीवन का निरीक्षण ज़्यादा प्रिय है। इस उद्देश्य के लिए मैंने अपनी अध्ययन करने की खिड़की के सामने पक्षियों के लिए एक मेज़ रखी और इसके इर्द-गिर्द तारों से घेराबन्दी कर दी, जिससे बड़े खतरनाक पक्षी छोटे कोमल पक्षियों पर हमला न कर सकें—हालाँकि कई दफ़ा इतनी सुरक्षा पर्याप्त नहीं होती। अक्सर इन मोटे लालची डाकुओं को काबू में करने के लिए मुझे अपनी हवाई

बन्दूक का प्रयोग करना पड़ता, जो मैंने भारत आते ही प्राप्त कर ली थी। बचपन के दिनों में नोरबुलिंग्का में तेरहवें दलाई लामा की राइफ़ल चलाते रहने के कारण मैं अच्छा निशानेबाज़ हो गया हूँ। हाँ, इससे मैं किसी को मारता नहीं, सिर्फ एक सबक सिखाने के बाद उसे छोड़ देता हूँ।

ब्रिन कॉटेज में मेरे दिन हमेशा की तरह कटने लगे। सर्दियों के दिनों में मैं बस्तियों का दौरा करता और समय-समय पर प्रवचन करता। इसके साथ मैंने अपनी धर्म शिक्षा भी जारी रखी। पाश्चात्य सभ्यता के योगदानों, विशेषकर विज्ञान, ज्योतिष और दर्शन में भी मैंने रुचि लेनी शुरू की। इस सबके बाद जो खाली समय बचता, उसमें मैंने अपनी पुरानी हॉबी, फोटोग्राफी करना शुरू किया। तेरह-चौदह साल की उम्र में मुझे लँगड़े सेनशाप सेरकान रिन्पोचे की सहायता से यह प्राप्त हुआ था।

शुरू में मैं खींची हुई फिल्में फोटो बनाने के लिए उन्हीं को सौंप देता। वे इन्हें अपनी फिल्म बताकर—जिससे अगर मैंने किसी गलत चीज़ का फोटो खींचा हो तो लोगों की आलोचना न सुननी पड़े—उन्हें एक व्यापारी को दे आते। फिर भारत में उनकी धुलाई और छपाई होती। इस काम से उन्हें काफ़ी परेशानी होती थी, क्योंकि अगर मेरी तस्वीरें सही न होतीं तो ज़िम्मेदारी उन्हें लेनी पड़ती। इसलिए बाद में मैंने खुद नोरबुलिंग्का में इन्हें धोने के लिए अपना डार्करूम बना लिया और अपने एक अधिकारी, जिग्मे तारिंग से मैंने यह काम करना भी सीख लिया।

नये घर में आकर मैंने एक नई हॉबी शुरू की, घड़ियों को दुरुस्त करना। यहाँ काफी जगह होने के कारण मैंने एक कमरा इसी काम के लिए अलग कर लिया और उसमें सब ज़रूरी औज़ार भी इकट्ठे कर लिए। मुझे अच्छी तरह याद है कि मुझे दो कामों में सबसे अधिक रुचि थी : घड़ियों और मालाओं में, और तेरहवें दलाई लामा के भी यही गुण थे। जब मैं हम दोनों की दूसरी बातों की तुलना करता हूँ कि मैं उनका अवतार नहीं हो सकता, लेकिन जब इन दो बातों को समान पाता हूँ तो यह ठीक लगता है!

जब मैं बहुत छोटा था, तब अपने पूर्ववर्ती की जेबघड़ी साथ रखता था। लेकिन घड़ी लेने की मेरी इच्छा पहले से थी, हालाँकि दूसरे लोग इसके लिए मुझे मना करते थे। जब मैं इतना बड़ा हो गया कि सेरकान रिन्पोचे को अपनी घड़ी की ज़रूरत समझा सकूँ, तब मैंने उन्हें ल्हासा के बाज़ार से मेरे लिए एक रोलेक्स और एक ओमेगा घड़ियाँ लाने को कहा। आज यह भले ही अजीब लगे, लेकिन उन दिनों भी जब चीनी हमें सभ्यता सिखाने तिब्बत नहीं पहुँचे थे, ल्हासा में स्विस घड़ियाँ खरीदी जा सकती थीं। सच्चाई यह है कि ऐसी चीज़ें बहुत कम थीं जो यहाँ नहीं मिलती थीं, मारमाइट और इंग्लैंड के यार्डले साबुन और पिछले महीने की 'लाइफ़' पत्रिका का अंक भी यहाँ आसानी से उपलब्ध थे।

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि घड़ियों के साथ मैंने पहला काम यही किया कि उन्हें खोल डाला। लेकिन जब मैंने उनके बड़े बारीक पुर्ज़े देखे तो मुझे अपनी जल्दबाज़ी पर अफसोस हुआ। परन्तु उन्हें दोबारा सही जगह लगाने में भी मुझे देर नहीं लगी और मैं यह भी जान गया कि इन्हें कैसे तेज़ या सुस्त किया जाए। इसलिए जब मैंने इन्हें ठीक करने की पूरी दुकान बना ली, तो मुझे बड़ी खुशी हुई। मैंने परिवार और मित्रों की बहुत सी बिल्कुल बेकार पड़ी घड़ियाँ ठीक कर दीं और आज मैं ये औज़ार चुस्त-दुरुस्त रखना पसन्द करता हूँ, हालाँकि अब इस कार्य के लिए समय निकाल पाना आसान नहीं होता। फिर, यह भी है कि अब घड़ियों को खुरचे बिना खोलना सम्भव नहीं होता। इसलिए बहुत से लोगों की घड़ियाँ मैंने ठीक तो कर दीं लेकिन उनकी रंगत ज़रूर बिगड़ गई।

मैं यह कहूँ कि घड़ियों की आधुनिक बहुत-सी तकनीकों से मैं परिचित हूँ, हालाँकि डिजिटल मेरे बस से बाहर की चीज़ है। दो बार मैं इस काम में असफल भी हुआ। एक थी बहुत सुन्दर पातेक फिलिप्पी घड़ी जो राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने मुझे भेंट में भेजी थी। इसकी दूसरी सूई और तारीख़ की गतियाँ अलग-अलग थीं—और जिन घड़ीसाज़ों को मैंने इसे भेजा, वे भी इसे समझ नहीं पाए। कुछ साल पहले अपनी स्विट्ज़रलैंड यात्रा में जब मैं इसे इसकी निर्माता कम्पनी में खुद ले गया, तभी इसे ठीक किया जा सका। सौभाग्य से, जब मैंने ल्हासा छोड़ा, तब यह एक भारतीय घड़ीसाज़ के पास थी। दूसरी घड़ी मेरी सरकार के एक सदस्य की थी। मुझे यह बताते हुए अफसोस है कि मुझे इसे टूटी-फूटी दशा में लिफ़ाफ़े में रखकर वापस भेजना पड़ा।

अब मैं उन तीन बिल्लियों के बारे में बताऊँ जो भारत में मेरे साथ रहीं। पहली साठ के दशक के अन्त में मेरे परिवार में शामिल हुई। यह काले-सफेद, रंग की चित्तीदार बिल्ली थी, जिसे हम सेरिंग कहते थे, और इसमें कई गुण थे, जैसे दोस्ती। अपने परिवार में सम्मिलित होने वाले प्राणियों के लिए मेरे कोई नियम नहीं हैं, सिर्फ यह कि उन्हें भिक्षु या भिक्षुणी बनकर रहना पड़ता है। इस दृष्टि से सेरिंग की सबसे बड़ी कमी यह थी कि बौद्ध होते हुए भी वह चूहे के पीछे दौड़ पड़ती थी। मुझे इसके लिए उस पर कई दफ़ा सख्ती करनी पड़ती। मुझे अफसोस है कि ऐसी ही एक घटना के समय उसकी मौत हुई। मैंने उसे अपने घर में एक चूहे को मारते हुए देखा, तो मैं उस पर चिल्लाया। वह दौड़कर पर्दे पर चढ़ने लगी कि फिसल गई और ज़मीन पर आ गिरी। उसे इतनी चोट लगी कि सब तरह के इलाज करने के बावजूद उसे बचाया नहीं जा सका और कुछ दिन बाद वह मर गई।

इसके कुछ ही समय बाद मुझे बगीचे में एक बिल्ली का बच्चा दिखाई दिया, जिसे उसकी माँ वहाँ छोड़ गई होगी। मैंने उसे उठाया तो देखा कि उसके पिछले

पैर उसी तरह घायल थे जैसे मरते समय सेरिंग के घायल थे। मैं इसे घर ले आया और तब तक इसका इलाज करता रहा, जब तक यह चलने लायक न हो गई। सेरिंग की तरह यह भी मादा थी, और बहुत सुन्दर थी, कोमल ज़रा ज़्यादा थी। उसकी भी दोनों कुत्तों, विशेषकर सांग्ये के साथ, खूब बनती थी, यहाँ तक कि वह उसके बालों भरे सीने पर सो जाती थी।

जब दोनों कुत्तों के बाद यह भी मर गई तो मैंने जानवर न पालने का निश्चय कर लिया। जैसा मेरे वरिष्ठ अध्यापक लिंग रिन्पोचे ने एक बार कहा था, "पशु अन्त में पालने वालों की चिन्ताएँ ही बढ़ाते हैं," मुझे ठीक लगा। इसके अलावा, बौद्ध विचारधारा के अनुसार, एक या दो जानवरों की देखभाल करना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि संसार का प्रत्येक जीव हमारी चिन्ता का विषय होना चाहिए।

लेकिन सन् 1988 की सर्दियों में अपने घर के मुख्य द्वार के सामने रसोई घर में एक बीमार बिल्ली को उसकी माँ के साथ देखा, तो मैं उन्हें देखभाल के लिए अपने साथ ले आया। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि पहले वाली दोनों बिल्लियों की तरह इसके पैर भी खराब थे। इसलिए मैंने इसे तिब्बती दवाएँ खिलाई और नली से दूध पिलाया और कुछ समय बाद इसके ठीक होने पर इसे भी परिवार में शामिल कर लिया। यह लिखते समय तक इसे कोई नाम नहीं दिया गया है, जो अब दिया जाएगा। लेकिन यह बड़ी जीवन्त प्राणी सिद्ध हुई है; जब कभी कोई मुझसे मिलने आता है, यह भी उसका निरीक्षण करने आती है। अब तक यह दूसरे प्राणियों का पीछा करने के मामले में सही साबित हुई है, हाँ, जब कभी मौक़ा हाथ लगता है, मेरी मेज़ से खाने-पीने की चीज़ें उठाने से बाज़ नहीं आती।

पालतू पशुओं के बारे में मैंने यह नोट किया है कि उन्हें चाहे जितनी सुविधाएँ प्रदान की जाएँ, मौका मिलने पर वे भाग जाते हैं। इससे मेरे इस विश्वास को बल मिलता है कि सब जीवित प्राणियों में स्वाधीनता की भावना बड़ी प्रबल होती है।

मेरे निर्वासन के वर्षों का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें मुझे सब प्रकार के व्यक्तियों से मिलने का अवसर प्राप्त होता रहा है। भारत स्वतन्त्र देश है, इसलिए यहाँ मैं किससे मिलता हूँ या किससे नहीं मिलना चाहिए, इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा। कई दफ़ा तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मेरी भेंट हो जाती है। कई दफा बहुत बीमार, या मानसिक रूप से रोगी, व्यक्ति मिलते हैं। लेकिन ज़्यादातर सामान्य स्त्री-पुरुषों से ही भेंट होती है।

जब भी मैं किसी से मिलता हूँ, मेरा दृष्टिकोण यही होता है कि मैं उसके लिए क्या कर सकता हूँ, और उससे क्या सीख सकता हूँ।

अक्सर किसी दृष्टि से ये भेंट परेशान करनेवाली भी होती हैं, लेकिन हर दफ़ा, जहाँ तक मुझे याद है, मैं मैत्रीभाव से ही उनसे अलग हुआ हूँ। मेरा ख्याल है कि यह इसी कारण सम्भव हुआ है कि मैंने हमेशा ईमानदारी का व्यवहार किया है।

मुझे विभिन्न क्षेत्रों में कार्य कर रहे लोगों से मिलना ज़्यादा पसन्द है, जैसे भिन्न धार्मिक मान्यताओं वाले लोग। इनमें एक सुप्रसिद्ध जे. कृष्णमूर्ति थे। मुझे उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली लगा—पैना मस्तिष्क और अपार विद्या। यद्यपि उनका व्यवहार सरल था, लेकिन जीवन तथा उसके अर्थ के सम्बन्ध में उनके बिल्कुल निश्चित विचार थे। इसके बाद मैं उनके बहुत से अनुयायियों से भी मिला जिन्होंने उनकी शिक्षा से बहुत लाभ उठाया है।

इन दिनों की मेरी स्मृतियों में एक प्रिय स्मृति वह है जब प्रसिद्ध अमेरिकी ट्रैपिस्ट साधु फादर थामस मर्टन मुझसे मिलने आए। थाइलैंड में हुई अपनी दुखद मृत्यु से कुछ ही समय पहले, नवम्बर 1968 में वे धर्मशाला आए। हम रोज़ तीन दिन तक, प्रतिदिन दो घंटे, मिलते रहे। मध्यम ऊँचाई और पुष्ट शरीर, उनके सिर पर मुझसे भी कम बाल थे, हालाँकि मेरी तरह उनका सिर मुंडित नहीं था। काफी बड़े जूते, भारी सफेद चोग़े के बीच लगी चौड़ी चमड़े की पट्टी। लेकिन इस भारी रख-रखाव से ज़्यादा प्रभावी उनका अन्तर्जीवन था, जिसे भुला पाना कठिन है। उन्हें देखते ही मुझे महसूस हुआ कि वे सचमुच विनम्र तथा आध्यात्मिक व्यक्ति हैं। पहली बार किसी ईसाई से मिलते हुए मुझे उसकी गहरी आध्यात्मिकता की अनुभति हुई थी। इसके बाद भी ऐसे गुणों के व्यक्तियों से मेरी भेंट हुई है, लेकिन मर्टन से मिलने के बाद ही मुझे 'ईसाई' शब्द का कर्म समझ में आया।

हमारी मुलाकातें बड़े मधुर वातावरण में हुईं। मर्टन विद्वान तो थे ही, मज़ाक भी पसन्द करते थे। मैं उन्हें कैथोलिक 'गेशे' कहने लगा। हमने बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर बातें की और भिक्षुत्व की परम्पराओं पर जानकारी प्राप्त की। मैं पश्चिमी देशों की भिक्षु परम्पराओं के बारे में ज़्यादा जानना चाहता था। उन्होंने मुझे ऐसी बहुत-सी बातें बताईं जिन्हें सुनकर मैं चकित रह गया, जैसे, ध्यान के अभ्यासी ध्यान करते समय किसी शारीरिक आसन का इस्तेमाल नहीं करते। मेरी अपनी समझ के अनुसार ध्यान के लिए आसन और श्वास-साधना बहुत आवश्यक हैं। हमने ईसाई भिक्षु तथा भिक्षुणियों द्वारा पालन किए जाने वाले नियमों की चर्चा भी की।

मर्टन स्वयं बोधिसत्व परम्परा के आदर्शों के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहते थे। वह किसी तान्त्रिक गुरु से भी मिलना चाहते थे। कुल मिलाकर यह आदान-प्रदान बहुत लाभदायक रहा, और मुझे यह भी जानकारी हुई कि बौद्ध धर्म और कैथोलिक ईसाई धर्म में अनेक समानताएँ भी हैं। इसलिए जब मुझे मर्टन

की अचानक मृत्यु का समाचार मिला तो मुझे बहुत दुख हुआ। हमारी दो धर्म-परम्पराओं के बीच मर्टन एक बड़ा शक्तिशाली पुल बन सकते थे। सबसे बड़ी बात यह कि उन्होंने मुझे यह समझ पाने में बहुत सहायता की, कि प्रत्येक बड़ा धर्म, जो प्रेम और करुणा की शिक्षा देता है, श्रेष्ठ मनुष्यों का निर्माण कर सकता है।

फ़ादर थामस मर्टन के बाद अन्य ईसाइयों से मेरा सम्पर्क बहुत बढ़ा। अपनी यूरोप यात्राओं में मैंने विभिन्न मठों को भी जाकर देखा और उन सबसे बहुत प्रभावित हुआ। जिन साधुओं से मेरी मुलाकात हुई उनकी श्रद्धा-भक्ति देखकर मुझे कई दफ़ा ईर्ष्या भी होती थी। यद्यपि उनकी संख्या काफ़ी कम है लेकिन मेरा ख्याल है कि उनकी गुणवत्ता का स्तर बहुत ऊँचा है। इसके विपरीत, निर्वासन में भी हम तिब्बतियों में भिक्षुओं की संख्या काफी ज़्यादा है, चार से पाँच प्रतिशत, लेकिन समर्पण की भावना उतनी नहीं है।

मैं सब परम्पराओं की ईसाई संस्थाओं के सेवा कार्यों से भी बहुत प्रभावित हूँ, विशेष रूप से शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्रों में उनके कार्य से। भारत में भी उनका कार्य बहुत फैला है। इस क्षेत्र में हम अपने ईसाई भाई-बहनों से बहुत कुछ सीख सकते हैं, और बौद्ध धर्म को भी इस क्षेत्र में कुछ अवश्य करना चाहिए। मेरा ख्याल है कि बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ करुणा की बातें तो बहुत करते हैं लेकिन काम कुछ नहीं करते। मैंने कई अवसरों पर तिब्बती तथा अन्य बौद्धों से इस विषय पर चर्चा की है और इस तरह की संस्थाएँ विकसित करने को भी प्रोत्साहित करता रहा हूँ। लेकिन, जिस प्रकार हम ईसाइयों से बहुत कुछ सीख सकते हैं, उसी प्रकार ईसाई भी हमसे कुछ सीख सकते हैं। जैसे, ध्यान के लिए विकसित हमारी विधियाँ, विशेष रूप से एक बिन्दु पर मन का केन्द्रीकरण, जिनसे धार्मिक जीवन के विकास में उन्हें सहायता मिल सकती है।

साठ के दशक का अन्त होने पर मुझे विश्वास होने लगा कि एक लाख तिब्बती निर्वासितों को भारत, नेपाल और भूटान में बसा पाने का मेरा सपना पूरा हो सकेगा। इसलिए, यद्यपि तिब्बत से आने वाली जो भी थोड़ी-बहुत खबरें मुझे प्राप्त होती थीं, वे खराब ही होती थीं, मैं भविष्य के प्रति काफी ठोस आधारों पर आशावादी होने लगा। लेकिन, मेरे प्रभाव क्षेत्र से बाहर दो घटनाएँ ऐसी भी हो रही थीं, जिनसे मुझे अपनी स्थिति की दुर्बलता का ज्ञान होने लगा।

पहली घटना उन चार हज़ार निर्वासितों से जुड़ी थी, जो भूटान में बसा दिए गये थे।

भूटान का स्वतन्त्र राज्य भारत की सीमा पर पूर्व में स्थित है, और तिब्बत के केन्द्रीय प्रान्त ऊ-सांग के बिल्कुल नीचे है। तिब्बत की तरह यह भी शानदार

पहाड़ों का देश है और धर्म भी बौद्ध धर्म ही है और लोग बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इसका पालन करते हैं। लेकिन तिब्बत के विपरीत, यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है।

भूटान के महाराजा तिब्बतियों के प्रति बड़े कृपालु थे, और भारत सरकार की सहायता से उन्होंने निर्वासितों को ज़मीन इत्यादि की सुविधाएँ देकर उन्हें कृषि-बस्तियों में बसा दिया था।

आरम्भ में सब कुछ ठीक-ठाक चलता रहा और तिब्बती बड़े प्रसन्न थे। मैं सन् 1974 में प्रथम कालचक्र के अनुष्ठान के समय बोधगया में उनसे मिला, तो मुझे यह सुनकर अच्छा लगा कि वे सब अपने जीवन से सन्तुष्ट हैं। वे अपने मेज़बानों की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे, विशेषतः नए महाराज जिग्मे वांग्चुक की, जो उन्हीं दिनों सिंहासन पर बैठे थे। राज्य कार्यों में उनकी कुशलता से सभी बड़े प्रभावित थे। लेकिन कुछ ही महीने बाद स्थिति एकदम बदल गई। बाईस प्रमुख तिब्बतियों को गिरफ्तार कर लिया गया, उन्हें यातनाएँ दी गईं और बिना मुकदमा चलाए राजधानी थिम्पू की जेल में डाल दिया गया। इनमें मेरा व्यक्तिगत प्रतिनिधि, ल्हादिंग भी था, जो स्वर्गीय महाराजा का सम्बन्धी भी था। मुझे यह सुनकर बड़ा सदमा पहुँचा, और मुझे लगा कि इसकी गहराई से जाँच की जानी चाहिए—मुझे इनके विरुद्ध षड्यन्त्र करने के आरोपों पर विश्वास नहीं हो रहा था। जाँच नहीं की गई और सच्चाई कभी सामने नहीं आई। अन्त में मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि भूटान सरकार के किसी आन्तरिक मामले में तिब्बतियों को बलि का बकरा बनाया गया था।

इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के बाद कई तिब्बती भूटान छोड़कर भारत आ गये। लेकिन जो रह गये, वे शान्तिपूर्वक रहे, हालाँकि मेरा ख्याल है कि उनके विरुद्ध अब भी कुछ संदेह किया जाता है। जो हो, मैं भूटानी जनता और सरकार के प्रति उस सबके लिए अत्यंत कृतज्ञ हूँ जो उन्होंने हम तिब्बतियों के लिए किया और आशा करता हूँ कि भविष्य में सदा की तरह हमारे मधुर सम्बन्ध पुनःस्थापित हो जायेंगे।

दूसरी घटना उन गुरिल्ला सैनिकों से सम्बन्धित थी जिसे अमेरिकी सी.आई.ए. ने प्रशिक्षित किया था, और जो हिंसक उपायों से तिब्बत की स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। मैंने एक से ज़्यादा बार ग्यालो थोंडुप तथा दूसरों से इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया, लेकिन पूरी कहानी मुझे कभी पता नहीं चली। मुझे सिर्फ इतना पता है कि सन् 1960 में मुस्तांग में एक गुरिल्ला शिविर स्थापित किया गया था, जो नेपाल के धुर उत्तर के बीहड़ प्रदेश में तिब्बत की सीमा के पास स्थित है। यहाँ निर्वासितों में से कई हज़ार लोगों की सेना तैयार की गई—हालाँकि सी.आई.ए. का प्रशिक्षण कुछ को ही दिया गया। दुर्भाग्य से, इस स्थान पर प्राप्त सुविधाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया गया, जिसके परिणाम स्वरूप भावी आक्रमणकर्ताओं को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, हालाँकि ये उन कठिनाइयों

के सामने बहुत कम थीं जिनका तिब्बत के भीतर ही लड़ने वाले स्वाधीनता-सेनानी सामना कर रहे थे।

जब यह शिविर काफ़ी मज़बूत हो गया तब गुरिल्लों ने स्थान-स्थान पर चीनियों पर आक्रमण करके उन्हें परेशान करना शुरू कर दिया, और एक दफ़ा तो उनका पूरा दस्ता ही तहस-नहस कर डाला। इसी आक्रमण में उन्हें वे दस्तावेज़ हाथ लगे। जिनमें बताया गया था कि मार्च 1959 से सितम्बर 1960 तक ल्हासा में 87 हज़ार तिब्बती मारे गए। इन सफलताओं से उनको नैतिक बल प्राप्त हुआ। लेकिन इनका सही संचालन न होने तथा बाद में उन्हें और आगे बढ़ाने की कार्यवाही न होने का परिणाम तिब्बतियों को भुगतना पड़ा, कि उन पर अत्याचार बढ़ते चले गए। इससे भी बुरा यह हुआ कि चीनियों को यह कहने का मौका मिल गया कि विदेशियों की सहायता से तिब्बती यह सब कर रहे हैं--जबकि सच्चाई यह है कि सब सैनिक प्रयास तिब्बती ही थे।

फिर सत्तर के दशक में अमेरिका ने चीन को मान्यता दे दी और इसके बाद गुरिल्लों की सहायता बंद कर दी गई--जिससे यह स्पष्ट हो गया कि तिब्बत की सहायता उनके कम्युनिस्ट विरोध की नीति का ही एक अंग था, तिब्बत की स्वाधीनता उनका उद्देश्य नहीं था।

लेकिन, गुरिल्ला दृढ़तापूर्वक लड़ते रहे। लगता है, उनसे चीनियों को काफी परेशानी होने लगी होगी, क्योंकि उन्होंने नेपाल सरकार पर दबाव डाला कि मुस्तांग का शिविर बंद करवा दिया जाए हालाँकि इस सम्बन्ध में तिब्बती गुरिल्लों का नेपाल सरकार के साथ कुछ समझौता अवश्य रहा होगा। अब जब नेपाल ने यह करने की कोशिश की तो तिब्बतियों ने इसे मानने से इन्कार कर दिया और कहा कि वे अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते रहेंगे और ज़रूरत पड़ी तो नेपाली सेना से भी युद्ध करेंगे।

यद्यपि मैंने हमेशा गुरिल्लों के साहस की सराहना की है लेकिन उनके कार्यों का कभी समर्थन नहीं किया है, और अब मुझे लगा कि मुझे इस मामले में हस्तक्षेप करना चाहिए। मैं जानता था कि उनपर असर डालने के लिए व्यक्तिगत रूप से अपील करनी पड़ेगी। इसलिए मैंने पूर्व कुसुन देपॉन पी.टी. तकला को अपना सन्देश टेप करवा कर उनके पास भेजा। इसमें मैंने उनसे कहा कि नेपालियों से युद्ध करना सही नहीं है, इसलिए भी कि नेपाल में कई हज़ार निर्वासित रह रहे हैं, जिन पर इसका प्रभाव पड़ेगा। इसके विपरीत उन्हें नेपाल सरकार का कृतज्ञ होना चाहिए। उन्हें हथियार डाल देना चाहिए और स्वयं भी शान्तिपूर्वक बस जाना चाहिए। तिब्बती संघर्ष को लम्बी योजना की ज़रूरत है।

कुछ समय बाद पी.टी. तकला ने मुझे बताया कि बहुत-से लोगों ने कहा कि उन्हें धोखा दिया गया है--कुछ नेताओं ने हटने के स्थान पर खुद अपनी गर्दनें काट

लीं। यह सुनकर मुझे गहरा दुख हुआ। दरअसल, स्वाधीनता-सैनिकों से अपील करने के विषय में मेरी भावनाएँ मिश्रित थीं। एक तरह से इस साहस, निष्ठा और देशभक्ति के विरुद्ध कुछ कहना गलत ही था, हालाँकि अपने मन में मैं जानता था कि मैं ठीक कर रहा हूँ।

अधिकांश गुरिल्लों ने मेरी अपील पर हथियार डाल दिए, लेकिन कुछ ने, सौ से कुछ कम ने, इसे नहीं माना और नेपाली सेना ने सीमा पार आते-जाते उनका पीछा करना शुरू कर दिया। आखिरकार एक हमले में उन्हें पकड़ लिया गया, और इसका परिणाम वही हुआ जिसकी उन्होंने अपेक्षा की होगी। इस तरह तिब्बती निर्वासितों के इतिहास का एक दर्दनाक अध्याय समाप्त हुआ।

11

पूर्व से पश्चिम

भारत से बाहर मेरी प्रथम यात्रा सन् 1967 की शरद ऋतु में हुई, जब मैं जापान और थाईलैंड गया। इसके बाद मेरी यात्राएँ बढ़ती चली गईं—यद्यपि मेरे चीनी भाई-बहन इनमें बाधाएँ ही देते रहे। दुर्भाग्य की बात यह है कि यद्यपि मेरी अधिकांश विदेश यात्राएँ पूरी तरह व्यक्तिगत ही थीं—ये निमन्त्रण या तो किसी तिब्बती संस्था या किसी बौद्ध सम्प्रदाय से प्राप्त होते थे—चीनी हमेशा उन्हें राजनीतिक यात्राएँ ही मानते हैं और मुझसे जो भी व्यक्ति मिलता है, उसे भी राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित मानते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि बहुत से सार्वजनिक रूप से प्रसिद्ध व्यक्ति अपनी सरकारों या चीनियों के डर से मुझसे मिलने से परहेज़ करते रहे हैं।

उन पहली यात्राओं के समय वियतनाम युद्ध ज़ोरों पर था। मुझे याद है, काफ़ी ऊँचाई पर उड़ते समय मैंने एक बड़ा जहाज़ बग़ल से गुज़रते देखा। यह, मैंने पहचान लिया, बी-52 बॉम्बर था। मैंने बड़े दुख के साथ सोचा कि यह जहाज़ अपने भीतर लदा सामान समुद्र के जल में न छोड़कर मेरे जैसे मनुष्यों के ऊपर छोड़ने जा रहा है। मुझे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि पृथ्वी से 30 हज़ार फ़ीट की ज़बरदस्त ऊँचाइयों पर भी मनुष्य की मनुष्य के प्रति अमानवता के प्रमाण उपलब्ध हैं।

तोक्यो में प्रवेश करते ही मुझे बेहतर मनुष्य के दर्शन होने लगे, जो मुझे अच्छा लगा। पहली चीज़ जो मुझे दिखाई दी, वह थी अद्‌भुत सुव्यवस्था। इतनी सफ़ाई मैंने आज तक नहीं देखी थी। शीघ्र ही मुझे पता चला कि यह स्वच्छता उनके भोजन तक समान रूप से विस्तृत है; जो हमेशा बड़े कलात्मक ढंग से परोसा जाता था। मुझे लगा कि जापानी मान्यताओं के अनुसार स्वाद की अपेक्षा प्लेट में उसकी सजावट को अधिक महत्त्व दिया जाता है। दूसरी बात जो एकदम मेरी नज़र में आई, वह थी कारों और ट्रकों की विपुल संख्या जो लोगों और वस्तुओं को रात-दिन ढोकर यहाँ से वहाँ पहुँचाती रहती हैं। यह सब देखकर मुझे मनुष्य के जीवन पर आधुनिक तकनीक की लाभकारी सम्भावनाओं का विचार आया। मुझे यह बात जानने-समझने में भी विशेष रुचि थी कि इतनी ज़बरदस्त भौतिक उन्नति के बाद भी जापान अपनी प्राचीन सभ्यता तथा मूल्यों को बनाए रखने में किस प्रकार सफल हुआ है।

जापान में रहते हुए मुझे उन अनेक युवा तिब्बतियों से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई जो यहाँ शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। मुझे कुछ ऐसे जापानी भी मिले जो तिब्बती भाषा बोलते थे और जिन्हें मेरे देश की अच्छी जानकारी थी। तेरहवें दलाई लामा के समय तक जापानी विद्वान तिब्बत में शिक्षा प्राप्त करने आया करते थे। इसलिए अब दोनों देशों के बीच, शरणार्थी के रूप में ही सही, फिर से सम्बन्ध स्थापित करना मुझे अच्छा लग रहा था।

थाईलैंड का मेरा अनुभव इससे बिलकुल भिन्न रहा। यहाँ के लोग मुझे बहुत सरल और निश्चिंत स्वभाव के लगे। जापानियों के सामने, जहाँ वेटर भी बहुत औपचारिक थे, यह व्यवहार एकदम उलटा था। लेकिन थाईलैंड में व्यवहार के कुछ ऐसे विशिष्ट नियम हैं जिनका पालन कठिन होता है। थाई परम्परा के अनुसार सामान्य जन को बौद्ध संघ, या भिक्षुओं के प्रति हमेशा आदर दिखाना आवश्यक है। लेकिन भिक्षुओं के लिए इस आदर पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करना एकदम वर्जित है, भले ही व्यक्ति उसके सामने पूरी तरह लेट जाए। मुझे इसका अभ्यास करना बहुत कठिन लगा। सामान्य परिस्थिति में मैं हमेशा अभिवादन का उत्तर देता हूँ, और मैं भले ही उनके अनुसार व्यवहार करने की भरसक कोशिश करता, मेरा हाथ स्वतन्त्र व्यवहार करने लगता था।

दूसरी दफ़ा थाईलैंड की यात्रा में इस कारण मेरे सामने एक समस्या खड़ी हो गई। मुझे सम्राट ने दोपहर के भोजन के लिए बुलाया था। मैं सोचने लगा कि उनसे हाथ मिलाऊँ या न मिलाऊँ। पता नहीं, उन्हें क्या अच्छा लगेगा। इसलिए मैं तो अपने हाथों पर नियन्त्रण बनाए रखने की कोशिश करता रहा, लेकिन उन्होंने खुद आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया और बड़ी गर्मजोशी से मिलाया।

इस देश में मेरी दूसरी परेशानी वहाँ की गर्मी थी जो दक्षिण भारत की गर्मी से कहीं ज़्यादा थी, इसी के साथ मच्छर। इनके कारण सोना बहुत मुश्किल होता था। सकारात्मक बातों में, वहाँ के बड़े भिक्षुओं में से कुछ, जिनसे मैं मिला, अत्यन्त प्रभावशाली थे। जापान की तरह, यहाँ भी बात करने को बहुत कुछ था, क्योंकि हमारी विभिन्न परम्पराओं में अनेक समानताएँ भी हैं—जिससे मुझे यह लगा कि तिब्बती परम्परा बौद्ध धर्म का एक अत्यधिक पूर्ण स्वरूप है।

सन् 1973 में मैं पहली बार यूरोप और स्कैंडिनेविया की यात्रा पर गया। छह हफ्ते में ग्यारह देश देखे। यात्रा की समाप्ति पर मैं थक कर चूर हो गया था। फिर भी मुझे इस बात की खुशी थी कि इतने नए स्थानों को देखने तथा इतने नए लोगों से मिलने का अवसर मिला। कुछ पुराने परिचितों से भी मिला। हैनरिख से दोबारा मिलकर तो बहुत अच्छा लगा। वे हमेशा की तरह हँसमुख और मज़ाकिया थे, और उनके मज़ाक भी पहले की तरह खुरदरे और ज़मीनी होते थे। वे एक दफ़ा धर्मशाला भी आए थे, लेकिन उनसे मिले कई साल गुज़र चुके थे, और उनके सुनहरे बाल,

जिनका मैं बचपन में मज़ाक उड़ाता था, अब एकदम सफेद हो चुके थे। इसके अलावा उनमें और कोई ज़्यादा परिवर्तन नहीं आया था। उनकी पर्वतारोहियों वाली मोटी उँगलियाँ मुझे अभी भी बहुत आकृष्ट करती थीं, और यद्यपि अब उनके शरीर में पहले से ज़्यादा चोटों के घाव दिखाई दे रहे थे, जो न्यू-गिनी के एक अभियान का नेतृत्व करने की देन थे, उनका जोश-खरोश पहले की तरह बरक़रार था।

सबसे पहले मैं रोम गया, जहाँ पोप से मेरी भेंट हुई। जब विमान धरती पर उतरा, मैं यह जानने के लिए बेहद उत्सुक था कि, पूर्व तथा पश्चिम में जो बहुत ज़्यादा अन्तर बताए जाते हैं, वे क्या हैं। क्या यहाँ की धरती भी अलग दिखाई देती है? यूँ मेरे पास यूरोपीय नगरों के अगणित चित्र थे, विशेष रूप से पहले और दूसरे महायुद्धों की किताबों में, जिन्हें मैं इकट्ठा करता रहता था, फिर भी मुझे अन्दाज़ा नहीं था कि यहाँ का दृश्य कैसा होगा। इसलिए यह देखकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ कि यहाँ भी वैसे ही पेड़, वैसी ही हरियाली और वैसे ही मकान हैं जैसे हमारे पूर्व में होते हैं। यानी कुछ भी ज़्यादा भिन्न नहीं है।

जहाज़ से उतरकर मैं सबसे पहले वेटिकन सिटी गया। यहाँ सेंट पीटर्स बेसिलिका मुझे कई मायनों में पोटाला के समान ही लगा, जैसे आकार तथा प्राचीनता में। लेकिन यहाँ खड़े स्विस गार्ड, अपनी रंग-बिरंगी वेशभूषा में, मुझे हास्यास्पद लगे। जैसे, सिर्फ शोभा बढ़ाने के लिए खड़े किए गए हों। पोप पॉल VI से मेरी बातचीत बहुत संक्षिप्त रही, लेकिन मैंने मानवता के लिए आध्यात्मिक मूल्यों के महत्त्व में अपना विश्वास व्यक्त किया, भले ही किसी का धर्म कुछ भी क्यों न हो। उन्होंने मेरे इस कथन में सहमति व्यक्त की और मैंने उनसे सौजन्यपूर्वक विदा ली।

दूसरे दिन मैं एक हफ्ते के लिए स्विट्ज़रलैंड चला गया, जहाँ मैं उन लगभग तीन सौ बच्चों से मिला जिन्हें स्विस परिवारों ने गोद ले लिया था। मेरे प्रति उनका व्यवहार बहुत शर्मीला और अटपटा था। मुझे यह देखकर खेद हुआ कि ज़्यादातर बच्चे तिब्बती भाषा बिलकुल भूल गए थे। (हालाँकि सन् 1979 में अपनी दूसरी यात्रा में यह स्थिति काफ़ी बदल चुकी थी। उन्हें तिब्बती की शिक्षा दी गई और, मेरी टूटी-फूटी अंग्रेज़ी की ही तरह वे भी टूटी-फूटी तिब्बती में बात करने लगे थे।) छह साल पहले वे जिस हालत में यहाँ आए थे, उसकी जगह अब उनके मुस्कराते चेहरे देखकर मुझे बहुत खुशी हुई, और जैसा मैंने सोचा था, उसी तरह स्विस परिवारों ने खुले मन से उनका स्वागत किया था, और प्रेम तथा करुणा के वातावरण में उनका अच्छा विकास हो रहा था।

स्विट्ज़रलैंड से मैं हॉलैंड गया जहाँ एक रब्बी से भी मेरी मुलाक़ात हुई। यह अनुभव बड़ा हृदयद्रावक रहा। भाषा की कठिनाई के कारण बातचीत तो नाम मात्र की हुई, लेकिन इसकी ज़रूरत ही नहीं थी। उनकी आँखों में, जो रो रही थीं, मैंने उनके लोगों की पीड़ा और अपार कष्ट स्पष्ट देखे।

नीदरलैंड्स में कुल दो दिन और बेल्जियम में कुछ घंटे बिताकर मैं आयरलैंड चला गया, फिर नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क में एक-एक दो-दो दिन व्यतीत किए। मेरे पास समय की इतनी कमी थी कि इन देशों में ज़्यादा कुछ देख ही नहीं सकता था। लेकिन जहाँ भी मैं गया, लोगों की तिब्बत के प्रति भावना और स्वागत-सत्कार की उदारता देखकर चकित रह गया। वे तिब्बत के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा जान लेना चाहते थे और मुझे महसूस हुआ कि मेरे देश के प्रति दुनिया-भर में सचमुच बड़ी उत्सुकता है। इस उत्साहपूर्ण यात्रा में मुझे उन सब संस्थाओं को स्वयं जा-जाकर धन्यवाद देने का अवसर भी मिला जिन्होंने तिब्बती शरणार्थियों के लिए सहायता जुटाई थी। मिसाल के लिए, नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क की संस्थाओं ने चालीस युवा स्त्री-पुरुषों को मशीनों तथा कृषि कार्य की शिक्षा दी थी।

मैंने ग्रेट ब्रिटेन में सबसे अधिक समय व्यतीत किया। मैं यहाँ दस दिन रहा और यहाँ रहकर मेरा यह विश्वास सही साबित हुआ कि यूरोप के सभी देशों में ब्रिटेन के ही तिब्बत के साथ सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। मुझे ऐसे बहुत-से बुज़ुर्गों से मिलकर आश्चर्य हुआ जो मुझसे तिब्बती भाषा में बात करने लगे। पता चला कि वे स्वयं, अथवा उनके माता-पिता ब्रिटिश अधिकारी के रूप में तिब्बत में कई वर्ष रहे थे। इनमें एक थे ह्यू रिचर्डसन जो लगभग दस साल पहले धर्मशाला आए थे।

ब्रिटेन में सर हेरॉल्ड मैकमिलन से भी मेरी भेंट हुई, जिनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ। उनका व्यवहार बहुत अच्छा था, जिसमें अधिकार तथा सौम्यता का अद्‌भुत मिश्रण था। उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों में भी रुचि व्यक्त की। जिस दूसरे व्यक्ति से मेरी घनिष्ठता हुई वे थे वेस्टमिंस्टर के डीन एडवर्ड कारपेंटर, जिनकी पत्नी हमेशा मुझे 'माई बॉय' कहकर पुकारती हैं।

यद्यपि सन् 1960 में एक भारतीय समाचार-पत्र में मैंने पढ़ा था कि यदि दलाई लामा अमेरिका जाएँगे तो राष्ट्रपति आइज़ेनहॉवर उनसे मिलेंगे, लेकिन 1972 में इस बारे में जाँच-पड़ताल करने पर मुझे पता चला कि वीज़ा प्राप्त करने में कुछ कठिनाई आएगी। इस देश की यात्रा करने में, जिसे दुनिया का सबसे अमीर और सबसे स्वतन्त्र देश कहा जाता है, मुझे ज़बरदस्त रुचि थी, लेकिन सन् 1979 से पहले मुझे इसका अवसर प्राप्त नहीं हुआ।

न्यूयॉर्क पहुँचकर जहाँ मैं सबसे पहले गया, वहाँ का स्वतन्त्र माहौल मुझे बहुत अच्छा लगा। जिन लोगों से मैं मिला, वे सब बड़े खुले दिल के, दोस्ताना और निश्चिंत स्वभाव के थे। लेकिन, इस बात पर भी मेरा ध्यान गया कि शहर के कुछ हिस्से बहुत अस्त-व्यस्त और गंदे भी थे। मुझे यह देखकर भी दुख हुआ कि बहुत-से बेकार, गरीब लोग दरवाज़ों पर सामान रखे बैठे रहते हैं। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ

कि इतने धनी और समृद्ध देश में इतने भिखारी भी पड़े हुए हैं। मुझे अपने कम्युनिस्ट मित्रों की याद आई जो 'अमेरिकी साम्राज्यवादी कागज़ के शेर' कहकर इन लोगों के अन्याय के बारे में बताते थे, कि किस तरह ये लोग अमीरों के लाभ के लिए ग़रीबों का शोषण करते हैं। मुझे यह देखकर भी आश्चर्य हुआ कि अन्य पूर्व के लोगों की तरह जैसे मैं भी यह मानता था कि अमेरिका दुनिया की आज़ादी का अलम्बरदार है, लेकिन यहाँ बहुत कम लोगों को तिब्बत के बारे में पता था। और अब, जब मैं इस देश को ज़्यादा अच्छी तरह समझने लगा हूँ, मैं यह मानने लगा हूँ कि कुछ मामलों में अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था अपने आदर्शों को पूरा नहीं करती।

यह सब कहने का मतलब यह नहीं है कि अमेरिका की अपनी पहली यात्रा मुझे अच्छी नहीं लगी या मैंने वहाँ जो भी देखा, उसमें कुछ भी मुझे प्रभावित नहीं कर सका। मैं यहाँ छात्रों की बहुत-सी सभाओं में बोला जो मुझे बहुत अच्छा लगा, और सब जगह मुझे ज़बरदस्त सद्भाव ही प्राप्त हुआ। मैं कितनी भी बुरी अंग्रेज़ी में बोला, और लोग मुझे पूरी तरह समझ पाए हों या न पाए हों, सबने मेरा स्वागत किया। इनसे मुझमें यह आत्मविश्वास भी पैदा हुआ कि मैं एक नई भाषा में सार्वजनिक रूप से बोल सकता हूँ, जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। लेकिन मैं यह भी सोचता हूँ कि उनकी यह कृपा का कहीं मुझ पर यह परिणाम तो नहीं हुआ कि मैंने अपनी अंग्रेज़ी में और सुधार करना बंद कर दिया? हालाँकि मैंने अमेरिका में यह निश्चय कर लिया था कि भाषा का और अच्छा अभ्यास करने पर पूरा ध्यान दूँगा, लेकिन धर्मशाला पहुँचते ही मेरा सब उत्साह एकदम फुर्र हो गया। परिणाम यह है कि मैं जर्मन, फ्रेंच और अन्य यूरोपियनों से, जो मेरी ही जैसी अंग्रेज़ी बोल सकते हैं, जिनका व्याकरण और उच्चारण दोनों ही अशुद्ध होते हैं, उन्हीं से इस भाषा में बात करना पसन्द करता हूँ। अंग्रेज़ों के साथ, जिनमें से अनेक मुझे बहुत औपचारिक तथा अपने में बंद प्रतीत होते हैं, बातचीत करने में मुझे संकोच होता है।

दुनिया की अपनी उन पहली यात्राओं के बाद मैंने अनेक बार इन देशों की यात्राएँ की हैं। इन यात्राओं से मुझे सब प्रकार के लोगों से मिलने का अवसर मिला है—कुछ ग़रीब, कुछ अमीर, कुछ अतिशिक्षित, कुछ कुशिक्षित, कुछ धर्म को मानने वाले और कुछ धर्म से एकदम अलग—और यह सब मुझे बहुत अच्छा लगा है। अब तक मुझे अपने इस विश्वास को ही समर्थन प्राप्त हुआ है कि आप कहीं भी जाएँ, मनुष्य एक ही प्रकार के हैं, उनके अन्तर ज़्यादातर ऊपरी ही हैं। ये सब मेरी ही तरह सुख प्राप्त करना चाहते हैं, दुख कोई नहीं चाहता। इसके अलावा, सब दूसरों से प्यार पाना चाहते हैं, और खुद भी उनमें दूसरों को प्यार देने की क्षमता होती है। मन में यह वृत्तियाँ हों तो मित्रता और सद्भाव का विकास किया जा सकता है।

कुल मिलाकर कहूँ तो पाश्चात्य समाज में मुझे बहुत कुछ प्रभावी लगा। मैं विशेष रूप से इसकी ऊर्जा, रचनात्मकता और ज्ञान की भूख का प्रशंसक हूँ। दूसरी

ओर, मैं इसकी कुछ प्रवृत्तियों से चिन्तित भी होता हूँ। इनमें से एक है लोगों की 'काला या सफेद' या 'यह या वह' का भेद करने की भावना, जो इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि सब कुछ परस्पर निर्भर है और सापेक्षता के सिद्धान्त से परिचालित है। ये लोग दो दृष्टिकोणों के मध्य स्थित अस्पष्टताओं पर ध्यान नहीं देते।

मैंने एक बात यह देखी कि वहाँ बड़े शहरों में ऐसे बहुत-से लोग हैं जो बड़े आराम की ज़िन्दगी बसर करते हैं, लेकिन वे आम जनता के व्यापक समूह से एकदम कट गए हैं। यह मुझे बहुत आश्चर्यजनक लगता है—कि इतनी ज़्यादा सुख-समृद्धि के बावजूद ये लोग अपने चारों ओर रह रहे हज़ारों भाई-बहनों के होते हुए भी कुत्ते-बिल्लियों के प्रति ही अपनी वास्तविक भावनाएँ व्यक्त करते हैं। मैं सोचता हूँ कि इसका कारण आध्यात्मिक भावनाओं का अभाव है। इसका आंशिक कारण शायद इन देशों में चरम प्रतियोगिता की स्थिति है जिससे लोगों में भय तथा असुरक्षा का भाव उत्पन्न होता है।

अपनी विदेश-यात्राओं में एक बार एक बहुत धनी व्यक्ति के यहाँ मैं ठहरा तो वहाँ मैंने कुछ ऐसा देखा जिससे इस प्रवृत्ति के लक्षणों का मुझे पता चला। यह बहुत विशाल भवन था जिसमें जीवन की सुविधा के सभी साधन उपलब्ध थे, जिनके लिए हर प्रकार के यन्त्र लगे थे। जब मैं इसके स्नान-घर में गया, हाथ धोने के नल के ऊपर दो बड़ी बोतलें रखी थीं, एक में थी नींद की गोलियाँ और दूसरी में ट्रैंक्विलाइज़र दवाएँ। ये इस बात का प्रमाण थीं कि भौतिक समृद्धि से वास्तविक सुख प्राप्त नहीं होता।

जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ, मैं ज़्यादातर दूसरों के निमन्त्रण पर विदेश जाता हूँ। मुझे अक्सर लोगों के सामने बोलने के लिए भी कहा जाता है। अपने भाषणों में मैं तीन विषय उठाता हूँ। पहला स्वयं मनुष्य होने के नाते मैं 'वैश्विक दायित्व' की बात करता हूँ। इससे मेरा अर्थ होता है, एक-दूसरे के प्रति, सब जीवित प्राणियों के प्रति तथा सम्पूर्ण प्रकृति के प्रति हम सबका संयुक्त दायित्व।

दूसरा, बौद्ध भिक्षु होने के नाते संसार के विभिन्न धर्मों के बीच अधिक समरसता और सहिष्णुता का समर्थन। जैसा मैं कह चुका हूँ, मेरा यह विश्वास है कि सभी धर्म मनुष्य को और अच्छा मनुष्य बनाने का प्रयत्न करते हैं, और अपने दार्शनिक मतभेदों के बाद भी, जिनमें अनेक मतभेद मौलिक हैं, सभी धर्म मनुष्य को सुख प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं किसी विश्वधर्म या 'श्रेष्ठतम धर्म' का प्रचार करता हूँ। दरअसल, मैं धर्म को औषधि के रूप में लेता हूँ। अलग-अलग रोगों के लिए डॉक्टर अलग-अलग दवाएँ देते हैं। इसलिए, चूँकि प्रत्येक व्यक्ति का आध्यात्मिक 'रोग' एक ही नहीं है, इसलिए अनेक प्रकार की आध्यात्मिक औषधियों की ज़रूरत होती है।

तीसरा, एक तिब्बती, और इससे भी अधिक उनका दलाई लामा होने के नाते, मैं अपने देश, अपने लोगों और उनकी संस्कृति की, जब कोई इनमें रुचि व्यक्त करता है, बात करता हूँ। लेकिन, जब लोग मेरे देश या चीनियों के अधीन मेरी दुख भोग रही जनता के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हैं, तो इससे मुझे न्याय के लिए लड़ते रहने के अपने उद्देश्य में शक्ति प्राप्त होती है, परन्तु मैं इन व्यक्तियों को अपने देश तिब्बत का समर्थक नहीं कहता, मैं इनको स्वाधीनता का समर्थक कहता हूँ।

अपनी इन यात्राओं में एक और बात पर मेरा ध्यान गया, वह है मेरी बातों में युवा वर्ग की विशेष रुचि। उनके इस उत्साह का एक कारण मुझे लगता है, अनौपचारिक व्यवहार पर मेरा बल। जहाँ तक मेरा अपना प्रश्न है, मुझे युवा समाज से विचारों का आदान-प्रदान करना बहुत अच्छा लगता है। वे मुझसे विविध विषयों पर अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते हैं, जैसे, शून्यता का बौद्ध सिद्धान्त, सृष्टि-रचना, आधुनिक भौतिकी, सेक्स और नैतिकता पर मेरे विचार। ये सवाल मेरे लिए अनपेक्षित और जटिल होते हैं लेकिन ये ही मुझे ज़्यादा पसन्द आते हैं। इनके कारण मैं उन बहुत-से विषयों में प्रवेश करने के लिए विवश हो जाता हूँ, जिन्हें मुझे जानना चाहिए। यह भी एक तरह से बौद्ध वाद-विवाद ही हो जाता है।

एक और बात जो मुझे पता लगी, यह है कि पश्चिम में जिन लोगों से मेरी बात होती है, उनमें से अनेक बहुत सन्देहशील होते हैं। मेरा ख्याल है कि यह वृत्ति बहुत लाभदायक हो सकती है, शर्त यही है कि इससे और अधिक जानने की भावना उत्पन्न हो।

मेरे ख्याल से सबसे ज्यादा सन्देहशील वर्ग पत्रकारों और समाचार एकत्र करने वालों को होता है, जिनके साथ मेरा वास्ता भी बहुत पड़ता है, दलाई लामा होने के कारण, और विशेष रूप से जब मैं यात्रा पर होता हूँ। लेकिन, जैसा आमतौर पर माना जाता है कि स्वतन्त्र प्रेस के ये लोग बहुत आक्रामक और कठिन होते हैं, मुझे ज़्यादातर ऐसा नहीं लगता। भले ही शुरू में वातावरण में तनाव हो, इनमें से अधिकांश मैत्रीपूर्ण ही साबित होते हैं। कभी-कभी सवाल-जवाब होते समय कोई बहस भी होने लगती है, लेकिन राजनीति की चर्चा उठते ही मैं रुक जाता हूँ, और इसमें भाग लेने से बचता हूँ। हर व्यक्ति को अपना स्वतन्त्र मत रखने का अधिकार है, और मैं उनका दिमाग़ बदलने की कोशिश करूँ यह मैं अपना काम नहीं मानता।

एक विदेश यात्रा में ऐसा ही कुछ हुआ। प्रेस सम्मेलन समाप्त होने के बाद कुछ लोगों ने कहा कि दलाई लामा ने अच्छे उत्तर नहीं दिए। लेकिन मैं इससे प्रभावित नहीं हुआ। मेरा मानना है कि लोग खुद निश्चय करें कि तिब्बत का मामला समर्थन के लायक है या नहीं।

पत्रकारों से भेंट वार्ता से अधिक कठिन मेरे टी.वी. के कुछ कार्यक्रम हुए। एक दफ़ा जब मैं फ्रांस गया था, टी.वी. के एक जीवन्त कार्यक्रम के लिए मुझे निमन्त्रित

किया गया। मुझसे कहा गया कि प्रश्नकर्ता मुझसे फ्रेंच भाषा में प्रश्न पूछेगा, और जो वह कहेगा, उसे अंग्रेज़ी में ईयर फ़ोन के ज़रिए मेरे कान में पहुँचा दिया जाएगा। लेकिन हुआ यह कि उसकी अंग्रेज़ी का एक भी शब्द मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

इसी तरह एक दफ़ा वाशिंगटन में ऐसे ही एक कार्यक्रम में मुझे जाना पड़ा। फर्क यह था यहाँ मैं स्टुडियो में अकेला था। प्रश्नकर्ता न्यूयॉर्क से मुझसे बात कर रहा था। मुझे सामने लगे पर्दे पर देखने को कहा गया जिस पर उसका नहीं, मेरा चेहरा दिखाई देता था। इससे मुझे बहुत परेशानी हुई। खुद अपने से बात करते हुए मैं इतना गड़बड़ा जाता था कि शब्द ही नहीं निकलते थे।

मैं जब कभी विदेश जाता हूँ, अन्य धर्मों के अधिक-से-अधिक लोगों से सम्पर्क करने का प्रयत्न करता हूँ, जिससे अन्तरधर्मीय संवाद किया जा सके। एक दफ़ा कुछ ईसाई मुझे मिले जो स्वयं इसी प्रकार का संवाद चाहते थे। इसके लिए भिक्षुओं के आदान-प्रदान की व्यवस्था की गई, जिसके अन्तर्गत कुछ तिब्बती भिक्षु कई हफ्तों के लिए एक ईसाई मठ में जाकर रहे, और कुछ ईसाई भिक्षु भारत आए। यह आदान-प्रदान दोनों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। जहाँ तक हमारा प्रश्न है, हमें दूसरे लोगों के सोचने के ढंग की गहरी जानकारी प्राप्त हुई।

मुझे जिन धर्म-नेताओं से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ है, उनमें से मैं कुछ ईसाई नाम रेखांकित करना चाहूँगा—यहाँ मैं यह भी कहूँ कि मुझे अनेक धार्मिक परम्पराओं के अद्‌भुत लोगों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वर्तमान पोप के प्रति मेरे मन में बड़ा आदर है। पहली बात यही, कि हमारी प्रायः एक समान पृष्ठभूमि हमें तुरन्त चर्चा के एक जैसे विषय प्रदान कर देती है। पहली दफ़ा जब मैं उनसे मिला, वे मुझे बहुत व्यावहारिक और खुले दिमाग़ के व्यक्ति प्रतीत हुए। लेकिन मुझे सन्देह नहीं कि उनका आध्यात्मिक स्तर भी बहुत ऊँचा था। जो व्यक्ति अपने भावी हत्यारे को 'भाई' कहकर पुकार सकता है—जो उन्होंने कहा—उसे बहुत विकसित आध्यात्मिक व्यक्तित्व ही कहा जाएगा।

मदर टेरेसा, जिनसे मैं सन् 1988 में ऑक्सफोर्ड के एक सम्मेलन से लौटते हुए दिल्ली हवाई अड्डे पर मिला—उन्होंने भी इस सम्मेलन में भाग लिया था—उनसे मैं अत्यन्त प्रभावित रहा। उनका अत्यन्त नम्र व्यक्तित्व देखकर मैं चकित रह गया। बौद्ध दृष्टि से देखने पर उन्हें बोधिसत्व मानना होगा।

एक और व्यक्ति जिन्हें मैं बहुत ऊँचा स्थान देता हूँ, एक कैथोलिक भिक्षु हैं जो स्पेन में मॉनसेरात के पास एक आश्रम में रहते हैं। पूर्व के साधुओं की तरह उन्होंने यहाँ कई वर्ष केवल रोटी, पानी और ज़रा-सी चाय पर बिताए। वे बहुत कम अंग्रेज़ी बोल पाते थे—मैं भी कम—लेकिन उनकी आँखों पर नज़र डालते ही मैं

समझ गया कि मैं एक अत्यन्त विकसित व्यक्तित्व के सामने खड़ा हूँ। मैंने उनसे प्रश्न किया कि ध्यान के विषय क्या हैं? तो उन्होंने बड़ी सरलता से उत्तर दिया—'प्रेम'। इसके बाद मैं उन्हें प्राचीन तिब्बती सन्त मिलारेपा के आधुनिक रूप में देखने लगा—मिलारेपा एक पहाड़ी गुफ़ा में रहकर ध्यान करते और आध्यात्मिक कविता लिखते रहते थे।

एक धर्मनेता जिनसे मेरी कई दफ़ा बड़ी लाभदायक चर्चाएँ हुईं, केंटबरी के आर्क-बिशप डॉ. राबर्ट रन्सी थे—जिनके साहसी दूत टेरी ह्वाइट को मैं हमेशा अपनी प्रार्थना में याद करता हूँ। हम दोनों एक मत हैं कि धर्म तथा राजनीति दोनों का मिश्रण होना चाहिए और यह कि धर्म का स्पष्ट कर्त्तव्य मानवता की सेवा करना है, कि उसे तथ्य की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। धार्मिक व्यक्तियों का प्रार्थना करना ही काफ़ी नहीं है। उनका यह नैतिक कर्तव्य है कि वे संसार की समस्याएँ सुलझाने में अपना पूरा योगदान करें।

मुझे याद है एक दफ़ा एक भारतीय राजनीतिज्ञ ने इसके लिए मुझे आड़े हाथों लिया। उसने मुझसे बहुत नम्रता से कहा, "हम राजनीतिज्ञ हैं, धार्मिक व्यक्ति नहीं। हमारी पहली चिन्ता राजनीति के माध्यम से जनता की सेवा करना है।" इस पर मेरा उत्तर था, 'राजनीतिज्ञों को कुटिया में बैठे साधु की अपेक्षा धर्म की ज़्यादा ज़रूरत है। यदि साधु बुरे उद्देश्य से कुछ करता है, तो वह अपनी ही हानि करता है। लेकिन अगर राजनीतिज्ञ, जो समाज के एक बड़े वर्ग को अपने कार्यों से प्रभावित करता है, बुरे उद्देश्य से कोई काम करता है तो वह बहुतों को हानि पहुँचाता है। मुझे राजनीति और धर्म के बीच कोई विरोध नज़र नहीं आता। जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है, मैं हर अच्छे काम को धार्मिक कार्य मानता हूँ। इसके विपरीत किसी मन्दिर या गिरजे में कुछ लोग किसी बुरे उद्देश्य से एकत्र होते हैं, तो प्रार्थना करते हुए भी वे कोई धार्मिक कृत्य नहीं करते।

अपनी यात्राओं में मेरा अनेक राजनीतिज्ञों से भी सम्पर्क हुआ है, यद्यपि इसके लिए मैं कभी पहल नहीं करता। इनमें एक ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एडवर्ड हीथ थे, जिनसे मैं चार बार मिला। नेहरू जी की तरह पहली भेंट में उन्हें भी मेरी बातें समझ पाने में कठिनाई हुई। लेकिन इसके बाद की तीनों भेंटों में हमने तिब्बत तथा चीन की समस्या पर देर तक लम्बी बात की, और इनमें उन्होंने तिब्बत में चीन की कृषि सम्बन्धी सफलताओं पर बड़ा उत्साह व्यक्त किया। वे कुछ दिन पहले ही तिब्बत होकर आए थे और उन्होंने कहा कि अब तिब्बत में बहुत परिवर्तन हो गए हैं—और दलाई लामा का समर्थन भी बहुत कम हो गया है। नई पीढ़ी में तो विशेष रूप से यह परिवर्तन देखा जा रहा है।

एक इतने बड़े राजनीतिज्ञ के मुँह से, जिनका बीजिंग के साथ हमेशा गहरा सम्पर्क रहा, ये बातें मुझे बड़ी अजीब लगीं। जो हो, मैंने उनसे कहा कि मेरी चिन्ता

दलाई लामा की स्थिति के बारे में नहीं है, वहाँ की साठ लाख जनता के बारे में है जिस पर चीन ने कब्ज़ा कर लिया है। इसके बाद मैंने उनसे कहा कि जहाँ तक मेरी जानकारी है, इसके समय तिब्बत के युवाओं में दलाई लामा के लिए सबसे ज़्यादा समर्थन है, और मेरे निर्वासन ने तिब्बती जनता को एकजुट करने में सबसे ज़्यादा योगदान किया है।

इन मतभेदों के बावजूद हमारा सम्बन्ध बना रहा और विश्व राजनीति की उनकी समझ का मैं हमेशा कायल रहा। लेकिन इसी के साथ मैं चीनियों की धोखाधड़ी और बहकावे की राजनीति का भी लोहा मान गया, कि इस जैसे अनुभवी राजनेता को भी प्रभावित करने में वे सफल हुए।

पिछले कुछ दशकों का एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रभाव यह है कि पाश्चात्य देशों में बौद्ध धर्म के प्रति रुचि बड़ी तेज़ी से बढ़ी है। मैं इसे कोई विशेष महत्व नहीं देता, यद्यपि यह जानकर खुशी होती है कि दुनिया में तिब्बती बौद्ध धर्म के पाँच सौ से ज़्यादा केन्द्र खुल गए हैं, जिनमें से अनेक यूरोप तथा अमेरिका में हैं। यदि बौद्ध क्रियाओं से किसी को कुछ लाभ होता है तो यह प्रसन्नता की बात है। लेकिन जब कभी कोई मुझसे धर्म-परिवर्तन की बात करता है, तो मैं उसे इस पर गम्भीरता से सोचने की सलाह देता हूँ। किसी भी नए धर्म में घुसने की चेष्टा मानसिक संकट का कारण बनती है और यह कार्य हमेशा बहुत कठिन होता है।

फिर भी, जिन स्थानों में बौद्ध धर्म एकदम नया है, मैंने उन लोगों के लाभ के लिए कई दफ़ा अनुष्ठानों का आयोजन भी किया है। उदाहरण के लिए, भारत के बाहर एक से ज़्यादा देशों में मैंने कालचक्र का आयोजन किया है—जिसका एक उद्देश्य तो तिब्बती संस्कृति और जीवन का लोगों को परिचय देना है, और दूसरा, गहरे आन्तरिक धरातल पर, विश्व शान्ति के लिए प्रयत्न करना है।

पश्चिम में बौद्ध धर्म के प्रसार की चर्चा करते हुए मैं एक बात यह कहना चाहता हूँ कि इन नए अभ्यासियों में साम्प्रदायिकता की कुछ प्रवृत्ति है। यह बिल्कुल गलत है। धर्म को कभी झगड़े का कारण नहीं बनने देना चाहिए, जो मनुष्य समाज के विभाजन का एक और कारण है। जहाँ तक मेरा अपना प्रश्न है, मैंने अपने इस विश्वास के कारण कि सभी धर्म मनुष्य की सुख वृद्धि में अपना-अपना योगदान कर सकते हैं, अन्य धर्मों के कार्यक्रमों में अक्सर भाग लिया है। और, प्राचीन तथा आधुनिक अनेक तिब्बती लामाओं के अनुकरण पर मैंने अधिक-से-अधिक परम्पराओं से शिक्षाएँ ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। क्योंकि यद्यपि यह सच है कि बहुत-सी परम्पराओं में अपने अनुयायियों की उन्हीं की सीमाओं में बने रहने को ही उचित माना है, लेकिन लोगों को हमेशा यह स्वतन्त्रता प्राप्त रही है कि वे जो ठीक समझें,

करें। इसके अतिरिक्त, तिब्बती समाज हमेशा अन्य धर्मों तथा विश्वासों के प्रति सहिष्णु रहा है। तिब्बत में न केवल मुस्लिम धर्म के मानने वाले हैं, बल्कि यहाँ अनेक ईसाई मिशन भी काम करते रहे हैं। इसलिए मैं हमेशा उदार दृष्टिकोण का समर्थक रहा हूँ। सम्प्रदायवाद विष है।

जहाँ तक मेरे अपने धार्मिक अभ्यासों का प्रश्न है, मैं अपना जीवन इस प्रकार बिताने का प्रयत्न करता हूँ, जिसे बोधिसत्व आदर्श कहा जाता है। बौद्ध धर्म के अनुसार बोधिसत्व बुद्धत्व की दिशा में अग्रसर वह व्यक्ति है जो प्रत्येक जीवित प्राणी के दुखों को नष्ट करने के लिए अपना जीवन अर्पित कर देता है। इस शब्द का अर्थ सही-सही समझने के लिए इसका सन्धि विच्छेद, 'बोधि' तथा 'सत्व' में करना आवश्यक है। 'बोधि' का अर्थ है जीवन की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान और 'सत्व' वह है जो वैश्विक करुणा से संचालित है। इस प्रकार बोधिसत्व आदर्श का अर्थ हुआ अन्तहीन ज्ञान द्वारा अन्तहीन करुणा का आचरण। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए मैंने बौद्ध भिक्षु का जीवन चुना। तिब्बती भिक्षु के लिए 253 नियम विहित हैं—भिक्षुणियों के लिए 364—और इनका यथा सम्भव पालन करके मैं जीवन के अनेक व्यवधानों तथा चिन्ताओं से मुक्त हो जाता हूँ। इनमें से अनेक नियम तो व्यवहार से ही सम्बन्धित हैं, जैसे भिक्षु को मठाध्यक्ष से कितने पीछे चलना चाहिए, शेष उसके आचार का नियमन करते हैं। चार मूल नियम हैं : कि उसे हत्या, चोरी और असत्य-भाषण नहीं करना चाहिए तथा कड़ाई से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। यदि वह इनमें से कोई भी नियम तोड़ता है तो उसका भिक्षुत्व समाप्त हो जाता है।

मुझसे कई दफ़ा प्रश्न किया जाता है कि क्या ब्रह्मचर्य का नियम आवश्यक है, और क्या यह सम्भव भी है। यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि इसका तात्पर्य कामेच्छा का दमन करना मात्र नहीं है। इसके विपरीत, आवश्यक यह है कि वासनाओं की सत्ता स्वीकार की जाए और तर्क बुद्धि के द्वारा उनके पार पाया जाए। इसमें जब सफलता मिलती है तो मन पर बड़ा लाभदायक प्रभाव पड़ता है। कामेच्छा की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यह अंधी वासना है। यह कहना कि 'मैं अमुक व्यक्ति के साथ संसर्ग करना चाहता हूँ' इस प्रकार बुद्धि से संचालित वक्तव्य नहीं है जिस प्रकार यह कहना कि, 'मैं दुनिया में फैली ग़रीबी को दूर करना चाहता हूँ' बुद्धि से संचालित वक्तव्य है। इसके अतिरिक्त कामेच्छा की तृप्ति मनुष्य को हमेशा अस्थायी सुख ही प्रदान करती है। जैसा, भारतीय विद्वान नागार्जुन ने कहा है :

'जब आपको खुजली मचती है
तब आप खुजा लेते हैं,
लेकिन खुजली ही न मचे
यह स्थिति खुजाते रहने से कहीं बेहतर है।'

मेरा दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार है : मैं प्रतिदिन कम-से-कम साढ़े पाँच घंटे प्रार्थना, ध्यान और अध्ययन में व्यतीत करता हूँ। इसके अतिरिक्त अथवा जब भी समय मिलता है, जैसे भोजन के समय अथवा यात्राओं में, तब भी मैं प्रार्थना करता हूँ। यात्रा के समय प्रार्थना करने में मेरे तीन उद्देश्य होते हैं : पहला, अपने दैनिक कर्तव्य का पालन; दूसरा, खाली समय का सही उपयोग; तीसरा, इससे भय का निराकरण होता है। गम्भीरता से अपनी बात कहूँ, तो मैं धार्मिक आचार और दैनिक जीवन में कोई भेद नहीं मानता। धर्माचार पूरे चौबीस घंटे का कार्यक्रम है। वास्तव में, जागने से लेकर चलने तक, और खाने-पीने तथा सोने के लिए भी अलग-अलग प्रार्थनाएँ हैं। तन्त्र के अभ्यासियों के लिए, गहरी नींद तथा स्वप्नावस्था के लिए जो क्रियाएँ विहित हैं, वे मृत्यु की तैयारी के लिए बहुत आवश्यक है।

मेरे लिए प्रभात का समय अभ्यास के लिए सर्वोत्तम है। उस समय मन एकदम ताज़ा और तेज़ होता है। इसलिए मैं चार बजे के लगभग उठता हूँ। जागने के बाद मैं मन्त्रोच्चारण से दिन का आरम्भ करता हूँ। फिर मैं गर्म जल पीता हूँ और अपनी औषधियाँ लेता हूँ। इसके बाद लगभग आधे घंटे तक विविध बुद्धों के समक्ष लेटकर उनकी वन्दना करता हूँ। इसके उद्देश्य दो हैं : पहला, मेरी पुण्य वृद्धि होती है; दूसरा, शरीर की कसरत हो जाती है। अब मैं स्नान करता हूँ और उसके साथ प्रार्थना भी करता जाता हूँ। फिर मैं टहलने जाता हूँ, साथ ही प्रार्थना करता रहता हूँ। सवा पाँच बजे नाश्ता करता हूँ। इसमें मैं आधा घंटा लगाता हूँ—नाश्ता भारी होता है—और धर्मशास्त्रों का पाठ करता जाता हूँ।

पौने छह से आठ बजे तक मैं ध्यान करता हूँ; बीच में साढ़े छह बजे बी.बी.सी. वर्ल्ड सर्विस के समाचार सुनता हूँ। फिर आठ बजे से दोपहर तक मैं बौद्ध दर्शन का अध्ययन करता हूँ। साढ़े बारह बजे लंच के समय तक मैं समाचार पत्र अथवा सरकारी चिट्ठी-पत्री देखता हूँ, लेकिन भोजन करते हुए मैं पुनः शास्त्र-पाठ करता हूँ। एक बजे मैं कार्यालय जाता हूँ और पाँच बजे तक ज़रूरी कामकाज निबटाता हूँ और भेंट के लिए आए लोगों से मिलता हूँ। इसके बाद घर लौटकर मैं फिर थोड़ी देर प्रार्थना और ध्यान करता हूँ। अब यदि दूरदर्शन पर कुछ अच्छा कार्यक्रम हो तो छह बजे चाय पीने से पहले मैं उसे देखता हूँ। चाय के साथ मैं शास्त्र-पाठ करता रहता हूँ, फिर आठ से नौ बजे तक प्रार्थना करता हूँ। इसके बाद मैं सोने चला जाता हूँ। बड़ी गहरी नींद आती है।

इस कार्यक्रम में व्यवधान भी पड़ता है। सवेरे कई दफ़ा मैं पूजा में भाग लेता हूँ, या अपराह्न में कहीं प्रवचन करने चला जाता हूँ। लेकिन सुबह और शाम प्रार्थना तथा ध्यान के कार्यक्रमों में मैं कभी कोई परिवर्तन नहीं करता।

इस कार्यक्रम का तर्क शास्त्र बहुत सादा है। इसके पहले भाग में जब मैं नमन तथा प्रार्थना करता हूँ, तब मैं बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाता हूँ। दूसरी

स्थिति है बोधिचित्त, अथवा शुद्ध हृदय, का विकास। इसके लिए पहला विचार यह है कि प्रत्येक वस्तु अस्थायी है और दूसरा यह कि सत्ता की वास्तविक प्रकृति दुख है। इन दो विचारों के आधार पर परोपकार की भावना विकसित की जा सकती है।

अपने भीतर परोपकार, अथवा करुणा, की भावना विकसित करने के लिए मैं कुछ मनोक्रियाओं का अभ्यास करता हूँ, जिनसे सब जीवित प्राणियों के लिए, और विशेषकर अपने शत्रुओं के लिए, मेरे मन में प्रेम का भाव उत्पन्न होता है, उदाहरण के लिए, मैं स्वयं को यह बताता हूँ कि मनुष्य स्वयं नहीं, बल्कि उनके कार्य उन्हें मेरा शत्रु बनाते हैं। यदि उनका व्यवहार बदल दिया जाए तो वे ही मेरे मित्र बन जाएँगे।

मेरे ध्यान का शेष भाग शून्य से सम्बन्धित होता है। इसमें मैं परस्परावलंबन के सबसे सूक्ष्म अर्थ पर ध्यान केन्द्रित करता हूँ। इस अभ्यास के एक भाग को 'देवता योग' या 'ल्हाई नालजोर' कहते हैं जिसमें मैं विभिन्न मंडलों के प्रयोग द्वारा स्वयं की विभिन्न 'देवताओं' के रूप में कल्पना करता हूँ—लेकिन इसका अर्थ स्वतन्त्र बाह्य देवताओं से नहीं समझना चाहिए। ऐसा करते हुए मेरा मन उस बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है, जहाँ वह इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचनाओं से मुक्त हो जाता है। यह आत्मविस्मृति की अवस्था नहीं है, इसमें मेरा मस्तिष्क पूर्णतः सचेत रहता है; इसे शुद्ध चेतना की स्थिति भी कह सकते हैं। इसको समझाना बहुत सरल नहीं है, ठीक इसी प्रकार जैसे वैज्ञानिक को 'आकाश काल' की धारणा को समझाना कठिन है। 'शुद्धमन' की धारणा को न भाषा व्यक्त कर सकती है और न दैनिक जीवन का कोई अनुभव। यहाँ यह भी कहूँ कि यह अभ्यास सरल नहीं है, इसे सिद्ध करने में वर्षों लगते हैं।

मेरे दैनिक अभ्यास का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है मृत्यु का विचार। मेरी दृष्टि में, आप अपने जीवन में मृत्यु के सम्बन्ध में दो काम कर सकते हैं। या तो आप इसकी उपेक्षा करने का निश्चय कर सकते हैं, जिस स्थिति में आप कुछ समय के लिए इस विचार को स्वयं से दूर रखने में कुछ सफलता प्राप्त कर सकते हैं; या आप स्वयं अपनी मृत्यु का सामना करें और उसका विश्लेषण करने का प्रयत्न करें, जिस स्थिति में आप कुछ सीमा तक उससे होने वाले कष्ट से स्वयं को बचा सकते हैं। लेकिन इन दोनों में से किसी भी विधि से आप उसे जीत नहीं सकते। बौद्ध होने के कारण मैं उसे जीवन की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग मानता हूँ; ऐसा तथ्य मानता हूँ जो इस संसार में रहते हुए मेरे साथ अवश्य घटित होगा। अब यह जानकर कि इससे बचा नहीं जा सकता, मैं इसकी चिन्ता करना बंद कर देता हूँ। अब मैं यह मान लेता हूँ कि यह कपड़े बदलने के समान है, जैसे जीर्ण-शीर्ण हो जाने के बाद उतारकर नए कपड़े पहन लिए जाते हैं। यह अन्त नहीं होता। लेकिन

मृत्यु का समय निश्चित नहीं है—आप नहीं जानते कि वह कब और किस प्रकार आएगी। इसलिए उचित यह है कि इसके आने के पहले कुछ सावधानियाँ बरत ली जाएँ।

बौद्ध होने के कारण मैं यह भी मानता हूँ कि मृत्यु का वास्तविक अनुभव किया जाना बहुत आवश्यक है। इसके बाद ही जीवन के सबसे गहरे तथा उपयोगी अनुभव प्राप्त किए जा सकते हैं। इस कारण अनेक प्राचीन गुरुओं ने पृथ्वी के जीवन से स्वयं मुक्त होने का अनुभव लिया है—अर्थात् ध्यान की अवस्था में वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जब इस प्रकार उनकी मृत्यु होती है तब उनका शरीर लम्बे समय तक सड़ना शुरू नहीं होता।

मेरी आध्यात्मिक जीवनचर्या तब परिवर्तित होती है, जब मैं एकान्तवास के लिए कहीं जाता हूँ। इन अवसरों पर मैं अपने सामान्य अभ्यासों के अतिरिक्त भी कुछ विशेष ध्यान-साधनाएँ करता हूँ। सुबह के नाश्ते से दोपहर तक ध्यान तथा बौद्ध दर्शन के अध्ययन के स्थान पर मैं ये क्रियाएँ करता हूँ। ध्यान और अध्ययन मैं दोपहर के बाद कर लेता हूँ। फिर चाय लेने के बाद पुराना क्रम चलता है। लेकिन नियम सख्त नहीं हैं, इनमें फेरबदल हो सकता है। अनेक बार बाहरी दबावों के कारण मुझे दफ्तरी कामों में उलझना पड़ता है, या यहाँ भी लोगों से मिलना-जुलना पड़ता है। उस समय मैं हर काम को सही ढंग से करने के लिए कुछ घंटे नींद की बलि दे देता हूँ।

एकान्तवास का उद्देश्य व्यक्ति को अपना आन्तरिक विकास शीघ्रता से करने की सुविधा देना है। लेकिन, मुझे इसके अवसर बहुत कम प्राप्त होते हैं। यदि मुझे वर्ष में एक-एक सप्ताह के दो अवसर भी प्राप्त हो जाएँ तो मैं अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ; हालाँकि कभी-कभी मैं पूरा महीना भी निकाल पाने में सफल हुआ हूँ। सन् 1973 में मेरी बड़ी इच्छा थी कि तीन वर्ष का समय इस साधना के लिए निकाल सकूँ, लेकिन परिस्थितियों ने मेरा साथ नहीं दिया। मैं अब भी सोचता हूँ कि कभी इतना समय प्राप्त कर सकूँ। उस समय तक, मुझे बार-बार बैटरी चार्ज करने की तरह—मैं इसे यही संज्ञा देता हूँ—यह कार्य करते रहना पड़ेगा। इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति करने के लिए एक सप्ताह का समय काफ़ी नहीं है, लेकिन इसीसे मैं काम चलाने की कोशिश करता हूँ। मन को अधिक विकसित करने के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है। इस कारण मैं स्वयं को अभी आध्यात्मिक विकास की पहली कक्षा का ही छात्र मानता हूँ।

वास्तव में इस कार्य के लिए इतना कम समय निकाल पाने का एक कारण यह है कि मुझे यात्राएँ बहुत करनी पड़ती हैं, हालाँकि इसका मुझे खेद नहीं है। यात्राओं में मुझे अनेक लोगों के साथ अपने अनुभव बाँटने का और उनके सहयोग से अपने

उद्देश्य में अधिक आशावादी होने का अवसर प्राप्त होता है। और यदि मैं कभी इस प्रकार अभ्यास कर पाऊँ तो यह इसीलिए करूँगा कि मैं बौद्ध भिक्षु हूँ; इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं यह मानता हूँ कि बौद्ध धर्म के द्वारा ही लोग स्वयं को तथा दूसरों को सुख प्रदान कर सकते हैं। इसके विपरीत, मेरा विश्वास यह है कि जो लोग धर्म को मानते ही नहीं, उनके लिए भी सुख की प्राप्ति सम्भव है। मैं बौद्ध धर्म को उदाहरण के रूप में ही प्रस्तुत करता हूँ, क्योंकि जीवन के अनुभवों ने मेरा इसमें विश्वास सुदृढ़ किया है। इसके अलावा, छह साल की उम्र से भिक्षु होने के कारण मुझे इसका कुछ ज्ञान भी है।

12

'जादू और रहस्य'

मुझसे अक्सर तिब्बती बौद्ध धर्म के जादुई लगने वाले पहलुओं के बारे में प्रश्न पूछे जाते हैं। अनेक पश्चिमी देशों के निवासी यह जानना चाहते हैं कि लोबसांग राम्पा तथा कुछ दूसरे लोगों ने तिब्बत के बारे में जो पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें उन्होंने वहाँ की गूढ़ पराभौतिक क्रियाओं का उल्लेख किया है, क्या वे सत्य हैं। वे पूछते हैं कि शंबाला—कुछ धर्म ग्रन्थों में उल्लिखित प्रसिद्ध देश जिसे उत्तरी तिब्बत के पहाड़ों में स्थित बताया जाता है—क्या सचमुच कहीं है? फिर, साठ के दशक के आरम्भ में मुझे एक प्रख्यात वैज्ञानिक का पत्र प्राप्त हुआ था, कि उसने सुना है कुछ बड़े लामा जो अतिप्राकृतिक करतब दिखाते हैं, उनकी सत्यता जानने के लिए क्या वह प्रयोग कर सकता है?

पहले दो प्रश्नों के उत्तर में मैं प्रायः यह कहता हूँ कि इनमें से अधिकांश पुस्तकें कल्पना की उपज हैं, और शंबाला भी है, परन्तु सामान्य अर्थों में नहीं। साथ ही, यह न मानना भी गलत होगा कि कुछ तान्त्रिक क्रियाएँ रहस्यमय तत्त्वों को जन्म देती हैं। इस कारण मैंने काफ़ी हद तक यह निर्णय कर लिया था कि वैज्ञानिक को लिखूँ कि उसने जो सुना है, वह सत्य है, और यह भी कि मैं प्रयोग करने का समर्थक हूँ; लेकिन मुझे खेदपूर्वक उसे यह लिखना पड़ा कि जिस व्यक्ति के ऊपर ये प्रयोग किए जा सकते हैं, उसका अभी जन्म नहीं हुआ है। वास्तव में, उस समय ऐसे अनेक व्यावहारिक कारण थे जिनके कारण इस प्रकार की जाँच-पड़ताल में भाग लेना सम्भव नहीं था।

परन्तु उसके बाद कुछ विशेष क्रियाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए मैंने स्वीकृति दी है। इनमें से पहला अध्ययन डॉ. हर्बर्ट बेनसन ने किया था, जो अमेरिका के हार्वर्ड मेडिकल स्कूल में बिहेवियरल मेडिसिन विभाग के अध्यक्ष थे। सन् 1979 की अपनी यात्रा के दौरान जब मैं उनसे मिला, तो उन्होंने मुझे बताया कि वे ध्यान के समय किसी व्यक्ति द्वारा अनुभूत शारीरिक स्थिति का विश्लेषण कर रहे हैं, जिसे उन्होंने 'शिथिलीकरण का प्रभाव' नाम दिया है। उन्होंने कहा कि यदि ध्यान के उन्नत अभ्यासियों पर ये प्रयोग किए जाएँ तो यह अध्ययन अधिक सटीक हो सकेगा।

आधुनिक विज्ञान के प्रबल समर्थक के रूप में मैंने तय किया कि यह प्रयोग उन्हें करने दिया जाये, हालाँकि मैं कुछ हिचक भी रहा था। मैं जानता था कि कई तिब्बती इसके पक्ष में नहीं हैं। उनका मानना था कि चूँकि ये क्रियाएँ गुप्त विधाओं की देन हैं, इसलिए इन्हें गुप्त ही रहने देना चाहिए। इस विचार के विरुद्ध मैंने यह विचार रखा कि इस प्रकार के अध्ययन से न केवल विज्ञान को बल्कि धार्मिक अभ्यासकर्ताओं को भी लाभ हो सकता है, जिसका लाभ फिर सम्पूर्ण मानवता को प्राप्त हो सकेगा।

यह अध्ययन किया गया और डॉ. बेनसन ने इसके परिणामों को विलक्षण उपलब्धियाँ माना। (इसके परिणाम कई किताबों और, सुप्रसिद्ध *'नेचर'* सहित, कई पत्रिकाओं में प्रकाशित किए गए।) वे दो सहायकों तथा एकदम आधुनिक यन्त्रों के साथ भारत आए और धर्मशाला के निकट कुछ मठों में, और लद्दाख तथा सिक्किम के मठों में कई भिक्षुओं के ऊपर उन्होंने ये प्रयोग किए।

ये भिक्षु तुम-मो नामक योग के अभ्यासी थे, जो तन्त्र की कुछ शाखाओं में कुशलता दर्शाता है। इसमें चक्रों तथा नाड़ियों पर ध्यान लगाकर अभ्यासी चेतना के स्थूल स्तरों के कार्य को कुछ समय के लिए स्थगित कर उसके सूक्ष्म स्तरों का अनुभव कर सकता है। बौद्ध चिन्तन के अनुसार चेतना के कई स्तर होते हैं। स्थूल स्तर पर इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्त होता है—जैसे स्पर्श, दृष्टि, घ्राण इत्यादि—और सूक्ष्म स्तरों का अनुभव मृत्यु के बिन्दु पर होता है। तन्त्र का एक उद्देश्य मनुष्य को मृत्यु का 'अनुभव' देना है जिससे उसको अध्यात्म के सबसे शक्तिमान अनुभव प्राप्त हो सकें।

जब चेतना के स्थूल स्तरों को दबाया जाता है, तब शारीरिक प्रतिक्रियाएँ देखी जा सकती हैं। डॉ. बेनसन के प्रयोगों में इससे शरीर का तापमान 18° फारेनहाइट (10 सेंटीग्रेड) तक बढ़ गया—इसे शरीर के भीतर तथा बाहर, गुदा तथा त्वचा के थर्मामीटरों से अलग-अलग पाया गया। इस बढ़े हुए तापमान ने भिक्षुओं के शरीर पर लपेटे गए गीले वस्त्रों को सुखा दिया, हालाँकि इस समय वायुमंडल का तापमान शून्य से भी काफ़ी कम था। डॉ. बेनसन ने भिक्षुओं को बर्फ पर नग्न बिठाकर भी अनेक परीक्षण किए। उन्होंने पाया कि वे बिना शरीर का ताप़मान खोये रात भर स्थिर बैठे रह सकते हैं। उन्होंने यह भी गणना की कि इस बीच अभ्यासी का ऑक्सीजन लेने का अनुपात भी एकदम घटकर एक मिनट में लगभग सात साँसों तक पहुँच जाता है।

मानव शरीर और उसकी कार्यप्रणाली का हमारा ज्ञान अभी इतना पर्याप्त नहीं है कि इन क्रियाओं का स्पष्टीकरण दिया जा सके। डॉ. बेनसन मानते हैं कि इस अवधि की मानसिक क्रियाएँ अभ्यासी के शरीर में मौजूद भूरी चर्बी को जलाने का कार्य करती हैं—पहले माना जाता था कि यह प्रक्रिया बर्फीले देशों में एक जगह बैठे रहकर सर्दियाँ बिताने वाले जानवरों में ही होती है। यह कुछ भी हो, मेरी रुचि

केवल इस बात में है कि तिब्बती संस्कृति में आधुनिक विज्ञान को सिखाने लायक तत्त्व विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त भी ऐसे कई क्षेत्र हैं जिनमें हमारे अनुभवों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, मैं किसी दिन दिव्य वक्ताओं के कार्य तथा प्रक्रिया पर भी वैज्ञानिक अनुसंधान का आयोजन करना चाहता हूँ—तिब्बती संस्कृति का यह भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

इनके विषय में विस्तार से कुछ बताने से पहले मैं यह बताऊँ कि दिव्य-वक्ताओं का कार्य केवल भविष्य बताना ही नहीं है, हालाँकि सामान्यतः यही समझा जाता है। इसके अलावा भी उनके कई काम हैं। वे रक्षक का कार्य भी करते हैं और कुछ स्थितियों में रोग निवारक का भी। उनका प्रमुख कार्य धर्म-पालन में लोगों की सहायता करना है। दूसरी बात यह कि 'दिव्य-वक्ता' शब्द भ्रमपूर्ण हैं इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसे लोग जिन्हें यह शक्ति प्राप्त है। यह सही नहीं है। तिब्बत की परम्परा में कुछ स्त्री या पुरुष ऐसे होते हैं जो प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक शास्त्रियों के बीच माध्यम का कार्य करते हैं। इन्हें 'कुतेन' कहते हैं जिसका शब्दिक अर्थ है? 'भौतिक आधार'। यहाँ मैं यह स्पष्ट करूँ कि दिव्य-वक्ताओं को व्यक्ति केवल सुविधा के लिए माना जाता है। उन्हें 'शक्तियाँ' मानना ज़्यादा सही होगा, जो किन्हीं वस्तुओं—जैसे मूर्तियों, व्यक्तियों या स्थानों से जुड़ी होती हैं। इन्हें स्वतन्त्र सत्ताएँ मानना सही नहीं होगा।

प्राचीन काल में सारे तिब्बत प्रदेश में सैकड़ों दिव्य-वक्ता रहे होंगे। उनमें से कुछ ही शेष रहे, और जिनका उपयोग सरकार करती थी, वे अब भी हैं। इनमें प्रमुख नेचुंग हैं। इसके माध्यम से दलाई लामा की संरक्षक शक्तियों में से एक, दोरजे द्राकेन, व्यक्त होते हैं।

नेचुंग भारतीय सन्त धर्मपाल के एक वंशज के साथ तिब्बत आया था, और पहले मध्य एशिया के बाताहोर नामक स्थान में बस गया था। आठवीं शताब्दी में राजा त्रिसोंग द्रेत्सेन के शासन-काल में उसे तिब्बत के सर्वोपरि तान्त्रिक तथा अध्यात्म-गुरु पद्मसम्भव द्वारा साम्ये मठ का रक्षक नियुक्त किया गया था। (साम्ये वास्तव में तिब्बत का प्रथम बौद्ध मठ था और एक अन्य भारतीय विद्वान और मठाधीश शान्त रक्षित ने उसकी स्थापना की थी।) इसके बाद दूसरे दलाई लामा ने नेचुंग से घनिष्टता स्थापित की—नेचुंग इस समय तक द्रेपुंग मठ के साथ भी जुड़ गया था। इसके बाद दोरजे द्राकेन को दलाई लामाओं का व्यक्तिगत रक्षक नियुक्त किया गया।

इसके बाद सैकड़ों वर्षों से दलाई लामा और उनकी सरकार नववर्ष के उत्सव पर नेचुंग से सलाह लेते रहे हैं। इसके अलावा भी यदि कभी कोई समस्या उत्पन्न होती है, तो उससे प्रश्न किए जाते हैं। मैं भी साल में कई दफ़ा उससे सलाह लेता हूँ। आधुनिक युग के पाश्चात्य पाठकों को यह बातें अजीब लग सकती हैं। कुछ

तिब्बती भी जो अपने को 'प्रगतिशील' कहना पसन्द करते हैं, मेरे इस पुराने ढंग से सूचनाएँ एकत्र करने के कार्य को उचित नहीं मानते। लेकिन मैं यह सिर्फ इसलिए करता हूँ क्योंकि अनेक अवसरों पर जब भी मैंने उससे प्रश्न किए हैं, तब हमेशा उसके उत्तर सही साबित हुए हैं। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मैं केवल दिव्य-वक्ता के ही उत्तर पर काम करता हूँ। ऐसा बिल्कुल नहीं है। मैं उसकी सलाह ठीक इसी तरह ग्रहण करता हूँ जैसे मैं अपने मंत्रिमंडल की सलाह या स्वयं अपनी आत्मा की सलाह ग्रहण करता हूँ। मैं देवताओं को अपनी 'प्रवर परिषद्' मानता हूँ। काशाग मेरी 'अवर परिषद्' है। अन्य सभी नेताओं की भाँति मैं राज्य सम्बन्धी निर्णय लेने के लिए दोनों से सलाह लेता हूँ। और कभी-कभी, मैं नेचुंग से सलाह लेने के साथ ही अन्य भविष्य वाणियों पर भी विचार करता हूँ।

एक दृष्टि से, तिब्बत के प्रति नेचुंग और दलाई लामा के दायित्व एक समान हैं, यद्यपि हम दोनों अलग-अलग ढंग से काम करते हैं। मेरा काम नेतृत्व का है जो शान्तिपूर्ण है; रक्षक की दृष्टि से उसका कार्य उद्वेगपूर्ण है। लेकिन एक ही कार्य होते हुए भी हमारे सम्बन्ध सेनापति और लेफ्टिनेंट के हैं। मैं उसके सामने कभी सिर नहीं झुकाता। नेचुंग ही दलाई लामा के सामने सिर झुकाता है। फिर भी हम एक दूसरे के बहुत करीब, मित्र की तरह हैं। जब मैं छोटा था, तब यह सम्बन्ध और भी निकट का था। नेचुंग मुझे बहुत चाहता था और मेरी बड़ी देखभाल करता था। उदाहरण के लिए, यदि वह देखता कि मैंने कपड़े ठीक से नहीं पहने हैं या उनमें कुछ और गड़बड़ है, तो वह खुद मेरे पास आकर उन्हें ठीक करता था, मेरा चोग़ा सही जगह पर फिट करता था, इत्यादि।

लेकिन इस निकटता के बावजूद नेचुंग ने हमेशा मेरे प्रति आदर व्यक्त किया है। यद्यपि शासन के साथ उसके सम्बन्ध, विशेष कर रीजेन्सी के अन्तिम वर्षों में, ख़राब हो गए, लेकिन जब कभी मेरे सम्बन्ध में उससे कुछ कहा जाता है, तो वह बड़े उत्साह के साथ उसे करता है। साथ ही, शासकीय नीतियों के सम्बन्ध में उसके उत्तर बड़े कठोर होते हैं। कई दफ़ा वह बड़ी व्यंग्यात्मक हँसी से उत्तर देता है। मुझे एक घटना विशेष रूप से याद है। तब मैं चौदह वर्ष का था। नेचुंग से चीन के बारे में एक प्रश्न किया गया। इसका सीधा उत्तर देने के स्थान पर कुतेन ने पूर्व दिशा में मुख करके उस ओर भयंकरता से सिर घुमाना शुरू किया। उसे इस तरह करते देखकर डर लगने लगा था, विशेष रूप से इसलिए कि उसके सिर पर मँढ़ा बहुत भारी टोप उसकी गर्दन को तोड़ दे सकता था। उसने करीब पन्द्रह दफ़ा यह काम किया, जिससे सबको विश्वास हो गया कि खतरा इसी दिशा से है।

नेचुंग के साथ व्यवहार करना आसान नहीं है। उसे बुलवाने के लिए बहुत समय तथा धैर्य की आवश्यकता होती हैं (वह बहुत शान्त तथा पवित्र प्रतीत होता है) जैसी किसी प्राचीन काल के श्रेष्ठ वृद्ध से की जा सकती है। छोटी-छोटी बातों

में उसे कोई रुचि नहीं होती, महत्त्वपूर्ण विषयों में ही उसकी रुचि होती है, इसलिए प्रश्नों की रचना बड़ी सावधानी से करनी होती है। उसकी निश्चित रुचियाँ तथा अरुचियाँ होती हैं, लेकिन वह आसानी से उन्हें व्यक्त नहीं करता।

धर्मशाला में नेचुंग का अपना मठ है लेकिन ज़्यादातर वह स्वयं मेरे पास आता है। औपचारिक कार्यक्रमों में वह कई परतों वाले बहुत शानदार वस्त्र पहनकर प्रकट होता है जिसके ऊपर सुनहरी झालर वाला चोग़ा, जिसमें लाल, नीले, हरे और पीले रंगों में प्राचीन डिज़ायन बने होते हैं। सीने पर एक गोल आईना जिसके चारों ओर पन्ना और फिरोज़ा लटके होते हैं और चमकती हुई स्टील पर दोरजे द्राकेन का संस्कृत मन्त्र लिखा होता है। प्रक्रिया आरम्भ करने से पहले वह अपने ऊपर एक तरह की ज़ीन बाँधता है जिसमें चार झंडे और तीन विजय के चिह्न बँधे होते हैं। इन सब चीज़ों का वज़न सत्तर पौंड होता है और सामान्य स्थिति में वह इन्हें लेकर सीधा चल भी नहीं सकता, आवेश में ही इन्हें सँभाल पाने में समर्थ होता है।

मन्त्रोच्चार तथा प्रार्थनाओं के साथ अनुष्ठान आरम्भ होता है, साथ ही तुरही, मँजीरे और ढोल बजते रहते हैं। कुछ देर बाद कुतेन आवेश में आने लगता है उसके सहायक उसे सँभाले रहते हैं और अब वे उसे मेरे सिंहासन के सामने रखे एक छोटे से स्टूल पर बिठा देते हैं। फिर, प्रार्थना का पहला चक्र समाप्त होकर दूसरा चक्र आरम्भ होता है और कुतेन का आवेश गहराने लगता है। यह स्थिति उत्पन्न होने पर उसके सिर पर तीस पौंड वज़न का एक बड़ा टोप रख दिया जाता है। पुराने ज़माने में इस टोप का वज़न अस्सी पौंड से अधिक होता था।

अब उसका चेहरा बदलने लगता है, आँखें बाहर निकल पड़ती हैं, गाल फूलने लगते हैं, और आकृति एकदम डरावनी लगने लगती है। साँसें धीरे चलने लगती हैं और मुँह से भयंकर फुँकार निकलनी शुरू हो जाती है। फिर अचानक उसकी साँसें रुक जाती हैं। अब उसका टोप इतने कसकर उससे बाँध दिया जाता है कि, यदि उसके भीतर कुछ बहुत विशेष न हो रहा हो तो गला घुटकर उसकी मौत भी हो सकती है। अब उस पर आत्मा का कब्ज़ा पूरा हो गया और माध्यम का आकार बढ़ता दिखाई देने लगता है।

इसके बाद वह तेज़ी से उछलता है, और अपने एक सहायक से अनुष्ठानिक तलवार लेकर धीरे-धीरे स्थिर कदमों से परन्तु भयंकर हाव-भाव के साथ उसे भाँजते हुए नृत्य करना आरम्भ करता है। अब वह मेरे सामने आता है और या तो धरती पर पूरी तरह लेटकर या काफ़ी नीचे झुककर टोप ज़मीन से लगाता है और फिर बड़ी तेज़ी से शरीर से बँधे ज़बरदस्त वज़न के बावजूद वापस उछलता है। कुतेन के दुबले-पतले शरीर में अब जैसे भूकम्प की शक्ति भर गई होती है और वह भयंकर गति और रबड़ की फुर्ती से चक्कर लगाने लगता है।

अब नेचुंग तथा मेरे बीच औपचारिक पूजन तथा भोग आदि का समर्पण होता है और मैं उससे प्रश्न करना आरम्भ करता हूँ। मेरे प्रश्नों के उत्तर देने के बाद वह अपने स्टूल पर वापस चला जाता है, और अब शासन के अधिकारी उससे प्रश्न पूछते हैं। इनके उत्तर देने से पहले कुतेन फिर नृत्य आरम्भ करता है और सिर के ऊपर तलवार चलाता रहता है। इस समय वह प्राचीन तिब्बती योद्धाओं की तरह शानदार लगता है।

जैसे ही दोरजे द्राकेन का बोलना समाप्त होता है, कुतेन धरती पर गिरने से पहले अन्तिम प्रार्थना करता है, और इसके बाद बिलकुल बेजान और लुंज-पुंज होकर लुढ़क जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि द्राकेन उसके शरीर को छोड़कर चले गए हैं। इस समय उसके सहायक दौड़कर जल्दी से उसके गले की गाँठ खोलते हैं और तेज़ी से उसे उठाकर वहाँ से चले जाते हैं। वे उसे स्वस्थ करने के लिए उसका उपचार करते हैं और यहाँ कार्यक्रम जारी रहता है।

यह बात आश्चर्यजनक लगेगी लेकिन दिव्य-वक्ता के उत्तर कभी अस्पष्ट नहीं होते। जहाँ तक मेरे ल्हासा छोड़ने का सवाल है, उसने बड़ी स्पष्टता से निर्देश भी दिए। परन्तु मेरा विचार है कि इसके वैज्ञानिक अध्ययन में किसी को भी इन घोषणाओं की सत्यता या असत्यता अन्तिम रूप से प्रमाणित करना सम्भव नहीं होगा। तिब्बती अनुभव के अन्य पक्षों की भी इसी प्रकार अन्तिम व्याख्या करना सम्भव नहीं लगता—जैसे तुल्कू का कार्य। लेकिन मुझे आशा है कि कभी इन दोनों विषयों की किसी-न-किसी प्रकार से जाँच अवश्य की जाएगी।

वास्तव में, तुल्कुओं की पहचान का काम, जितना वह पहली नज़र में लगता है, उससे कहीं ज़्यादा तर्क पूर्ण है। बौद्ध-चिन्तन का पहला विश्वास पूनर्जन्म को मानना है, और दूसरा यह कि अवतार का उद्देश्य पीड़ित प्राणियों के कष्ट दूर करने का प्रयत्न जारी रखना है। यदि ये बातें सत्य हों तो यह मानना भी तर्क पूर्ण होगा कि ऐसे व्यक्तियों की पहचान भी की जा सकती है। इस प्रकार उनको पुनः शिक्षित करके यथा शीघ्र संसार में अपना काम जारी रखने के लिए भेजा जा सकता है।

पहचान के इस कार्य में गलतियाँ भी हो सकती हैं, लेकिन अधिकांश तुल्कुओं के जीवन इसकी सत्यता के स्पष्ट प्रमाण है—इस समय कई सौ तुल्कू विद्यमान हैं और चीनी आक्रमण से पहले तो उनकी संख्या कई हज़ार रही होगी।

जैसा मैं कह चुका हूँ, अवतार का उद्देश्य व्यक्ति के सेवा-कार्य को दूसरे जीवन में भी जारी रखना है। जब किसी विशेष व्यक्ति की तलाश करनी होती है, तब इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए, मेरे जीवन का उद्देश्य प्राणिमात्र की सेवा होना चाहिए, परन्तु व्यवहार में मैं अपने देशवासियों की सेवा ही कर पाता हूँ। इसलिए, यदि तिब्बत को स्वाधीनता दिलाने से पहले मेरी मृत्यु हो जाती है, तो यह मानना तर्कपूर्ण होगा कि मेरा अगला जन्म तिब्बत से बाहर होगा। यह अवश्य

हो सकता है कि उस समय तक तिब्बत वासियों को मेरी आवश्यकता ही न रहे; उस स्थिति में मेरी खोज भी नहीं की जाएगी। तब मैं किसी कीड़े अथवा जानवर के रूप में भी पुनर्जन्म ले सकता हूँ—जिस रूप में भी मैं प्राणिमात्र के लिए सबसे अधिक उपयोगी हो सकूँ।

तलाश की यह प्रक्रिया जिस विधि से संचालित की जाती है, वह भी, जितना हम सोचते हैं, उतनी रहस्यमय नहीं है। इसकी शुरुआत सम्भावनाओं को घटाते जाने से होती है। मान लें कि हमें किसी एक भिक्षु के अवतार की तलाश करनी है। पहले यह निश्चित करना होगा कि उसका देहान्त कहाँ और किस प्रकार हुआ। फिर यह मानकर कि एक वर्ष या इससे अधिक समय बाद ही इसका अवतार हो सकता है—यह गणना अनुभव पर आधारित है—एक कार्यक्रम बनाना होगा। इस प्रकार लामा 'क' का वर्ष 'ख' में देहान्त हुआ, तो उसका अवतार डेढ़ या दो वर्ष बाद सम्भव होगा। अब वर्ष ख में चार या पाँच साल जोड़ लें तो, उसकी उम्र तीन या चार वर्ष की होगी। इस प्रकार ये बातें तो निश्चित हो गईं।

इसके बाद यह अनुमान लगाना होता है कि उसका जन्म किस स्थान पर सम्भव है। यह काम भी आसान है। पहली बात, वह तिब्बत के भीतर या बाहर पैदा हुआ होगा। यदि बाहर हो तो उन्हीं देशों में यह सम्भावना हो सकती है, जहाँ तिब्बती रह रहे हैं—जैसे भारत में, नेपाल में या स्विट्ज़रलैंड में। इसके बाद यह तय करना होगा कि वह किस नगर में पैदा हो सकता है। इसका अनुमान उसके पिछले जीवन से लगाया जा सकता है।

इस प्रकार सम्भावनाओं की मोटी रूपरेखा तैयार कर लेने के बाद एक खोज दल का निर्माण करना पड़ेगा इसका अर्थ यह नहीं कि जैसे किसी खज़ाने की तलाश की जाती है, उस तरह कुछ आदमी इस काम में लगाए जाएँ। यह काम समाज के लोगों से यह कहकर कराया जा सकता है कि तीन-चार वर्ष की उम्र के बच्चों को देखें। इनके विशेष लक्षणों से, जैसे उनके जन्म के समय कुछ हुआ हो या बच्चे की कुछ विशेषताएँ, पहचान में सहायता मिल सकती है।

कई दफ़ा दो, तीन या ज़्यादा बच्चे सामने आ खड़े होते हैं, जिनमें से अन्तिम चुनाव करना होता है। कई दफ़ा इस तरह की तलाश बिल्कुल आवश्यक ही नहीं होती, क्योंकि व्यक्ति अपने अवतार के परिवार का नाम, पता, तारीख सबकुछ पहले ही बता जाते हैं—यद्यपि ऐसा बहुत कम होता है। कई दफ़ा भिक्षु के अनुयायियों को सपने या विज़न दिखाई देते हैं कि अवतार कहाँ पैदा हो रहा है। इसके विपरीत, एक बड़े लामा ने पिछले दिनों अपने अनुयायियों से कहा कि उनके नए जन्म की तलाश न की जाए। उसने कहा कि जो कोई बौद्ध धर्म और समाज की सेवा के सबसे ज़्यादा उपयुक्त लगे, उसे ही प्रधान लामा बना दिया जाए, और मेरी सही-सही पहचान करने के झंझट में न पड़ा जाए। इस प्रकार कोई पक्के नियम नहीं हैं।

यदि किसी तलाश में कई बच्चे सामने आ जाएँ तो पूर्व लामा के किसी घनिष्ट परिचित को अन्तिम निर्णय करने के लिए भेजा जाता है। कई दफ़ा इन बच्चों में से ही कोई एक इसे पहचान लेता है, जो उसके अवतार होने का प्रमाण होता है, कभी-कभी बच्चे के शरीर पर बने चिह्नों से भी पहचान की जाती है।

कुछ स्थितियों में पहचान करने में दिव्य-वक्ता या ऐसे व्यक्तियों की सहायता ली जाती है जिन्हें 'न्गोन शे' या अतीन्द्रिय दृष्टि प्राप्त है। ये लोग जिन विधियों का उपयोग करते हैं, उनमें एक हैं 'ता', यानी वह व्यक्ति एक आईने में देखता है तो उसे सही बच्चे की तस्वीर दिखाई देती है, या कोई इमारत दिखाई देती है या कोई नाम उस पर उभर आता है। मैं इसे 'प्राचीन दूरदर्शन' कहता हूँ। यह इस तरह है कि जब मेरी तलाश हो रही थी, तब कुछ लोगों ने ल्हामोई ल्हात्सो झील में देखा तो रेटिंग रिन्पोचे ने उस पर 'आब', 'का' और 'मा' अक्षर लिखे देखे और मठ तथा मकान भी दिखाई दिए, जहाँ मैं रहता था।

कई दफ़ा स्वयं मुझसे कहा जाता है कि किसी व्यक्ति की खोज में सहायता करूँ। इस स्थिति में मेरा काम यह होता है कि जो बच्चा चुना गया है, उसका अन्तिम निर्णय करूँ। मैं यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि मुझे अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं है। मुझे यह क्षमता प्राप्त करने का न अवसर मिला और न समझ, लेकिन मुझे यह लगता है कि तेरहवें दलाई लामा को इस क्षेत्र में कुछ प्राप्त था।

मैं एक उदाहरण देकर यह बताऊँ कि मैं यह कार्य किस प्रकार करता हूँ। लिंग रिन्पोचे मेरे वरिष्ठ अध्यापक थे। उनके प्रति मेरे मन में बहुत आदर था, हालाँकि जब मैं छोटा था, तब उनके नौकर को आगे-आगे आते हुए देखकर ही डर जाता था—और जब स्वयं उनके क़दमों की आवाज़ सुनाई देती तो मेरा दिल धड़कने लगता था। लेकिन, समय बीतने के साथ वे मेरे घनिष्ट तथा विश्वासी होते चले गए। कुछ ही समय पहले जब उनका देहान्त हुआ तो मुझे लगने लगा कि उनके बिना अब मेरा जीवन बहुत कठिन हो जाएगा। वे मेरे लिए चट्टान की तरह थे जिसका मैं सहारा ले सकता था।

सन् 1983 की गर्मियों में, जब मैं स्विट्ज़रलैंड में था, तब उनकी अन्तिम बीमारी का समाचार आया : उन्हें दौरा पड़ा था और लकवा मार गया था। यह सुनकर मैं बड़ा परेशान हुआ; लेकिन, बौद्ध होने के कारण मैं जानता था कि चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं होगा। मैं, जितनी जल्दी हो सका, धर्मशाला लौटा; वे जीवित तो थे परन्तु उनकी दशा बहुत खराब थी। परन्तु जीवन भर मानसिक अभ्यास करने के कारण उनका मस्तिष्क एकदम जीवन्त था। कई महीने तक उनकी यह स्थिति रही, अन्त में एकदम बिगड़ गई। वे एकाएक अचेत हो गए और 25 दिसम्बर 1983 को उनका देहान्त हो गया। इसके बाद उनकी विशिष्टता का एक और प्रमाण यह मिला कि मृत्यु के बाद तेरह दिन तक उनका शरीर सड़ना नहीं आरम्भ हुआ, यद्यपि

धर्मशाला गर्म प्रदेश था। लगता था, वे अभी तक शरीर में विद्यमान है, हालाँकि उसमें जीवन का कोई लक्षण शेष नहीं रहा था।

जब मैं इस बारे में फिर सोचता हूँ तो पाता हूँ कि लिंग रिन्पोचे ने अपनी बीमारी को लम्बे समय तक जान-बूझकर खींचा, जिससे मैं उनके बिना रहने का अभ्यस्त हो जाऊँ। लेकिन, यह इस कहानी का आधा ही भाग हैं चूँकि हम तिब्बती हैं, यह कहानी आगे भी चल रही है। लिंग रिन्पोचे के अवतार को खोज लिया गया है, और इस समय वे तीन वर्ष के बहुत तेज़ और शैतान बालक हैं। उनकी खोज करने पर पाया गया कि वे एक व्यक्ति को बड़ी स्पष्टता से पहचानते हैं। उस समय वे अठारह महीने के ही थे, लेकिन उसका नाम लेकर आगे बढ़ आए और मुस्कराने लगे। इसके बाद उन्होंने अपने पूर्ववर्ती के अन्य सहयोगियों को भी बिलकुल सही पहचाना।

जब मैं इस बालक से पहली दफ़ा मिला, मुझे उसके व्यक्तित्व के विषय में कोई सन्देह नहीं रहा। उसके व्यवहार से स्पष्ट हो गया कि वह मुझे जानता है, यद्यपि वह मेरे प्रति सम्मान का भाव भी व्यक्त करता रहा। उस दिन मैंने शिशु लिंग रिन्पोचे को चाकलेट का एक बड़ा बार दिया। वह उसे हाथ में लेकर बहुत देर तक मेरे सामने सिर झुकाए खड़ा रहा। किसी इतने छोटे बच्चे के लिए हाथ में मिठाई लेकर बिना उसे मुँह में डाले इतनी देर तक खड़े रहना कठिन है। फिर जब वह मुझसे मिलने मेरे निवास पर आया, तो दरवाज़े पर पहुँचते ही उसने वैसा ही व्यवहार किया, जैसा उसका पूर्ववर्ती करता था। इससे स्पष्ट था कि वह यहाँ के रास्ते जानता है। फिर जब वह मेरे अध्ययन-कक्ष में आया तो उसने मेरे एक सहायक से तुरन्त आत्मीयता का बर्ताव करना शुरू कर दिया। इस व्यक्ति की टाँग टूट गई थी जिसका अब इलाज चल रहा था। पहले इस शिशु ने उसे बड़ी गम्भीरता से काता भेंट किया, फिर बच्चों की तरह हँसते-खिलखिलाते हुए इस लोबसांग गावा नामक व्यक्ति की बैसाखी उठाकर उसे झंडे की तरह हिलाते हुए कमरे में दौड़ लगाने लगा।

इस बालक की एक और कहानी यह है कि जब वह दो वर्ष का था, उसे वोधगया ले जाया गया, जहाँ मुझे प्रवचन करना था। वह बिना किसी को बताए घुटनों के बल सरकता और बाँहों के सहारे सीढ़ियों पर चढ़ता, ऊपर मेरे कमरे मैं आ गया और मेरे बिस्तर पर एक काता रख गया। इस समय वह धर्म ग्रन्थों का पाठ कर रहा है, और अब देखना यह है कि जब वह पढ़ना सीख जाएगा, तब कुछ युवा तुल्कुओं की तरह, जो बड़ी आश्चर्यजनक गति से शास्त्र इस तरह पढ़ने लगते हैं जैसे पिछले जन्म के आगे का पाठ याद कर रहे हों—यह बालक भी उसी गति से सीखता है या नहीं। मैंने बहुत से ऐसे बच्चे देखे हैं जो बहुत से पृष्ठ बिना पढ़े बोलते चले जाते हैं।

इस तरह अवतारों की तलाश में रहस्य का कुछ अंश ज़रूर है। लेकिन बौद्ध होने के नाते, मैं यह कहना चाहूँगा कि माओ, लिंकन या चर्चिल जैसे व्यक्ति यूँ ही अचानक पैदा नहीं हो जाते।

तिब्बती अनुभव का एक और क्षेत्र, जिसका मैं वैज्ञानिक अध्ययन करवाना चाहूँगा, तिब्बती चिकित्सा शास्त्र हैं। यद्यपि इसका आरम्भ दो हज़ार वर्ष पूर्व हुआ और इसके स्रोत कई हैं, जिनमें फ़ारस भी एक है, लेकिन अब इसके सिद्धान्त पूरी तरह बौद्ध सिद्धान्त हैं। इस कारण इसे पश्चिमी चिकित्सा पद्धति की तुलना में एक बिल्कुल अलग स्थान प्राप्त है। जैसे, इसका मानना है कि रोग के कारण अज्ञान, इच्छा या घृणा होते हैं।

तिब्बती चिकित्सा के अनुसार मनुष्य का शरीर तीन मुख्य 'नोपों' से प्रभावित हैं—'नोप' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'हानिकर्ता' है जबकि इसे 'द्रव' के अर्थ में लिया जाता है। ये नोप शरीर में सदा विद्यमान रहते हैं, यानी वह कभी रोग या उसकी सम्भावना से मुक्त नहीं हो सकता। यदि उनको सन्तुलन में रखा जाए, तो रोग नहीं होगा। यदि इन तीन कारणों में से एक या दो असन्तुलित हो जाएँ तो रोग प्रकट हो जाएगा, जिसकी जाँच नाड़ी की गति देखने से या रोगी के मूत्र की जाँच करने से की जा सकेगी। हाथ और कलाई में बारह ऐसे प्रमुख स्थान होते हैं जहाँ नाड़ी की जाँच की जा सकती है। इसी तरह मूत्र की भी उसके रंग, बू, इत्यादि अनेक प्रकार से जाँच की जाती है।

जहाँ तक चिकित्सा का प्रश्न है, सर्वप्रथम व्यवहार और भोजन पर ध्यान दिया जाता है। इसके बाद औषधि का नम्बर आता है; एक्युपंक्चर और मॉक्सी बश्चन—गर्मी द्वारा चिकित्सा का एक प्रकार—का नम्बर तीसरा है; और शल्यक्रिया का चौथा। औषधियाँ प्राकृतिक तत्त्वों से बनती हैं, कभी-कभी इनमें धातुओं की ऑक्साइड या खनिज पदार्थों को भी मिलाया जाता है—जैसे पिसा हुआ हीरा।

अभी तक तिब्बती चिकित्सा में कोई शोध कार्य नहीं हुआ है, यद्यपि मेरे एक पूर्व चिकित्सक, डॉ. येशे ढोंडेन ने अमेरिका के वर्जीनिया विश्वविद्यालय में किए गए कुछ प्रयोगों में भाग लिया था, और उनके कुछ परिणाम भी सन्तोषजनक निकले थे—जैसे, सफेद चूहों में कैंसर का सफल इलाज। लेकिन निश्चित परिणाम प्राप्त करने के लिए अधिक कार्य की ज़रूरत है। फिलहाल मैं यही कह सकता हूँ कि अपने व्यक्तिगत अनुभव में मैंने तिब्बती चिकित्सा को बहुत प्रभावी पाया है। मेरा ख्याल है कि इससे शरीर पुष्ट होता है और इसके हानिकारक प्रभाव भी बहुत कम हैं। परिणाम यह है कि लम्बे समय तक ध्यान इत्यादि करने के बाद भी मुझे कभी थकान महसूस नहीं होती।

मेरे विचार में आधुनिक विज्ञान तथा तिब्बती संस्कृति के बीच सम्पर्क का एक और क्षेत्र हो सकता है : प्रयोगशील ज्ञान के बजाय 'सैद्धान्तिक ज्ञान' कण भौतिकी की कुछ नवीनतम खोजों से मन और पदार्थ के एकत्व का संकेत मिलता है। उदाहरण के लिए, यदि शून्य—अर्थात् रिक्त स्थान—को दबाया जाए तो कण उत्पन्न होते हैं—जो पहले वहाँ नहीं थे, अर्थात् वे किसी रूप में उसमें समूहित हैं।

इन जानकारियों से विज्ञान और शून्यवाद के बौद्ध माध्यमिक सिद्धान्त में विचार का एक समान क्षेत्र प्राप्त होता है। शून्यवाद के अनुसार मन तथा पदार्थ की स्वतन्त्र, परन्तु परस्परावलम्बित, सत्ता है।

फिर भी, मैं आध्यात्मिक विश्वास को किसी वैज्ञानिक विचार के साथ जोड़ने के खतरे के प्रति सचेत हूँ। बौद्ध सिद्धान्त जो ढाई हज़ार वर्ष पहले आरम्भ हुआ था, आज पर्यंत सार्थक और विद्यमान है, परन्तु विज्ञान के सिद्धान्त बड़ी जल्दी बदल रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं दिव्य-वक्ता तथा भिक्षुओं के कड़ी सर्दी में रात भर बैठे रहने को परम सत्य मानता हूँ। फिर भी मैं अपने चीनी भाई-बहनों के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि तिब्बत द्वारा इनका स्वीकार पिछड़ेपन और बर्बरता की निशानियाँ हैं। कठोरतम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह सकारात्मक प्रवृत्ति नहीं है।

इसी के साथ, कोई एक सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर भी, उससे जुड़ी सभी बातों को स्वीकार कर लेना भी सही नहीं है। तुलना के रूप में कहें, तो मार्क्स और एंगिल्स के प्रत्येक कथन को आँखें बंद करके मान लेना भी सही नहीं होगा, जबकि कम्युनिज़्म की अपूर्णता के स्पष्ट प्रमाण सामने आ चुके हैं। जिन क्षेत्रों की हमारी समझ अभी पूरी नहीं है, उनके सम्बन्ध में कार्य करते हुए हमें अतिरिक्त सावधानी बरतने की ज़रूरत है। यह वह स्थल है जहाँ विज्ञान हमारी सहायता कर सकता है। सच बात यह है, कि हम चीज़ों को तभी तक रहस्यमय समझते हैं जब तक उन्हें समझ नहीं पाते।

अब तक, जिन अध्ययनों की मैंने चर्चा की है, उनके परिणाम सभी पक्षों के लिए लाभदायक रहे हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि उनके लिए जैसे प्रयोग किये गये, उन्हीं की सीमाओं तक वे सही हैं। इसके अलावा, मैं यह मानता हूँ कि किसी वस्तु को प्राप्त न कर पाने का अर्थ यह नहीं है कि उसकी सत्ता ही नहीं है। इनसे सिद्ध यही होता है कि जो प्रयोग किए गए, वे पर्याप्त नहीं थे—यदि मेरी जेब में धातु की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे धातु को पकड़ने वाला यन्त्र पकड़ न सके, तो इसका अर्थ यह नहीं होगा कि मेरी जेब खाली है—इस कारण हमें अपने परीक्षणों में सावधान रहना चाहिए, विशेष रूप से ऐसे क्षेत्रों में जिसमें विज्ञान का प्रवेश अभी बहुत कम हुआ है। इसके अलावा हमें उन सीमाओं का भी ध्यान रखना है जो प्रकृति ने हमें दी हैं। उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक परीक्षण मेरे विचारों को नहीं जान सकते, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होगा कि उनका अस्तित्व ही नहीं है; इन्हें जानने का कोई अन्य उपाय भी हो सकता है—यहाँ तिब्बती अनुभव काम आ सकता है। मन-मस्तिष्क के प्रशिक्षण द्वारा हमने कई कार्य करने की ऐसी तकनीकें विकसित कर ली हैं। जिन्हें विज्ञान समझा नहीं सकता। तो, यह है वह 'जादू और रहस्य' जो तिब्बती बौद्ध धर्म का अंग है।

13

तिब्बत से समाचार

सन् 1959 के आरम्भिक दिनों में, जब मेरे वहाँ से भागने का तनाव बढ़ रहा था, मुझे चीनी मुक्ति सेना द्वारा चेयरमैन माओ को भेजी गई एक रिपोर्ट का पता चला। इसमें कहा गया था कि सेना की निरन्तर उपस्थिति के कारण तिब्बत के लोग परेशान हैं, और इतना विरोध कर रहे हैं कि सारी जेलें भर गई हैं। कहा जाता है कि माओ ने उत्तर दिया कि चिन्ता की कोई बात नहीं है। तिब्बतियों की भावनाओं की उपेक्षा करो; उनका कोई महत्त्व नहीं है। जहाँ तक उनके विरोध का सवाल है, ज़रूरत पड़े तो सेना को सारी जनता को जेलों में डाल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसकी तैयारी शुरू कर दो। यह समाचार सुनकर मैं बहुत घबरा गया। सोचने लगा कि एक समय था, जब मैं ल्हासा के हर कैदी को पहचानता था और अपना मित्र मानता था; अब यह क्या हो रहा है!

इसी समय की एक और कहानी मैंने सुनी, मार्च-विद्रोह के बारे में, कि माओ को बताया गया कि शान्ति स्थापित कर दी गई है। कहते हैं, उसने पूछा, "और दलाई लामा की क्या खबर है?" जब उसे बताया गया कि वह तो भाग निकला, उसने कहा, "तो फिर हम लड़ाई हार गए!" इसके बाद इस 'महान संरक्षक' के बारे में सब खबरें मुझे या तो समाचार पत्रों से या बी.बी.सी. वर्ल्ड सर्विस से प्राप्त होती रहीं। इसके बाद सितम्बर 1976 में माओ की मृत्यु तक न तो मेरा और न तिब्बती निर्वासन सरकार का बीजिंग से कोई सम्बन्ध रहा।

माओ की मृत्यु के समय मैं लद्दाख में, जो जम्मू-कश्मीर के उत्तर में है, एक कालचक्र अनुष्ठान का आयोजन कर रहा था। तीन दिन के इस अनुष्ठान में दूसरे दिन माओ चल बसे। तीसरे दिन सवेरे तेज़ बारिश होती रही। दोपहर बाद जब बारिश रुकी, तो मैंने आकाश में एक ऐसा सुन्दर इन्द्रधनुष देखा, जैसा अब तक कभी नहीं देखा था। मुझे लगा कि यह शुभशकुन है। फिर भी, इसके बाद बीजिंग में जिस तेज़ी से घटनाएँ घटीं, उसकी मैंने अपेक्षा ही नहीं की थी। इसके तुरन्त बाद, माओ की पत्नी चियांग चिंग के नेतृत्व में काम कर रहे 'गैंग ऑफ फ़ोर' के चारों नेता गिरफ्तार कर लिए गए। बहुत जल्द यह स्पष्ट गया कि पिछले कई वर्षों से बीमार

माओ के पीछे से यही लोग राजकाज चला रहे थे और सांस्कृतिक क्रान्ति के समर्थन के अलावा भयंकर हानिकर नीतियों के तहत देश को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे थे।

फिर सन् 1977 में चीन के राष्ट्रपति ली ज़ियानिन ने यह कहा बताया जाता है कि यद्यपि देश ने काफ़ी उन्नति की है, परन्तु सांस्कृतिक क्रान्ति के कारण कुछ हानि भी हुई है। यह इस बात का पहला प्रमाण था कि चीन ने सचाई का सामना करना शुरू कर दिया है। इसके बाद, उसी साल अप्रैल में तिब्बत के सम्बन्ध में भी एक सुलहकारी वक्तव्य आया, जिसमें न्गाबो न्गावांग जिग्मे ने—जो अब बीजिंग में शासन के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य हो गए थे—सार्वजनिक रूप से कहा कि चीन अब दलाई लामा और 'उनके अनुयायियों को, जो भारत भाग गए हैं' अपने देश लौट आने देगा। साठ के दशक से चीन तिब्बतियों को लौट आने के लिए कह रहा था, कि बाँहें खोलकर उनका स्वागत किया जाएगा।

इस वक्तव्य के बाद तिब्बतियों को वापस बुलाने के लिए ज़बरदस्त प्रचार आरम्भ हो गया। हमें बताया जाने लगा कि 'आज के तिब्बत में अपार सुख है।' कुछ समय बाद माओ द्वारा निश्चित उत्तराधिकारी हुआ गुआफ़ेंग ने तिब्बती रीति-रिवाज़ों के पुनर्स्थापन की सुविधा देने की घोषणा की, और बीस वर्षों में पहली बार वृद्ध तिब्बतियों को जोखांग मन्दिर की परिक्रमा करने तथा राष्ट्रीय वेशभूषा बहाल करने की आज्ञा दी। यह अच्छी शुरुआत थी और इसके आगे भी कुछ होने की उम्मीद बँधने लगी।

25 फरवरी 1978 को मैंने आश्चर्य और प्रसन्नता के साथ सुना कि लगभग एक दशक तक जेल में रखने के बाद पैंचेन लामा को छोड़ दिया गया है। कुछ समय बाद, हू याओ बेंगने, जो चीनी राजनीति में तेज़ी से उभर रहे थे, राष्ट्रपति ली ज़ियानिन के सांस्कृतिक क्रान्ति सम्बन्धी कथन को दोहराया और कहा कि यह बड़ा नकारात्मक अनुभव रहा है और इससे चीन को कोई लाभ नहीं हुआ।

ये महत्त्वपूर्ण परिवर्तन थे। लेकिन, फिर भी मैं सोचता रहा कि यदि चीनियों का सचमुच हृदय-परिवर्तन हुआ है, तो तिब्बत सम्बन्धी उनकी नीतियों में भी यह दिखाई देना चाहिए। 10 मार्च के अपने भाषण में—जो तिब्बती जनता के विद्रोह की उन्नीसवीं वर्ष तिथि पर दिया गया था—मैंने चीनी अधिकारियों से माँग की कि विदेशियों के लिए तिब्बत पूरी तरह खोल दिया जाए। मैंने यह भी सुझाव दिया कि जो तिब्बती चीन-अधिकृत प्रदेशों में रह रहे हैं, उन्हें निर्वासित तिब्बतियों से मिलने की सुविधा दी जाए, और इसी प्रकार निर्वासितों को भी तिब्बत में अपने सगे-सम्बन्धियों से मिलने दिया जाए। मैं सोचता था कि यदि, जैसा प्रचार किया जा रहा है, तिब्बत की साठ लाख जनता अब पहले से ज़्यादा सुखी है, तो यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। लेकिन इसी के साथ यह भी सही है कि हमें खुद वहाँ जाकर यह सब देखने की सुविधा भी दी जाए।

मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मेरे सुझावों पर ध्यान दिया जा रहा है। कुछ ही समय बाद विदेशियों का एक जत्था तिब्बत घूमने गया। मेरी दूसरी इच्छा भी कुछ अंश तक पूरी हुई और तिब्बत के भीतर तथा बाहर दोनों के तिब्बतियों को आने-जाने की सुविधाएँ दी जाने लगी, यद्यपि बेरोकटोक आवागमन की आज्ञा नहीं दी गई।

चीन में यह उथल-पुथल उस समय हो रही थी, जब भारत में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। सन् 1977 में श्रीमती गाँधी, आपात स्थिति के बाद कराया गया चुनाव हार गईं। उनके बाद मोरारजी देसाई प्रधानमन्त्री बने, जिनकी जनता पार्टी ने आज़ादी के बाद कांग्रेस सरकार को पहली बार हराया था। इसके कुछ ही समय बाद श्रीमती गाँधी फिर सत्ता में वापस आ गईं; परन्तु इस बीच श्री मोरारजी देसाई से, जिनसे मैं सन् 1956 में पहली बार मिला था और जो मुझे अच्छे लगे थे, मेरे सम्बन्ध बढ़े।

दीर्घायु में श्री मोरारजी देसाई का देहान्त हुआ। अन्त समय तक वे मेरे अच्छे मित्र बने रहे। वे बड़े विशिष्ट व्यक्ति थे, जीवन से परिपूर्ण और चिन्ताओं से मुक्त आकर्षक चेहरा—लेकिन यह कहने से मेरा यह अर्थ नहीं कि उनमें कोई दोष नहीं थे। महात्मा गाँधी की ही तरह उनका जीवन बहुत सादा था। वे शाकाहारी थे और शराब तथा तम्बाकू से दूर रहते थे। लोगों के साथ उनका व्यवहार बहुत सीधा और स्पष्ट था। मैं अक्सर यह सोचता था कि कहीं ये बहुत ज़्यादा स्पष्ट वक्ता तो नहीं हैं। लेकिन, मेरी दृष्टि में यह उनकी एक कमी ही रही हो, तिब्बतियों के प्रति उनकी मित्रता से मेरे लिए इसकी क्षतिपूर्ति हो जाती थी। एक दफ़ा उन्होंने मुझे लिखा कि भारतीय संस्कृति तथा तिब्बती संस्कृति एक ही बोधिवृक्ष की दो शाखाएँ हैं। यह बिलकुल सत्य है। जैसा मैं पहले भी स्पष्ट कर चुका हूँ, हमारे दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत गहरे हैं। अनेक भारतीय तिब्बत को पृथ्वी का स्वर्ग मानते हैं—देवों तथा तीर्थों की भूमि। तिब्बत के दक्षिण में स्थित कैलाश पर्वत तथा दक्षिण-पश्चिम में मानसरोवर झील, दोनों भारतीयों के महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थल हैं। इसी प्रकार हम तिब्बतवासी भारत को आर्यभूमि, पवित्र देश, मानते हैं।

सन् 1978 के अन्त में देंग ज़ियाओ-पिंग चीन के सर्वेसर्वा बने तो कुछ और सम्भावनाएँ बनने लगीं। वे नरम दल के नेता थे इसलिए उनसे सबको अधिक आशाएँ थीं। उनके लिए मुझे हमेशा लगता था कि वे अपने देश के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करेंगे। सन् 1954-55 में जब मैं चीन गया था, उनसे मेरी कई दफ़ा भेंट हुई थी और मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। हमारे बीच लम्बी बातचीत तो कभी नहीं हुई लेकिन उनके बारे में मैं बहुत कुछ सुनता रहता था—कि वे बड़े योग्य व्यक्ति हैं और निर्णय लेने में देर नहीं लगाते।

जब मैं उनसे अन्तिम बार मिला, तो मुझे याद है, एक बड़ी-सी आरामकुर्सी पर बहुत छोटे से वे धीरे-धीरे और बड़ी सफ़ाई से सन्तरा छील रहे थे। उन्होंने खुद कुछ ज़्यादा नहीं कहा लेकिन मुझे लगता रहा कि वे बहुत ध्यान से मेरी बातें सुन रहे हैं। मुझे उनकी शक्ति का आभास हो रहा था। इसके अलावा मुझे यह भी लगा कि वे बहुत बुद्धिमान व्यक्ति हैं। उन्होंने कई छोटे-छोटे परन्तु प्रभावी वाक्य कहे, जैसे, ''ज़रूरी यह है कि तथ्यों से सत्य निकाला जाए'', इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि बिल्ली काली है या सफेद, उसे चूहे पकड़ना चाहिए, और ''अगर आपका चेहरा भद्दा है, तो बनावट से कुछ नहीं होगा।'' इसके अलावा, जहाँ तक नीतियों का सवाल है, वे राजनीतिक विचारधारा और खोखली नारेबाज़ी के सामने शिक्षा और अर्थनीति को ज़्यादा महत्त्व देते थे।

फिर, नवम्बर 1978 में मेरी सरकार के 34 अधिकारी, जो ज़्यादातर वृद्ध थे, ल्हासा की जेल से बड़े समारोह पूर्वक छोड़ दिए गए। कहा गया कि विद्रोही नेताओं में ये अन्तिम क़ैदी हैं। चीनी समाचार-पत्रों ने लिखा कि इन्हें एक महीना 'नवीन तिब्बत' की सैर कराई जाएगी, फिर नौकरियाँ तलाश करने में उनकी सहायता की जाएगी और यदि वे विदेश जाना चाहेंगे, तो उन्हें जाने दिया जाएगा।

नया साल आ पहुँचा और ये कार्यवाहियाँ चलती रहीं। 1 फरवरी 1979 को—इसी दिन अमेरिका ने चीन सरकार को मान्यता प्रदान की—चौदह वर्ष बाद अपने पहले सार्वजनिक भाषण में उन्होंने कहा कि दलाई लामा को अपने निर्वासित अनुयायियों के साथ तिब्बत वापस आ जाना चाहिए। उन्होंने कहा, ''यदि तिब्बत की जनता के सुख और कल्याण में दलाई लामा की वास्तविक रुचि है, तो उन्हें इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। मैं इस बात की गारंटी देता हूँ कि पुराने समाज की स्थिति से आज के तिब्बतियों का जीवन-स्तर कई गुना उन्नत हो चुका है।'' एक सप्ताह बाद ल्हासा रेडियो से यह निमन्त्रण दोहराया गया और घोषणा की गई कि वापस आने वाले तिब्बतियों के स्वागत के लिए एक विशेष समिति बनाई गई है।

इसके एक सप्ताह बाद मैं एक धार्मिक सम्मेलन में भाग लेने कानपुर (उत्तर प्रदेश) गया था, कि वहाँ अचानक मेरा भाई ग्यालो थौडुप मुझसे मिलने आ पहुँचा। मुझे आश्चर्य हुआ जब उसने मुझे बताया कि हांगकांग में—जहाँ वह इन दिनों रह रहा था—उसके कुछ पुराने विश्वासी मित्रों से उसे पता चला कि नए चीन की समाचार एजेंसी शिन्हुआ, जो ब्रिटिश हांगकांग में चीनी सरकार का प्रतिनिधित्व करती थी, उससे सम्पर्क करना चाहती है। इसके बाद वह देंग ज़ियाओ-जिंग के एक व्यक्तिगत प्रतिनिधि से मिला जिसने उससे कहा कि चीनी नेता दलाई लामा से सम्पर्क करना चाहते हैं। अपनी सद्भावना व्यक्त करने के लिए देंग ग्यालो थोंडुप को बीजिंग निमन्त्रित करना चाहते हैं। मेरे भाई ने मेरी सम्मति लिए बिना निमन्त्रण स्वीकार करना उचित नहीं समझा।

यह घटना नितान्त अनपेक्षित थी, इसलिए मैंने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। पिछले दो वर्ष में हुए परिवर्तन आशाजनक थे, परन्तु जैसा एक भारतीय कहावत है, "यदि आपको साँप काट ले, तो आप रस्सी से भी सतर्क हो जाते हैं हम सतर्क थे। और दुर्भाग्य से, चीनी नेतृत्व के साथ हुए मेरे सब अनुभव उनपर विश्वास करने के विरुद्ध थे। ये अधिकारी झूठ तो बोलते ही थे, झूठ खुल जाने पर शर्मिंदा भी नहीं होते थे। सांस्कृतिक क्रान्ति जब हो रही थी, उसे 'महान सफलता' कहा गया, अब इसकी असफलता सामने आ चुकी थी, फिर भी नम्रता का एक शब्द नहीं कहा जाता था। उनके व्यवहार में एक भी ऐसा तत्त्व नहीं दिखाई देता था कि जिससे लगे कि ये लोग अपने वादे पूरे करेंगे। सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' की धारा तेरह में यह स्पष्ट कहे जाने के बावजूद कि चीनी 'तिब्बतियों से मनमाने ढंग से एक सुई या डोरा भी नहीं लेंगे, उन्होंने सारे देश को बर्बाद कर दिया था। इस सबके अलावा, अगणित अत्याचारों के द्वारा उन्होंने मानवीय अधिकारों को तो एकदम धता बता दी थी। मुझे यह लगता था कि चीनी मनोभावना में, अपनी अपार जनसंख्या के कारण, मनुष्य जीवन को बहुत सस्ती चीज़ मान लिया गया है—और तिब्बती लोगों का मूल्य तो उनकी नज़र में और भी कम है। इसलिए मैंने इस मामले में अधिक-से-अधिक सावधानी बरतना आवश्यक समझा।

दूसरी बात यह, मेरा मौलिक विश्वास यह है कि मनुष्य की समस्याएँ मानवीय सम्पर्क द्वारा ही हल की जा सकती हैं। इसलिए चीनी क्या कहते हैं, यह सुन लेने में कोई हानि नहीं थी। हो सकता है कि हम दोनों एक-दूसरे से अपनी बात कह सकें। हमारे पास छिपाने के लिए कुछ नहीं है। इसके अलावा, यदि बीजिंग के अधिकारी गम्भीर हों तो हम वहाँ की सही स्थिति जानने के लिए प्रतिनिधि-मंडल भेज सकते हैं।

इन सब बातों पर विचार करके और इस विश्वास के साथ कि हमारा उद्देश्य सौ प्रतिशत न्याय संगत है तथा समग्र तिब्बती जनता के लिए हितकर है, मैंने अपने भाई को बीजिंग जाने की अनुमति दे दी। चीनी नेताओं से उसकी भेंट के पश्चात् हम अगले कदम पर विचार करेंगे। इसी के साथ भारत में चीनी दूतावास के माध्मय से, मैंने बीजिंग एक प्रस्ताव भेजा कि धर्मशाला से तिब्बत की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए एक प्रतिनिधि-मंडल भेजने की अनुमति दी जाए, जो वापस लौटकर मुझे वहाँ की रिपोर्ट दे। मैंने अपने भाई से भी कहा कि वहाँ भी वह इसकी सम्भावनाएँ तलाश करें।

इसके तुरन्त बाद मुझे एक बिलकुल अनपेक्षित दिशा से एक और उत्तेजक समाचार प्राप्त हुआ। यह एक निमन्त्रण था कि मैं मंगोलिया तथा सोवियत रूस के बौद्ध मतानुयायियों से भेंट करने के लिए इन देशों की यात्रा करूँ। मुझे लगा कि इन यात्राओं से मेरे बीजिंग-स्थित मित्रों को अच्छा नहीं लगेगा, लेकिन मैंने यह

भी सोचा कि बौद्ध भिक्षु होने के कारण, और दलाई लामा होने के कारण भी, मेरा अपने धर्म बन्धुओं के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। जिन लोगों ने मुझे यह पद प्रदान किया, उनको मैं कैसे इन्कार कर सकता हूँ। यह भी था, कि इससे पहले उच्च चीनी अधिकारी होने के समय मैं सोवियत रूस की यात्रा नहीं कर सका था—यद्यपि उस समय मेरी गतिविधियों पर अनेक प्रतिबन्ध थे—अब मैं तिब्बती शरणार्थी की स्थिति में यह निमन्त्रण अस्वीकार नहीं करना चाहता था। इसलिए मैंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति दे दी।

संक्षेप में यह, कि कोई विरोधी घटना नहीं घटी और मार्च के अन्त में जब ग्यालो थोंडुप धर्मशाला वापस आया, तो उसने सूचना दी कि चीनियों ने तिब्बत की स्थिति की जानकारी के लिए प्रतिनिधि-मंडल भेजने का मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। इससे मुझे बहुत उत्साह मिला। लगने लगा कि चीन आखिरकार तिब्बत की समस्या का एक शान्तिपूर्ण हल निकालने का प्रयत्न कर रहा है। प्रतिनिधि-मंडल की तिब्बत यात्रा के लिए अगस्त की एक तिथि निश्चित कर दी गई।

इसी बीच जून के आरम्भ में मैं मंगोलिया होते हुए मास्को की यात्रा पर निकला। यहाँ आकर मुझे लगा कि मैं अपनी पूर्व-परिचित दुनिया के बीच आ गया हूँ। यहाँ भी वैसा ही दम घोंटू वातावरण था, जिसका मैंने चीन में अनुभव किया था। परन्तु इससे मुझे ज़्यादा परेशानी नहीं हुई क्योंकि जिन लोगों से मैं मिला वे सब स्वभाव से भले और दयालु थे—और आश्चर्यजनक रूप से भोले भी थे। यह तीसरी बात तब मेरे ध्यान में आई जब एक रूसी दैनिक का संवाददाता मुझसे मिलने आया। उसके सब प्रश्नों की भाषा ऐसी थी जिनके उत्तर प्रशंसात्मक ही हो सकते हैं। यदि मैं कोई ऐसी बात कहता जो उसकी सरकार के विरुद्ध होती या यदि मेरे उत्तर उसकी अपेक्षा के अनुरूप न होते, तो वह गुस्से से मुझे देखने लगता। एक और भेंट में उसके संवाददाता ने जब अपनी सूची में लिखे सारे प्रश्न मुझसे पूछ लिए, तब वह बड़ी नम्रता और सरलता से मुझसे बोला, "अब आप बताएँ कि मैं आपसे क्या प्रश्न करूँ?"

मैं मास्को में जहाँ भी गया, सब जगह ऊपरी आज्ञापालन के पीछे यही सौजन्य दिखाई दिया। इससे भी मेरी यही धारणा पुष्ट हुई कि संसार में कोई भी व्यक्ति दुख नहीं चाहता। साथ ही, मुझे व्यक्तिगत स्तर पर सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता महसूस होती रही। मैं यह स्पष्ट देख सकता था कि रूसी न चीनियों से न अंग्रेज़ों से और न अमेरिकनों से अधिक दुष्ट राक्षस हैं। रूसी ऑर्थोडॉक्स चर्च में मेरा जिस प्रकार स्वागत हुआ, उसने मेरे हृदय को भीतर तक छू लिया।

मास्को से मैं बुरयात गणतन्त्र गया, जहाँ एक बौद्ध मठ में मैंने पूरा दिन बिताया। यद्यपि मैं भाषा के कारण वहाँ उनसे कोई बात नहीं कर सकता था, मैं उनकी प्रार्थनाएँ

तिब्बती में होने के कारण उन्हें समझ सकता था—जैसे दुनिया भर के कैथोलिक लेटिन भाषा का प्रयोग करते हैं। यहाँ के भिक्षु लिखते भी तिब्बती भाषा में थे। लेकिन मैंने पाया कि हम आँखों से ही बहुत बातें कर सकते हैं। मठ में प्रवेश करते ही मैंने देखा कि सभी भिक्षुओं और बहुत से अनुयायियों की आँखों में आँसू भरे हैं। तिब्बत के लोग भी इस प्रकार अपनी भावनाएँ व्यक्त करने में कुशल हैं और मुझे तुरन्त सबसे अपनापन महसूस होने लगा।

बुरयात की राजधानी उलानउडे में मैंने जो मठ देखा, वैसा सोवियत रूस में और कहीं देखने को नहीं मिला। सन् 1945 में, जब स्टालिन अपनी सत्ता के शिखर पर था, इसका निर्माण हुआ था। यह कैसे हुआ, यह तो मेरी समझ में नहीं आया, लेकिन इससे मुझे यह समझने में सहायता मिली कि मनुष्य के मन में आध्यात्मिकता इतनी गहराई से विद्यमान है कि इसे समाप्त कर पाना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। मेरे अपने देश के स्त्री-पुरुषों की तरह बल्कि उनसे भी कहीं अधिक समय तक, बुरयात की जनता ने अपने धर्म के लिए कष्ट सहन किए हैं। लेकिन जहाँ भी मैं गया, मैंने पाया कि ज़रा भी अवसर मिलते ही उनकी धार्मिकता बड़ी प्रखरता से व्यक्त होने लगती है।

इससे मेरा यह विश्वास भी दृढ़ हुआ कि बौद्ध धर्म तथा मार्क्सवाद में—अब जहाँ भी वह शेष रहा हो—वार्तालाप आवश्यक है; यह कार्य अन्य धर्मों तथा भौतिकवादी दर्शनों के बीच भी होना चाहिए। जीवन के प्रति ये दो दृष्टिकोण वास्तव में एक-दूसरे के पूरक हैं। यह खेद की बात है कि लोग इन्हें एक-दूसरे का विरोधी समझते हैं यदि भौतिकवाद और तकनीक मनुष्य की सभी समस्याओं का हल है, तो दुनिया के औद्योगिक देशों के लोग हँसते हुए नज़र आने चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं है इसी तरह, यदि दुनिया के लोगों का अध्यात्म से ही पूरा सरोकार होता, तो हम सब अपने धार्मिक विश्वासों का पालन करके ही सारा सुख प्राप्त कर लेते। लेकिन तब हमारी कोई प्रगति ही नहीं होती। मनुष्य को भौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास की ज़रूरत है। मनुष्यता को जड़ता से बचाना आवश्यक है, क्योंकि यह उसकी मृत्यु होगी।

उलानउडे से मैं मंगोलिया गणतन्त्र की राजधानी उलानबटोर गया, जहाँ भिक्षुओं ने मेरा बहुत भावपूर्ण ढंग से स्वागत किया। लेकिन जिस प्रसन्नता और सहजता से उन्होंने मुझे स्वीकार किया, वह अधिकारियों को पसन्द नहीं आया। पहले दिन लोग चारों तरफ से उमड़े पड़ रहे थे और मुझे छूना चाहते थे। लेकिन दूसरे दिन मैंने देखा कि वे सब मूर्तियों की तरह अपनी-अपनी जगह चुप खड़े हैं और उनकी आँखों में आँसू हैं। जब मैं अपने पूर्ववर्ती दलाई लामा के निवास पर गया, जो शताब्दी के आरम्भ में यहाँ आए थे, तब कोई मेरे पास नहीं आया। बाद में अवश्य एक

व्यक्ति ने गुप्त रूप से इस सरकारीपन को तोड़ने की कोशिश की। जब मैं एक संग्रहालय से बाहर निकल रहा था, फाटक पर खड़े एक व्यक्ति ने मुझसे हाथ मिलाते हुए उसमें कुछ पकड़ाने की कोशिश की। यह माला थी जिसपर वह मेरा आशीर्वाद चाहता था। यह देखकर मुझे दुख भी हुआ और करुणा भी उत्पन्न हुई।

इस संग्रहालय में मैंने एक चित्र देखा जिसमें एक भिक्षु अपना खूब बड़ा-सा मुँह खोले खड़ा है और उसमें खानाबदोश अपने जानवर लिए घुसे चले जा रहे हैं। ज़ाहिर था कि इसका उद्देश्य धर्म विरोधी प्रचार करना था। मैं इसे ज़रा ज़्यादा ध्यान से देखने के लिए आगे बढ़ा तो मेरे गाइड ने घबराते हुए मुझे इस घटिया स्तर के कम्युनिस्ट प्रचार साधन से अलग करने की कोशिश की। मैंने कहा कि मुझसे कुछ छिपाने की ज़रूरत नहीं है। चित्र में जो कहा गया था, उसमें कुछ सत्य भी था। ऐसी सचाइयों से परहेज़ नहीं करना चाहिए। प्रत्येक धर्म में हानि पहुँचाने की क्षमता होती है, वे लोगों का शोषण भी करते हैं। परन्तु यह कमी उन धर्मों की नहीं होती, उन व्यक्तियों की होती है जो उनका पालन करते हैं।

एक और मनोरंजक घटना हुई जो कालचक्र मंडल के प्रदर्शित मॉडल से जुड़ी थी। यह जैसे बनाया गया था, उसमें मुझे कुछ कमियाँ नज़र आईं। इसलिए जब एक स्टाफ़ की लड़की ने इसे मुझे समझाना शुरू किया तो मैंने उससे कहा, "देखो, मैं इन चीज़ों का विशेषज्ञ हूँ, इसलिए तुम्हारी जगह मैं ही तुम्हें समझाता हूँ।" इसके बाद मैंने उसकी कमियों के बारे में उसे बताया, जो उसे भी अच्छा लगा।

जब मंगोलियाइयों से मेरी घनिष्टता बढ़ी तो मुझे लगा कि हमारे देशों के सम्बन्ध कितने मज़बूत हैं। पहली बात तो यह कि उनका धर्म भी वही है जो हमारा है। जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ, पूर्वकाल में अनेक मंगोलियाई विद्वान तिब्बत आए और उन्होंने हमारी संस्कृति तथा धर्म को बहुत कुछ दिया। तिब्बत में बहुत से ऐसे धर्म ग्रन्थ पढ़े जाते हैं जिन्हें मंगोलिया के लोगों ने लिखा है। इसके अलावा, हमारी बहुत सी प्रथाएँ एक समान हैं, जैसे, काता भेंट करने की प्रथा—अन्तर सिर्फ इतना है कि तिब्बती काता सफ़ेद होता है और मंगोलियाई काता हल्का नीला या स्लेटी रंग का होता है। इस विषय पर और आगे सोचने पर मुझे विचार आया कि तिब्बत के साथ मंगोलिया के सम्बन्ध उसी प्रकार के हैं जैसे भारत के साथ तिब्बत के हैं। इस दृष्टि से, दोनों देशों के सम्बन्ध पुनःस्थापित करने के लिए मैंने छात्रों के आदान-प्रदान की एक योजना आरम्भ की।

जब मैं वापस लौटने लगा, तब सोवियत रूस तथा मंगोलिया दोनों देशों के बारे में अच्छी धारणाएँ लेकर लौटा। इनमें से कुछ तो भौतिक उन्नति के बारे में थीं, विशेषकर मंगोलिया की, जहाँ उद्योग, कृषि तथा पशुपालन के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रगति हो रही थी। इसके बाद मैं एक बार फिर रूस की यात्रा पर, सन् 1987 में,

गया था और मुझे यह देखकर अच्छा लगा कि वहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता थी और उसके परिणाम स्पष्ट नज़र आते थे। अब वे अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकते थे, इसलिए प्रसन्न भी अधिक थे।

2 अगस्त 1979 को निर्वासन में तिब्बत सरकार के पाँच सदस्यों का एक प्रतिनिधि-मंडल बीजिंग होते हुए तिब्बत की यात्रा के लिए चला। मैंने बड़े ध्यानपूर्वक इन सदस्यों का चुनाव किया था। चूँकि यह आवश्यक था कि ये लोग जितना अधिक सम्भव हो, उतने वस्तुपरक हों, इसलिए मैंने ऐसे लोगों को चुना जो न केवल चीनी आक्रमण से पूर्व के तिब्बत को जानते थे, बल्कि आधुनिक संसार से भी भली-भाँति परिचित थे। मैंने इस बात का भी ध्यान रखा कि तिब्बत के तीनों प्रदेशों का एक-एक प्रतिनिधि भी उसमें हो।

मेरा भाई लोबसांग सामतेन भी एक सदस्य था। उसने बहुत पहले भिक्षुत्व छोड़ दिया था और अब अपने परिवार से मैं अकेला ही बौद्ध संघ का अंग था, और उस समय वह जीवन के बहुत आधुनिक पक्ष से गुज़र रहा था। उसका पहनावा तो एकदम आधुनिक था ही, बाल काफ़ी लम्बे और घनी नीचे की ओर गिरती मूँछें थीं। उसके कपड़े बड़े अनौपचारिक होते थे और मुझे चिन्ता हुई कि इस लिबास में तिब्बत के लोग कहीं उसे पहचान ही न सकें।

इस घटना के दस वर्ष बाद भी मैं यह नहीं जान सका कि बीजिंग के नेताओं की प्रतिनिधि-मंडल से 'नवीन' तिब्बत के बारे में क्या अपेक्षाएँ थीं। लेकिन मेरा विश्वास है कि वे यही सोचते थे कि ये लोग अपने देश की सुख-समृद्धि के बारे में यही धारणा लेकर जाएँगे कि अब निर्वासन समाप्त कर वापस लौट जाना चाहिए। एक तथ्य यह है कि चीनियों को यह भी डर था कि कहीं तिब्बत की सही सोचवाली जनता इन प्रतिनिधियों पर हमला न कर बैठे, इसलिए चीनी अधिकारियों ने तिब्बतियों को इन लोगों के साथ अच्छा व्यवहार करने के निर्देश भी दिए थे—मुझे यह भी सन्देह है कि भारत में रह रहे दलाई लामा और उनका निर्वासन चीन सरकार के लिए बड़ी चिन्ता की बात होने लगी थी क्योंकि उनके प्रति दुनिया का मत बदल रहा था। इसलिए वे किसी न किसी प्रकार हमें वापस ले आना चाहते थे।

हमारे लिए यह अच्छी बात थी कि वे हमारी प्रतिक्रिया के प्रति निश्चिन्त थे। इसलिए, जब हमारा प्रतिनिधि-मंडल बीजिंग में था, तभी उन्होंने घोषणा की कि तीन और प्रतिनिधि-मंडल तिब्बत जाएँगे।

मेरे पाँच प्रतिनिधियों ने बीजिंग में दो सप्ताह बिताकर बातचीत और बैठकें करके अपनी यात्रा की रूपरेखा बनाई कि अगले चार महीनों में वे कहाँ-कहाँ होकर पूरे तिब्बत का निरीक्षण करेंगे। लेकिन, जैसे ही वे आमदो पहुँचे, चीनियों के लिए

स्थिति बिगड़नी शुरू हो गई। प्रतिनिधि जहाँ-जहाँ भी गए, हज़ारों लोागें ने उन्हें घेर लिया, विशेषकर युवाओं ने और आशीर्वाद माँगने के साथ मेरे बारे में खबरें पूछने लगे। इससे चीनियों का क्रोध भड़क उठा और उन्होंने ल्हासा में स्थित अपने अधिकारियों को आगाह करना शुरू कर दिया। इन चेतावनियों के उत्तर में उनसे कहा गया, "राजधानी में उच्च स्तर के राजनीतिक प्रशिक्षण के कारण यहाँ ऐसी किसी घटना की आशंका नहीं है।"

परन्तु, यात्रा के प्रत्येक चरण में प्रतिनिधियों का ज़बरदस्त उत्साह से स्वागत होता था। जब वे ल्हासा पहुँचे, वहाँ अपार भीड़ थी—जो फोटो वे अपने साथ लाए, उनमें हज़ारों-हज़ार लोग सड़कों पर ठसाठस भरे दिखाई देते हैं। चीनी अधिकारियों के स्पष्ट आदेश के बावजूद, कि लोग बाहर न निकलें, उन्होंने उसका उल्लंघन किया था। ल्हासा में घूमते समय एक प्रतिनिधि ने एक बड़े चीनी अधिकारी को अपने सहयोगी से यह कहते हुए सुना, "बीस सालों के प्रयत्न एक दिन में मिट्टी में मिल गए।"

यद्यपि सभी एकतन्त्री देशों के नेताओं तथा जनता की समझ के बीच हमेशा कुछ अन्तर अवश्य होता है, परन्तु यहाँ, प्रतीत होता है कि चीनी नेताओं ने जनता की मनोभावनाओं का आश्चर्यजनक रूप से ग़लत अनुमान लगाया। यद्यपि उनके पास इस तरह की बातों की छानबीन के लिए बहुत सशक्त जासूसी व्यवस्था थी, फिर भी वे सचाई का अनुमान नहीं लगा सके। इससे भी ज़्यादा आश्चर्य मुझे इस बात से होता है कि ऐसे अनेक अनुभवों के बाद चीनी अभी व्यवस्था को अपनाए हुए हैं। इसका एक उदाहरण यह है कि जब हू याओ बेंग ने जो चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेटरी तथा देंग के उत्तराधिकारी भी थे, अगले वर्ष तिब्बत का दौरा किया और उन्हें एक आदर्श ग्राम दिखाने ले जाया गया, तब उनको बहुत बड़ा धोखा हुआ। इसी प्रकार सन् 1988 में जब एक बड़े नेता ने ल्हासा की यात्रा की, तब उन्होंने एक वृद्धा से प्रश्न किया कि वह तिब्बत की स्थिति के बारे में क्या सोचती है। उसने, पार्टी के नेताओं ने जो उसे बताया था, उसे ही दोहरा दिया, और नेता ने इसे तिब्बतियों की सच्ची भावना मानकर स्वीकार भी कर लिया। इसका अर्थ यह हुआ कि चीनी नेता खुद अपने को धोखा देना चाहते हैं। लेकिन हर समझदार आदमी यह महसूस करेगा कि जिन लोगों के गले पर सख्त सज़ा की तलवार लटक रही है, वह अपनी सच्ची मनोभावना को क्यों व्यक्त करेगा?

लेकिन, अच्छी बात यह हुई कि हू याओ बेंग धोखे में नहीं आए। उन्होंने सार्वजनिक रूप से तिब्बतियों की दशा पर चिन्ता व्यक्त की और यह भी पूछा कि जो पैसा तिब्बत की उन्नति के लिए भेजा गया, उसे क्या नदी में बहा दिया गया। इसके बाद उन्होंने वादा किया कि तिब्बत में जितनी चीनी सेना भेजी गई है, उसका 85 प्रतिशत वापस बुला लिया जाएगा।

लेकिन इन वादों का कोई भी नतीजा नहीं निकला। हू याओ बेंग की स्थिति दिनों दिन कमज़ोर होती चली गई और उन्हें चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेटरी पद से इस्तीफा देना पड़ा। इसके बावजूद, मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने बड़े साहस से तिब्बत में चीन की गलतियों को उजागर किया। यह तथ्य कि उन जैसे व्यक्ति ने ये बातें कहीं, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि चीनी नेतृत्व में प्रत्येक व्यक्ति उनकी सरकार के द्वारा विदेशों में इस प्रकार किए जाने वाले दमन का समर्थन नहीं करते। परन्तु यदि हू याओ बेंग की आलोचना का तिब्बत के प्रति किए जाने वाले चीनी व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो दिसम्बर में धर्मशाला लौट आने के बाद पहले प्रतिनिधि-मंडल ने जो रिपोर्ट पेश की, उसका प्रभाव अवश्य पड़ा।

जब में अपनी दो लम्बी यात्राएँ करके—जिनमें मैं रूस, मंगोलिया, ग्रीक, स्विट्ज़रलैंड और इसके बाद अमेरिका गया—अक्टूबर 1979 में धर्मशाला वापस लौटा, उसी समय प्रतिनिधि-मंडल के पाँचों सदस्य भी वापस आए। वे अपने साथ सैकड़ों फिल्म की रीलें, कई घंटों के वार्तालाप के टेप और इतनी ज़्यादा सूचना-सामग्री लाए कि उन्हें अन्तिम रूप देने, अध्ययन और विश्लेषण करने में कई महीने का समय लगना था। वे अपने साथ निर्वासित तिब्बतियों के लिए उनके सगे-सम्बन्धियों के सात हज़ार से अधिक पत्र भी लाए—पूरे बीस साल के बाद ये पत्र तिब्बत से बाहर निकले थे।

दुर्भाग्य से 'नवीन' तिब्बत सम्बन्धी इस प्रतिनिधि-मंडल के निष्कर्ष एकदम नकारात्मक थे। ये जहाँ-जहाँ भी गए, हर जगह अश्रुपूर्ण तिब्बतियों की भीड़ से मिलने के अलावा इन्होंने चीनी अधिकारियों द्वारा अपनी प्राचीन संस्कृति को नष्ट करने के भी अनगिनत प्रमाण देखे। इसके अलावा इन्हें सालों लम्बे अकाल, आम भुखमरी, सार्वजनिक फाँसी और मानवाधिकार के क्रूरतम हनन, जिसमें बलपूर्वक मज़दूरी कराने और 'शिक्षण' के लिए हज़ारों बच्चों का भगाया जाना शामिल था, निर्दोष नागरिकों को जेल तथा यातना-शिविरों में सहस्रों भिक्षु और भिक्षुणियों की मृत्यु के भी अनगिनत प्रमाण प्राप्त हुए। इन भयंकर कथाओं के साथ मठों और भिक्षुणी-ग्रहों के दर्जनों फोटो थे जिन्हें नष्ट करके अनाज के गोदाम, फैक्टरियाँ और पशुशालाएँ बना दिया गया था।

परन्तु, इन सारी विरोधी सूचनाओं के उत्तर में चीनी अधिकारियों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे प्रतिनिधि-मंडल के किसी सदस्य की अथवा किसी निर्वासित तिब्बती की कोई आलोचना सुनने के लिए तैयार नहीं हैं। जब तक हम तिब्बत से बाहर रह रहे हैं तब तक देश के भीतर क्या हो रहा है, इसकी आलोचना करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। जब लोबसांग सामतेन ने मुझे यह बताया, तब मुझे पचास के दशक में हुई एक और घटना याद आई। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के एक सदस्य ने एक तिब्बती अधिकारी से पूछा कि तिब्बत में चीनी शासन के बारे में उसकी

राय क्या है? उसने उत्तर दिया, "पहले मुझे देश के बाहर चले जाने दो, तब मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगा।"

लेकिन यह कहना सही होगा कि प्रतिनिधि-मंडल कुछ अच्छे समाचार भी लेकर आया। उदाहरण के लिए, जब वे बीजिंग में थे तब उनकी कुछ तिब्बती छात्रों से बात हुई जो कम्युनस्टि पार्टी के सदस्यों के रूप में प्रशिक्षित किए जा रहे थे। लेकिन अंधों की तरह मार्क्सवादी या चीनी नीतियों के समर्थक होने के स्थान पर वे पूरी तरह तिब्बत की स्वाधीनता के प्रति समर्पित थे। और ऐसी अनगिनत घटनाओं से भी जिनमें सामान्य तिब्बतियों ने खुलकर दलाई लामा के प्रति अपने प्रेम और सम्मान का खुलकर प्रदर्शन किया, यह स्पष्ट था कि तमाम अत्याचार के बावजूद उनकी आत्मा कमज़ोर नहीं हुई है। इसके विपरीत, उनके अनुभवों ने उन्हें और भी दृढ़ता प्रदान की है।

प्रतिनिधि-मंडल की एक और सकारात्मक घटना बीजिंग में उनकी पैंचेन लामा से भेंट की थी। चीनी अधिकारियों ने उनपर बहुत अत्याचार किया था और उन्होंने सदस्यों को अपने शरीर पर पड़े हुए घाव दिखाए। उन्होंने बताया कि मेरे ल्हासा से निकल भागने के बाद उनके ताशिलहुनपो मठ पर तुरन्त कोई आक्रमण नहीं किया गया। लेकिन जब उन्होंने चीनियों की आलोचना आरम्भ की तब वहाँ भी फ़ौजें भेज दी गईं। फिर सन् 1962 में उनसे कहा गया कि वे समिति के अध्यक्ष बन जाएँ। उन्होंने इससे इन्कार कर दिया और चेयरमैन माओ को 70 हज़ार शब्दों का एक लम्बा शिकायतनामा भेजा। इसके बाद उन्हें मठ से पदच्युत कर दिया गया—यद्यपि माओ ने निर्लज्जता पूर्वक उनसे यही कहा कि उनकी शिकायतों पर ध्यान दिया जाएगा—और जो थोड़े से वृद्ध भिक्षु ताशिलहुनपो की देखभाल करने वहाँ जा पहुँचे थे, उन्हें गम्भीर आरोप लगाकर गिरफ़्तार कर लिया और शिगात्से में सार्वजनिक रूप से अपमानित किया।

सन् 1964 के आरम्भ में पैंचेन लामा को पुनर्वास का अवसर प्रदान किया गया। मोनलाम उत्सव के समय उन्हें ल्हासा की जनता के समक्ष भाषण देने को कहा गया—अब सिर्फ एक दिन के लिए इस पर्व का पुनरारंभ किया गया था।

उन्होंने यह स्वीकार कर लिया। लेकिन, चीनी अधिकारियों को उन्होंने जनता के सामने यह घोषणा करके चकित कर दिया कि दलाई लामा ही तिब्बती जनता के वास्तविक नेता हैं। भाषण का अन्त हुआ तो जनता नारे लगा रही थी, 'दलाई लामा अमर रहें।' इसके बाद उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और सत्रह दिन के गुप्त मुकदमे के बाद उन्हें ग़ायब कर दिया गया। लोगों को लगा कि उन्हें मार डाला गया है। लेकिन बाद में पता चला कि पहले कुछ समय तक घर में ही नज़रबन्द रखने के बाद उन्हें चीन की सबसे ज़्यादा कड़े पहरे वाली जेल में रखा गया है, जहाँ उन्हें कठोर यन्त्रणाएँ दी गईं और 'पुनर्शिक्षित' करने का प्रयत्न किया गया। यहाँ

की स्थितियाँ इतनी भयंकर थीं कि उन्होंने एक से अधिक बार आत्महत्या करने की चेष्टा की।

इस तरह पैंचेन लामा जीवित और सामान्यतया स्वस्थ थे। लेकिन, प्रतिनिधियों ने देखा कि तिब्बत का स्वास्थ्य बहुत खराब था। यह सच है कि देश की अर्थव्यवस्था में सुधार हुआ था और हर वस्तु पहले से अधिक उपलब्ध थी। लेकिन इससे तिब्बतियों का कोई लाभ नहीं था क्योंकि हर वस्तु पर चीनियों का कब्ज़ा था। उदाहरण के लिए, अब वहाँ बहुत सी फैक्टरियाँ थीं—पहले एक भी नहीं थी—लेकिन इनमें बनी सब वस्तुएँ चीन चली जाती थीं। फैक्टरियों का निर्माण अन्य आवश्यकताओं पर ध्यान दिए बिना किया गया था, जिससे पर्यावरण को भारी क्षति पहुँच रही थी। पनविद्युत बिजलीघरों के बारे में भी यही सच था। इसके अलावा राजधानी और दूसरे शहरों के चीनी मुहल्ले बिजली से हमेशा रोशन रहते थे, जबकि राजधानी ल्हासा के सामान्य मुहल्लों में हर कमरे में ज़्यादा-से-ज़्यादा 15 या 20 वाट का बल्ब ही जलता था। इसमें भी अक्सर कटौती कर दी जाती, विशेषकर सर्दियों के मौसम में, जब शहर के अन्य कामों के लिए यहाँ से काटकर वहाँ बिजली पहुँचा दी जाती थी।

जहाँ तक कृषि का प्रश्न है, जौ की पारम्परिक फसल के स्थान पर चीनियों ने सर्दियों में गेंहूँ उगाना शुरू कर दिया था। इसका कारण यह था कि चीनी जौ नहीं, गेंहूँ खाते हैं। इसके अलावा, उपज बढ़ाने के नए साधनों का उपयोग करके एक-दो फसलें तो बहुत अच्छी पैदा कर ली जाती थीं, लेकिन इस कारण फिर कई वर्षों तक अकाल पड़ता था। इन परिवर्तनों के कारण तिब्बती धरती की पतली उपजाऊ परत बहुत जल्द नष्ट होती चली गई और मीलों दूर तक रेगिस्तान बनता चला गया।

दूसरे भूमि-साधनों का भी, जैसे वनों का, इसी प्रकार शोषण किया गया। सन् 1955 के बाद से लगभग पाँच करोड़ पेड़ काट डाले गए और लाखों एकड़ ज़मीन पर हरियाली बर्बाद कर दी गई। पशु-पालन में नाटकीय वृद्धि हुई और कई स्थानों पर जितने पशु चराई करते थे, उससे दस गुना ज़्यादा पशु अब चराई करने लगे। अनेक स्थानों पर यह स्थिति पैदा हो गई कि किसी भी तरह की चराई सम्भव ही नहीं रही। इसके परिणाम-स्वरूप बड़े-बड़े प्रदेशों का पर्यावरण बिलकुल नष्ट हो गया। जहाँ पहले हिरन, क्यांग और द्रोंग पशु बड़े-बड़े झुंडों में घूमते थे, अब एकदम गायब हो गए हैं, और बत्तख तथा हंस चहचहाते हुए विचरते थे, उनकी अब शक्ल नहीं दिखाई देती।

अब स्वास्थ्य को लें। चीनियों का यह कहना सही था कि अब अस्पतालों की संख्या बढ़ गई है। लेकिन इनमें बहुत भेदभाव बरता जाता है, विशेषकर बाहर से आए चीनियों के पक्ष में। जब कभी उन्हें खून की ज़रूरत होती है, वह तिब्बती 'स्वयं सेवकों' का ही लिया जाता है।

अब स्कूलों की संख्या पहले से बढ़ गई है लेकिन शिक्षा का कार्यक्रम चीनियों के हित में ही चलाया जाता है। उदाहरण के लिए, प्रतिनिधि-मंडल ने कहानियाँ सुनीं कि केन्द्रीय शासन से धन प्राप्त करने के लिए चीनी अधिकारियों ने कहा कि इसकी आवश्यकता तिब्बतियों को शिक्षित करने के लिए है लेकिन इसका उपयोग उनके अपने बच्चों के लिए किया गया। और चीनी तिब्बतियों को जो शिक्षा प्रदान करते थे, वह चीनी भाषा में ही दी जाती थी। उन्होंने घोषणा की थी कि तिब्बती भाषा 'पन्द्रह साल में' समाप्त कर दी जाएगी। बच्चों के बहुत सारे स्कूल मज़दूर शिविरों से ज़्यादा कुछ नहीं थे। जिनको सचमुच अच्छी शिक्षा प्राप्त होती थी, उनकी संख्या पन्द्रह सौ के लगभग थी—ये चुने हुए बच्चे 'एकता बढ़ाने' के उद्देश्य से चीन के अच्छे स्कूलों में पढ़ने भेज दिए जाते थे।

प्रतिनिधियों ने यह भी देखा कि सारे तिब्बत में यातायात की सुविधाएँ बहुत बढ़ गई हैं। बहुत सी सड़कें देश भर में बन गई हैं और हर बस्ती को एक-दूसरे से जोड़ दिया गया है। हज़ारों गाड़ियाँ, जिनमें ज़्यादातर बड़ी ट्रकें हैं, चल पड़ी हैं, और चीनी सरकार इन सब की मालिक है। लेकिन सामान्य तिब्बती बिना आज्ञा के कहीं आ-जा नहीं सकते। अब इन नियमों में थोड़ा परिवर्तन हुआ है, लेकिन बहुत कम तिब्बती इनका लाभ उठा सकते हैं।

इसी तरह, यद्यपि रोज़मर्रा के उपयोग की चीज़ें भी उपलब्ध होने लगी हैं, लेकिन बहुत कम तिब्बती उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। उनकी बहुसंख्या बेहद ग़रीबी में जीवन बिता रही है। प्रतिनिधियों को बताया गया कि कुछ ही समय पहले तक खाने-पीने की चीज़ों की राशनिंग इतनी सख्त थी कि तीस दिन की सामग्री बीस दिन से ज़्यादा के लिए काफ़ी नहीं होती थी। इसके बाद लोग पत्तियाँ और घास खाकर ही दिन बिताते थे। उदाहरण के लिए, एक महीने के मक्खन का राशन, जितना पुराने समय में एक वक्त की चाय के लिए इस्तेमाल होता था, अब होंठों को चुपड़ने में ही चुक जाता था। प्रतिनिधि जहाँ भी गए, लोग बहुत ज़्यादा दुबले दिखाई देते थे, क्योंकि पौष्टिक पदार्थों की एकदम कमी हो गई थी, और कपड़ों की जगह वे चिथड़े ही पहने दिखाई देते थे। यह बताने की ज़रूरत ही नहीं है कि कीमती ज़ेवर पहनना बिलकुल खत्म हो चुका था, और बुन्दे वगैरह, जो पहले एकदम मामूली लोग पहनते थे, अब किसी के शरीर पर दिखाई नहीं देते थे।

इस सबके ऊपर लोगों को अब कर भी बहुत देने पड़ते थे, हालाँकि चीनी इन्हें 'कर' न कहकर 'किराया' वगैरह कहते थे। खानाबदोशों को भी अपनी मुश्किल से कमाई आजीविका पर कर चुकाना पड़ता था। कुल मिलाकर देखा जाए तो तिब्बत के लिए चीन का आर्थिक कार्यक्रम एक प्रकार की यन्त्रणा ही था।

और जैसे यह पर्याप्त नहीं था, प्रतिनिधियों ने पाया कि तिब्बती संस्कृति को सख्ती से दबा दिया गया था। उदाहरण के लिए, केवल राजनीतिक गीत ही, चीनी

धुनों में, गाने की इजाज़त थी। धर्म पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। हज़ारों मठ और भिक्षुणी-गृह नष्ट कर दिए गए थे। उन्हें बताया गया कि पचास के दशक से इन्हें किस प्रकार योजना पूर्वक नष्ट किया गया। हर इमारत का हिसाब लगाने पहले क्लर्क आते थे जो वहाँ की सम्पत्ति तथा सामग्री की सूची तैयार करते थे, फिर कार्यकताओं के दल आकर सब मूल्यवान वस्तुओं को सावधानी से ट्रकों पर लाद कर ले जाते थे। इन्हें सीधे चीन भेज दिया जाता था जहाँ धातुओं को या तो गला लिया जाता था या मूल्यवान मूर्तियों इत्यादि को ऊँची कीमतों पर विदेशी कला-बाज़ार में बेच दिया जाता था। फिर कार्यकर्ताओं के दूसरे दल आकर लकड़ी, लोहा, छतों के टाइल उखाड़कर ले जाते थे। अन्त में स्थानीय लोगों को ज़बरन पुराने समाज तथा 'भ्रष्ट' भिक्षुओं के प्रति अपनी 'घृणा व्यक्त करने' के लिए उसको ध्वस्त करने में लगा दिया जाता था, जिसके बाद वहाँ खंडहरों के अलावा कुछ भी शेष नहीं रहता था।

मठों की सामग्री तिब्बत की सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान सम्पत्ति होती थी। सैकड़ों वर्षों से देश के परिवार उन्हें अपनी सर्वोत्कृष्ट वस्तुएँ दान में देते रहते थे। अब यह सब विपुल सामग्री चीनी राष्ट्र के विकराल पेट में जाकर समा गई।

इस सबके बाद भी असन्तुष्ट चीनी अब तिब्बती जनता की तरफ रुख़ करते थे। उन्होंने अपने देश में ही नहीं, तिब्बत में भी प्रति परिवार केवल दो बच्चों का नियम लागू कर दिया था। जो लोग सीमा को पार कर देते थे, उन्हें अस्पतालों में—जिन्हें ग्यान्त्से में 'कत्लगाह' कहा जाता था—ले जाकर स्त्रियों का जबरन गर्भपात करा दिया जाता था। इसलिए बहुत-सी स्त्रियों ने न चाहते हुए भी सन्तानों पर नियन्त्रण करने के लिए साधनों का उपयोग आरम्भ कर दिया था—जैसा तिब्बत से आने वाली स्त्रियों से, जो ताँबे के योनि के भीतर लगाए जाने वाले खुरदरे साधनों का प्रयोग करने लगी थीं, पता चलता रहता था।

फिर जब जनता विद्रोह करने उठ खड़ी होती, जैसा सन् 1959 के बाद कई दफ़ा हुआ, तब पूरे गाँव मिट्टी में मिला दिए जाते, वहाँ के निवासियों को मृत्यु के घाट उतार दिया जाता, और बाकी हज़ारों लोगों को जेलों में ठूँस दिया जाता था। यहाँ उनकी परिस्थितियाँ बड़ी भयंकर थीं, दिनभर जबरन मज़दूरी और खाने को अधूरा और सड़ा-गला राशन। मैंने खुद ऐसे बहुत से लोगों से बात की है जो इन जेलों में रहे थे। इनमें एक थे डॉ. तेनज़िन चोएद्रक, जो पचास के दशक के अन्तिम वर्षों में मेरे व्यक्तिगत चिकित्सक रहे थे। जब पहला प्रतिनिधि-मंडल बीजिंग गया, तब उसके ज़रिए मैंने चीन सरकार से प्रार्थना की कि उन्हें छोड़ दिया जाए और मेरे पास भेज दिया जाए।

पहले तो कुछ नहीं हुआ, लेकिन एक साल बाद उन्हें छोड़ दिया गया और सन् 1980 के अन्त में वे धर्मशाला आ गए। उन्होंने अपमान और क्रूरता की जो

कहानियाँ सुनाईं, वे अविश्वसनीय थीं। अपने बीस साल के कारागार निवास में भूख के कारण वे कई दफ़ा मृत्यु के द्वार पर पहुँच गए। उन्होंने बताया कि किस प्रकार उन्हें और उनके साथियों को अपने कपड़े ही खाने पर बाध्य किया जाता था, और किस प्रकार उसके एक साथी ने, जो उनके साथ उस समय अस्पताल में था, अपने ही शौच में पेट से बाहर निकला एक कीड़ा ही धोकर खा लिया।

मैं ये सब बातें किसी को दुखी करने के लिए नहीं लिख रहा हूँ। बौद्ध भिक्षु होने के नाते में अपने चीनी भाई-बहनों का विरोधी नहीं हूँ, मैं जनता को शिक्षित करना चाहता हूँ। ऐसे बहुत-से चीनी हैं जिन्हें तिब्बत की वास्तविक स्थिति का ज्ञान ही नहीं है। मैं अपना क्रोध व्यक्त करने के लिए भी इनका उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। इसके विपरीत मेरा यह मानना है कि ये घटनाएँ घट चुकी हैं, इसलिए अब भविष्य की ओर देखने के सिवा कुछ नहीं किया जा सकता।

इस पहले प्रतिनिधि-मंडल की यात्रा के बाद अब काफी समय गुज़र चुका है, लेकिन अनेक स्रोतों से इनकी पुष्टि की जा चुकी है—जैसे, इसके बाद गए प्रतिनिधि-मंडलों द्वारा, विदेशी पत्रकारों तथा पर्यटकों द्वारा, और कुछ सद्भावी चीनियों द्वारा भी। परन्तु दुर्भाग्य से, बीच की इस अवधि में, यद्यपि कुछ प्रगति भी हुई है, लेकिन अनेक दृष्टियों में स्थिति पहले से बदतर ही हुई हैं।

अब हम जानते हैं कि तीन लाख से अधिक चीनी सैनिक तिब्बत में तैनात हैं, जिनमें से कुछ भारत की सीमा पर हैं, लेकिन लगभग पचास हज़ार ल्हासा से एक दिन की यात्रा की दूरी पर ही है। इसके अलावा चीन के न्यूक्लियर हथियारों का एक-तिहाई तिब्बत की भूमि पर रखा है। और चूँकि तिब्बत में दुनिया का एक सबसे बड़ा यूरेनियम का भंडार है, इसलिए चीनी इसके खनन इत्यादि से बहुत विशाल भूक्षेत्र को खतरनाक रेडियो एक्टिव प्रदेश में बदल सकते हैं। तिब्बत के पूर्वोत्तर प्रदेश आमदो में, जहाँ मेरा जन्म हुआ, दुनिया की सबसे विशाल गुलग जेल है, जहाँ, कुछ अनुमानों के अनुसार दस मिलियन कैदी रखे जा सकते हैं।

इसके अलावा, बड़ी संख्या में चीनियों को तिब्बत में बसाकर सरकार ने तिब्बतियों की कुल संख्या से उनकी संख्या अधिक कर दी है। मेरे देशवासियों का उनके अपने ही देश में स्थान अब पर्यटकों के आकर्षण से अधिक नहीं रह गया है।

14

शान्ति के प्रयत्न

तिब्बत की स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए मई 1980 में दो और मिशन भारत से वहाँ भेजे गए। एक में युवा शामिल किए गए थे, दूसरे में शिक्षक। पहले मिशन के द्वारा मैं यह जानना चाहता था कि ताज़ी उम्र के लोगों को तिब्बत कैसा लगता है। दूसरे के द्वारा यह जानना मेरा उद्देश्य था कि तिब्बत के युवाओं की स्थिति क्या है और उनके लिए सम्भावनाएँ क्या हैं।

दुर्भाग्य से, युवाओं का मिशन अपना कार्य ही नहीं कर सका। हुआ यह कि निर्वासितों को तिब्बत वापस आया देखकर तिब्बतियों के झुंड के झुंड उनका स्वागत करने उमड़ पड़े और उन्होंने चीनियों के विरुद्ध अपनी शिकायतों की झड़ी लगा दी। इसका परिणाम यह हुआ कि चीनी अधिकारियों ने उन पर तिब्बतियों को भड़काने तथा 'मातृभूमि की एकता' को खतरे में डालने का आरोप लगाकर प्रतिनिधि-मंडल को देश से बाहर निकाल दिया। इससे मुझे बड़ी परेशानी हुई। 'तथ्यों से सत्य का पता लगाने' के इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि चीनियों ने तथ्यों पर एकदम पर्दा डालने की स्थिति उत्पन्न कर दी। लेकिन प्रतिनिधि-मंडल को देश से बाहर निकाल कर उन्होंने यह तो स्पष्ट कर ही दिया था कि उन्हें तिब्बतियों की भावना का अंदाज़ा है।

लेकिन तीसरे प्रतिनिधि-मंडल को, जिसका नेतृत्व मेरी बहिन जेत्सुन पेमा कर रही थीं, उन्होंने रुकने दिया। अक्टूबर 1980 में जब ये लोग धर्मशाला वापस लौटे तब यह तो स्पष्ट हुआ कि पिछले बीस सालों में वहाँ शिक्षा के स्तर पर हल्का-सा सुधार तो हुआ है, लेकिन इसका ज़्यादा लाभ इसलिए नहीं है क्योंकि चीनियों की दृष्टि में तिब्बती बच्चों को चेयरमैन माओ के विचार बताने के लिए पढ़ने का ज्ञान कराया गया है, और लिखने की शिक्षा इसलिए दी गई है कि वे अपने अपराध सही भाषा में लिखकर दे सकें।

कुल मिलाकर इन मिशनों से यह स्पष्ट और पुष्ट हुआ कि चीन ने किस सीमा तक तिब्बत पर अत्याचार किया है, और वहाँ के निवासियों की जीवन-स्थितियाँ कितनी बुरी हो गई हैं। और यद्यपि, पिछले बीस वर्षों में तिब्बत की जनता के कष्टपूर्ण

जीवन में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, लेकिन चीनी अधिकारी तिब्बतियों को अब भी 'पिछड़े, अज्ञानी और क्रूर' व्यक्ति मानते हैं।

सन् 1981 में कुछ दिन बीमार रहने के बाद मेरी माँ का देहान्त हो गया। अपने सुदीर्घ जीवन में—वे लगभग सौ वर्ष की हो रही थीं—वे हमेशा स्वस्थ रही थीं, इसलिए अब इस तरह बिस्तर पर जा पड़ना उनके लिए नया अनुभव था। इसका अर्थ था कि पहली दफ़ा उन्हें दूसरों पर निर्भर होना पड़ रहा है। इससे पहले वे हमेशा अपनी देखभाल खुद कर लेती थीं। जैसे, यद्यपि उन्हें सवेरे काफ़ी जल्दी जाग जाना पसन्द था, लेकिन वे चाय के लिए नौकरों पर कभी निर्भर नहीं करती थी, हालाँकि उनकी एक कलाई टूट जाने से कमज़ोर पड़ चुकी थी, जिससे उन्हें हाथ चलाना मुश्किल होता था।

जीवन के आखिरी महीनों में, तेनज़िन चोग्याल, ने जो उन दिनों उनके साथ रहता था, उनसे पूछा कि उन्हें अपनी सन्तानों में कौन सबसे ज़्यादा प्रिय है। मेरा ख्याल है कि वह सोचता होगा कि माँ उसी का नाम लेंगी। लेकिन उन्होंने लोबसांग सामतेन का नाम लिया। मैं यह कहानी इसलिए नहीं बता रहा हूँ, क्योंकि जब मेरे भाई ने यह बात मुझे बताई, तो एक क्षण के लिए मैंने भी यही सोचा कि उन्होंने मेरा नाम लिया होगा, इसलिए भी बता रहा हूँ कि, जब उनका देहान्त हुआ तब उनके बच्चों में लोबसांग सामतेन ही उनके पास था। इससे कुछ पहले मैं उनसे मिला था, लेकिन इस समय मैं बोधगया में था।

जैसे ही उनके देहान्त का मुझे समाचार मिला, मैं प्रार्थना करने लगा कि उनका पुनर्जन्म अच्छा हो। मेरे साथ जो भी तिब्बती थे, वे सब एक स्वर से इस प्रार्थना में सम्मिलित हो गए, और माँ के प्रति उनकी भावनाएँ बहुत द्रवित करने वाली थीं। सरकार ने भी सन्देश भेजकर अपना शोक व्यक्त किया। यह पत्र लिंग रिन्पोचे के नाम था क्योंकि यह उन्हें ही मुझे देना था, लेकिन किसी कारणवश यह सीधे मुझे ही दे दिया गया। इससे एक मनोरंजक घटना घटी। मैंने पत्र पढ़कर उन्हें दे दिया। अब उन्होंने इसे पढ़ा तो सिर खुजाते वे मेरे पास आए। बोले, "यह पत्र तो मुझे आपको देना था, आपको मुझे नहीं देना था। अब मैं क्या करूँ? यह पहली दफ़ा था, मैंने देखा कि लिंग रिन्पोचे को शब्द नहीं मिल रहे थे।

माँ की मृत्यु का मुझे बहुत दुख हुआ। समय बीतने और उसके साथ मेरी ज़िम्मेदारियाँ बढ़ते चले जाने के कारण मेरा उनसे मिलना कम होता जा रहा था। फिर भी आत्मिक रूप से हम एक-दूसरे के बहुत समीप थे, इसलिए मैंने एक बड़े अभाव का अनुभव किया—यह मुझे हमेशा तब अनुभव होता है जब मेरे दल का कोई पुराना सदस्य गुज़र जाता है। समय के साथ पुरानी पीढ़ी खत्म होती जा रही

है—जो स्वाभाविक भी है। अब मेरे इर्द-गिर्द ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है, जो आयु में मुझसे कम हैं। तथ्य यह है कि मेरे सहायकों की आयु का औसत अब 35 वर्ष से कम है। मेरे ख्याल से यह अच्छी बात है। आज तिब्बत जो चुनौतियाँ झेल रहा है, उनसे निपटने के लिए आधुनिक मस्तिष्कों की आवश्यकता है। जो लोग पुराने तिब्बत में रहे और पले, उनके लिए आज जो वहाँ हो रहा है, उसे समझना कठिन हो सकता है। इन समस्याओं से जिन्हें निबटना है, उनके लिए पुरानी यादों से मुक्त रहना ही अच्छा है। हमें अपनी सन्तानों के लिए तिब्बत की आज़ादी हासिल करनी है और उन्हीं को, अगर वे चाहें, तो यह लड़ाई लड़नी है।

अप्रैल 1982 के आरम्भ में, तिब्बत के भविष्य की चर्चा करने के लिए तीन सदस्यों का एक दल धर्मशाला से बीजिंग पहुँचा। काशाग के वरिष्ठ सदस्य जूचेन थूबतेन नामग्याल उसका नेतृत्व कर रहे थे। उनके साथ मेरे पूर्व कुसुन देपोन, जो सन् 1951 में न्गाबो न्गावांग जिग्मे के एक अनुवादक थे, और तिब्बत की जनसभा चेतुइ ल्हेनखांग के अध्यक्ष लोदी ग्याल सेन ग्यारी भी थे। यहाँ वे चीनी सरकार के वरिष्ठ सदस्यों से मिले जिससे एक-दूसरे की स्थितियों को समझ सकें।

तिब्बतियों ने विचार के लिए जो विषय प्रस्तुत किए, उनमें पहला था हमारे देश का इतिहास। उन्होंने चीनियों को बताया कि ऐतिहासिक दृष्टि से तिब्बत हमेशा चीन से अलग रहा है, और अपने सत्रहसूत्री 'अनुबन्ध' में चीन ने इसे स्वीकार किया है। जो दूसरी बात चीनियों के सामने रखी गई, वह यह थी कि तिब्बत में हुई जिस 'प्रगति' का वे ढोल पीट-पीटकर दुनिया को बता रहे हैं, उस सबके बावजूद सच्चाई यह है कि तिब्बत के लोग बिलकुल सन्तुष्ट नहीं हैं। इन तथ्यों के आधार पर अब चीन को विचार कर एक नया मार्ग अपनाना चाहिए।

एक वार्ताकार ने यह भी प्रश्न किया कि भिन्न प्रजाति के होने के कारण तिब्बतियों को ज़्यादा नहीं तो कम-से-कम क्या वे अधिकार नहीं मिलने चाहिए जो चीनियों ने ताइवान के अपने ही लोगों को देने की तैयारी प्रदर्शित की है। इसके उत्तर में उससे कहा गया कि ताइवान को ये अधिकार इसलिए दिए जा रहे हैं क्योंकि अभी उसे 'मुक्त' नहीं किया गया है। इसके विपरीत 'तिब्बत, ने तो समाजवाद के महान मार्ग पर कदम बढ़ाना शुरू कर दिया है।'

अन्त में परिणाम यही निकला की चीनियों की ओर से कोई काम की बात नहीं कही गई। उन्होंने प्रतिनिधियों को भाषण दिए और आरोप लगाया कि जाँचकर्ता मिशन से प्राप्त तथ्यों का वे दुरुपयोग कर रहे हैं। वे सिर्फ यही बात करना चाहते थे कि दलाई लामा कब वापस लौटेंगे। इस दृष्टि से, मेरी भावी स्थिति के सम्बन्ध में उन्होंने ये पाँच बातें कहीं :

1. दलाई लामा को विश्वस्त होना चाहिए कि चीन अपनी दीर्घकालीन राजनीतिक स्थिरता की दिशा में एक नए मुकाम तक पहुँच गया है, उसकी आर्थिक स्थिति मज़बूत है और सभी राष्ट्रीयताओं का पारस्परिक सहयोग आगे बढ़ रहा है।

2. दलाई लामा और उनके प्रतिनिधियों को केन्द्रीय शासन के प्रति स्पष्ट और निष्ठावान होना चाहिए और दुलमुल व्यवहार समाप्त कर देना चाहिए। अब सन् 1959 की घटनाओं पर विवाद नहीं होना चाहिए।
3. केन्द्रीय अधिकारी दलाई लामा और उनके अनुयायियों का ईमानदारी से स्वागत करेंगे। यह इस आशा पर निर्भर होगा कि वे चीन की एकता को पुष्ट करेंगे, हान तथा तिब्बती तथा अन्य राष्ट्रीयताओं के साथ एकजुटता प्रदर्शित करेंगे तथा आधुनिकीकरण के कार्यक्रम को आगे बढ़ाएँगे।
4. दलाई लामा को वही राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त होगा जो उन्हें 1959 से पहले प्राप्त था। सुझाव यह है कि वे तिब्बत में जाकर रहने तथा वहाँ कोई पद प्राप्त करने के लिए बाध्य नहीं होंगे। हाँ, वे जब चाहें वहाँ आ-जा सकते हैं। उनके अनुयायियों को अपने पदों तथा रोज़ी-रोटी की चिन्ता नहीं करनी होगी। ये सब उन्हें पहले से अच्छी ही उपलब्ध होगी।
5. दलाई लामा जब वापस लौटना चाहें, प्रेस को संक्षिप्त वक्तव्य दे सकते हैं। इस वक्तव्य में वे जो चाहें, कहने को स्वतन्त्र होंगे।

फिर जब प्रतिनिधिमंडल धर्मशाला वापस लौटकर आया, चीनी सरकार ने वार्ता का बिल्कुल विरोधी विवरण प्रकाशित किया जिसमें हमारे दृष्टि-कोण को 'विभाजनकारी', 'प्रतिक्रियावादी' तथा ऐसा बताया गया जिसका 'चीनी जनता तो विरोध करती ही है, तिब्बती उससे भी ज़्यादा विरोधी समझते हैं।' इससे यह स्पष्ट हो गया कि तिब्बत के सम्बन्ध में चीन की 'नयी' नीति 1970 के दशक के अन्त में हुई प्रगतियों की तुलना में कहीं ज़्यादा कमज़ोर है। एक तिब्बती कहावत है कि 'आपको वे दिखाते तो गुड़ हैं लेकिन मुँह में गोंद भर देते हैं।'

जहाँ तक मुझसे सम्बन्धित पाँच बातों का सवाल है, मैं समझ नहीं पाया कि चीनी मुझे अपने पद को ज़्यादा महत्त्व देने वाला क्यों समझते हैं। अपने समूचे संघर्ष में मैंने अपनी कभी भी चिन्ता नहीं की है बल्कि अपने साठ लाख स्त्री-पुरुषों के अधिकारों, सुख और आज़ादी की ही चिन्ता की है। इसका कारण केवल यह नहीं है कि मुझे देश की सीमा और अधिकार इत्यादि की ही रक्षा करनी है। इसका मुख्य कारण मेरा यह विश्वास है कि मनुष्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण उसकी रचनात्मकता को बनाए रखना है। मेरा यह भी विश्वास है कि रचनात्मक होने के लिए मनुष्य का स्वाधीन होना आवश्यक है। मैं निर्वासन में स्वतन्त्रता महसूस करता हूँ। 31 वर्ष के शरणार्थी जीवन में मुझे उसके महत्त्व का ज्ञान हो गया है। इसलिए जब तक मेरे देशवासी सारे तिब्बती वहाँ वापस नहीं पहुँच जाते, तब तक मेरे अकेले वापस लौटने का कोई महत्त्व नहीं है।

फिर भी चीनी अधिकारियों के साथ इस असफल वार्ता के बाद भी मैंने सोचा कि बीजिंग को यह स्वीकार हो, तो मैं तिब्बत की एक संक्षिप्त यात्रा कर आऊँगा।

मैं अपने लोगों से बात करना चाहता था और जानना चाहता था कि वास्तव में स्थिति क्या है। उनको यह स्वीकार हुआ और इसकी तैयारी के लिए एक आरम्भिक दल का 1984 में वहाँ जाना निश्चित हुआ, जिसके बाद दूसरे वर्ष मैं वहाँ जाता।

इस बीच, यात्रा सम्बन्धी रोक हटा ली जाने के कारण तिब्बत से भारत आने वालों की संख्या में वृद्धि होने लगी। पहले एकदम ज़्यादा लोग आए, फिर वे कम होते गए। यह लिखने के समय तक लगभग दस हज़ार लोग यहाँ आ चुके हैं, और यहाँ प्राप्त शिक्षा की सुविधा तथा मठों में रहकर धर्म ज्ञान की सुविधा का लाभ उठाने के लिए आधे से अधिक लोग यहीं रह गए हैं। जो लोग वापस गए, वे भी अनिवार्य कारणों से ही लौटने को बाध्य हुए।

मैं कोशिश करता हूँ कि आने वाले सब तिब्बतियों से व्यक्तिगत रूप से मिलूँ और उनका स्वागत करूँ। ये सब भेंटे बड़ी द्रावक होती हैं; सब भोले, उदास लोग, ग़रीब और चिथड़ों में लिपटे। मैं उनसे उनके स्वजन और परिवार की बातें करता हूँ। सब आँखों में आँसू भरकर अपनी कहानियाँ सुनाते हैं, और बहुत से फूट-फूटकर रोने भी लगते हैं।

इन दिनों मैंने उन लोगों से मिलना भी शुरू कर दिया था जो तिब्बत की यात्रा करके लौटते थे। इतिहास में पहली बार विदेशियों को, ज़्यादातर पश्चिमी देशों के लोगों को, बर्फ के इस देश का, भ्रमण करने की सीमित सुविधाएँ प्राप्त हो रही थीं। दुर्भाग्य से, चीनी अधिकारी शुरू से ही उन पर कठोर पाबन्दियाँ लगा देते थे। मुक्त-द्वार नीति के आरम्भिक दिनों के बाद तिब्बत में प्रवेश लगभग पूरी तरह बंद कर दिया गया था, केवल उन्हीं लोगों को अनुमति मिलती थी जो दल बनाकर पूरी योजना के तहत यात्रा करने आते थे। और प्रवेश कर लेने के बाद भी उन्हें कुछ निश्चित स्थानों को ही देखने दिया जाता था। इसके अलावा, उन्हें तिब्बतियों से बहुत कम मिलने दिया जाता था क्योंकि उनके ठहरने इत्यादि के सब स्थान चीनियों के ही नियन्त्रण में होते थे। इनमें जो थोड़े-बहुत तिब्बती काम करते होते थे, वे सब नौकर-चाकर ही होते थे।

ये सब स्थितियाँ यात्रियों के लिए बाधाएँ ही होती थीं, और आज भी हैं। इससे भी बुरी बात यह है कि चीनी गाइड उन्हें वे ही मठ और धर्मस्थल दिखाते थे, जिनका पुनर्निर्माण हो चुका होता था अथवा किया जा रहा होता था। उन्हें वे हज़ारों मठ नहीं दिखाए जाते थे जो तोड़ दिए गए हैं। लेकिन यह सच है कि ल्हासा के भीतर और बाहर पिछले दस साल से ध्वस्त स्थलों के नवनिर्माण का कार्य जारी है। लेकिन यह सब टूरिस्टों को दिखाने के उद्देश्य से ही किया जा रहा है। इन मठों में जो भिक्षु रखे जाते हैं, उनका अच्छी तरह पहले चुनाव किया जाता है, और उन्हें अध्ययन-मनन करने के स्थान पर इनके निर्माण कार्यों में ही लगाया जाता है, जिसमें लगने वाला धन तिब्बतियों से ही प्राप्त किया जाता है—इसके अतिरिक्त स्थिति का और कोई निर्णय सम्भव नहीं है।

गाइडों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है कि टूरिस्ट असलियत समझ न सकें। यदि कोई टूरिस्ट उनसे प्रश्न करता है कि इतना पुनर्निर्माण क्यों किया जा रहा है, तो बेशर्मी से उत्तर यह दिया जाता है कि सांस्कृतिक क्रान्ति में इन्हें भी नष्ट कर दिया गया था, और अब उन पुरानी गलतियों को सही करने के लिए सरकार इन्हें फिर से बनवा रही है। उन्हें यह बिलकुल नहीं बताया जाता कि यह सब विनाश सांस्कृतिक क्रान्ति से बहुत पहले कर दिया गया था।

खेद की बात यह है कि ज़्यादातर टूरिस्ट तिब्बत को एक दर्शनीय स्थान ही समझते हैं; उनके पासपोर्ट पर यह एक मुहर भर है। वे अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए कुछ मठ देख लेते हैं और रंग-बिरंगे कपड़े पहने कुछ तीर्थ यात्री देख लेते हैं और मान लेते हैं कि तिब्बत में सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा है। लेकिन कुछ टूरिस्ट इससे सन्तुष्ट नहीं भी होते। और हमारी दृष्टि से यही अच्छी बात भी है। इसका अर्थशास्त्र अथवा आँकड़ों से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका उन गिने-चुने लोगों से सम्बन्ध है जो सच्ची जिज्ञासा और कल्पना लेकर तिब्बत का भ्रमण करते हैं। ये लोग बड़ी कुशलता से अपने गाइडों की नज़र बचाकर इधर-उधर निकल जाते हैं और वे स्थान देख लेते हैं जो उन्हें नहीं देखने चाहिए, और उन लोगों से बातचीत कर लेते हैं जिनसे मिलना उनके लिए वर्जित है।

सन् 1981 से 1987 के दौरान तिब्बती टूरिस्टों की संख्या प्रतिवर्ष 1500 से बढ़कर 43,000 तक पहुँच गई। इनमें से जिन कुछ व्यक्तियों ने हमसे सम्पर्क किया उनसे हमें ज्ञात हुआ कि चीनियों द्वारा प्रचारित 'उदारता' में कोई सच्चाई नहीं है। तिब्बतियों को अभी भी बात करने की आज़ादी नहीं है। यद्यपि लोग व्यक्तिगत रूप से यही कहते हैं कि चीन ने हमें अपना गुलाम बना लिया है, लेकिन सार्वजनिक रूप से यह कहने को तैयार नहीं होते। इसके अलावा, उन्हें समाचार भी बहुत कम दिए जाते हैं, और धर्म पर भी अनेक प्रतिबन्ध हैं। यह समझने के लिए किसी विशेष योग्यता की ज़रूरत नहीं है, कि तिब्बत में सेना और सिपाहियों का शासन है और जनता को बलपूर्वक दबा दिया गया है। और माओ की मृत्यु के बाद किए गए वादों के बाद भी वे आतंक की स्थिति में ही जी रहे हैं। और अब देश में चीनियों को बड़ी संख्या में भेजकर बसाया जा रहा है जिससे उनका वर्चस्व कायम हो सके।

कुछ यात्रियों ने मुझे यह भी बताया कि यात्रा करने से पहले वे चीन के समर्थक थे, लेकिन वहाँ की स्थिति देखने के बाद उनका मत बदल गया है। इसी तरह कई लोगों ने यह भी कहा कि आरम्भ में वे यहाँ की राजनीति से विरक्त थे लेकिन यात्रा के बाद वे इसमें रुचि लेने लगे हैं। नोर्वे के एक निवासी ने मुझसे यह भी कहा कि पहले वह चीनियों का इसलिए प्रशंसक था कि उन्होंने धर्म को समाप्त कर दिया है, लेकिन दो बार ल्हासा की यात्रा कर लेने के बाद उसका मत बिलकुल बदल गया है। वह मुझसे पूछने लगा कि मैं आपके देश के लिए क्या कर सकता हूँ। इसके उत्तर में मैंने उससे यही कहा, जो मैं यह प्रश्न करने वाले अन्य विदेशियों से भी

कहता हूँ, कि जितने ज़्यादा लोगों को वह यह सच्चाई बता सकता है, बताए, जिससे तिब्बत की वर्तमान स्थिति के बारे में लोगों की जानकारी बढ़े।

इन दोनों, नवागन्तुक तिब्बतियों तथा टूरिस्टों, से प्राप्त जानकारी के बाद सितम्बर 1983 में जब मैंने सुना कि स्वयं चीन तथा तिब्बत में दमन का नया दौर आरम्भ हो गया है, तो मुझे विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। ल्हासा, शिगात्से तथा ग्यान्त्से से मृत्युदंड तथा चामदो और कारज़े से बन्दी बनाने के समाचार प्राप्त होने लगे। ऊपर से तो यह कहा गया कि चीन के लिए भी कि 'अपराधी तथा समाज विरोधी' तत्वों के विरुद्ध ये कार्यवाहियाँ की जा रही हैं, लेकिन वास्तव में ये राजनीतिक विरोधियों के लिए थीं। फिर भी, यद्यपि इनसे चीनियों की बढ़ती कठोरता ही व्यक्त होती थी, इससे एक लाभ भी हुआ, वह यह कि दुनिया के समाचार पत्रों ने—जिनके प्रतिनिधियों की तिब्बत यात्रा पर लगा प्रतिबन्ध अब खोल दिया गया था—चीनियों के तिब्बत पर अत्याचार के समाचार पहली बार अब प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया था।

इन घटनाओं की प्रतिक्रिया यह हुई कि शरणार्थियों को लगा कि माओ युग के अत्याचार का युग फिर आरम्भ हो गया है, इसलिए उन्होंने न केवल दिल्ली में बल्कि अन्यत्र भी इनके विरुद्ध प्रदर्शन करना शुरू कर दिया। देश भर में जहाँ भी उनकी बस्तियाँ थी, जमकर प्रदर्शन किए गए। जहाँ तक मेरा अपना सवाल है, मेरा विचार यह बना कि अभी यह निर्णय करना कठिन होगा कि देंग ज़ियाओ पिंग के शासन के आलोचकों को दबाने के लिए यह किया जा रहा है या तिब्बत पुनः अंधकार युग में वापस लौट रहा है। लेकिन इससे यह स्पष्ट हो गया कि मेरी तिब्बत यात्रा की तैयारी के लिए निश्चित दल अब वहाँ नहीं जा सकेगा। इसलिए मेरी अपनी यात्रा भी नहीं हो सकी।

मई 1984 तक यह बिलकुल साफ़ हो गया था कि तिब्बत सम्बन्धी चीनी नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया है। हू याओ बेंग के वादे के बिलकुल विरुद्ध—कि तिब्बत में चीनी अधिकारियों की संख्या में 85 प्रतिशत की कमी कर दी जाएगी—अब बहुत बड़े पैमाने पर चीनियों को वहाँ भेजा जाने लगा। 'विकास' के नाम पर साठ हज़ार कुशल तथा अकुशल, दोनों प्रकार के मज़दूरों की भर्ती आरम्भ हो गई, जिन्हें आर्थिक सुरक्षा, मकान तथा घर आने की छुट्टी इत्यादि सभी सुविधाएँ प्रदान की जाने लगीं। इसी के साथ स्वयं चीन में यात्रा पर प्रतिबन्ध हटा लिया जाने के कारण बहुत से चीनी तिब्बत में काम पाने की तलाश में अपनी इच्छा से वहाँ पहुँचने लगे। इस प्रकार, तिब्बत की इस कहावत के अनुसार—कि जहाँ एक चीनी है, वहाँ दस और पहुँच जाएँगे—तिब्बत में उनकी संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी।

उसी वर्ष शरद ऋतु के अन्त में श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या कर दी गई, और तिब्बतियों का एक सच्चा मित्र उनसे छिन गया। लन्दन से दिल्ली लौटते हुए हवाई

जहाज़ में मैंने यह समाचार सुना तो मुझे ज़बरदस्त धक्का लगा—इसी दिन मुझे तथा जे. कृष्णमूर्ति को उनके साथ लंच करना था। उनके बाद उनके बेटे राजीव प्रधानमंत्री बने, जो एकदम युवा थे, लेकिन जिनमें न केवल अपने देश के लिए बल्कि निर्वासित तिब्बतियों के लिए भी बहुत कुछ करने का जज़्बा था।

राजीव गाँधी का स्वभाव मैत्रीपूर्ण, व्यवहार मधुर और हृदय शुद्ध है। मुझे उनसे पहली दफा मिलने की अच्छी याद है। सन् 1956 में जब मैं पहली दफ़ा भारत आया, उनके नाना पंडित नेहरू ने मुझे भोजन के लिए आमन्त्रित किया। जब प्रधानमंत्री मुझे बगीचे में घुमाने ले गए, मैंने एक तम्बू के पास दो छोटे बच्चों को खेलते देखा—ये एक बड़ी आतिशबाज़ी को आसमान में भेजने का प्रयत्न कर रहे थे। ये राजीव और उनके छोटे भाई संजय थे। पिछले दिनों उन्होंने मुझे याद दिलाया कि उस दिन मैंने उन्हें तम्बू के भीतर बंद कर दिया था, जिससे उन्हें बड़ा मज़ा आया था।

एक साल बाद तिब्बत के एक बहुत बड़े समर्थक, लोबसांग सामतेन का देहान्त हो गया। वे केवल 54 वर्ष के थे। मैं कहूँ कि बहुत दुखी होने के बावजूद इस घटना से मुझे ज़्यादा आश्चर्य नहीं हुआ। पहले जाँच-दल के सदस्य के रूप में उन्होंने जो कुछ देखा था, उसका उनपर गहरा प्रभाव पड़ा था। वे समझ नहीं पा रहे थे कि इतना ज़्यादा कष्ट और दुख देने के बाद भी चीनी इतने निर्लज्ज क्यों हैं। पहले उनका स्वभाव बहुत हँसमुख और मज़ाकिया किस्म का था—उनके मज़ाक भी बहुत अश्लील क़िस्म के होते थे—अब उन पर उदासी के लम्बे दौरे पड़ने लगे थे। यह कहना मेरे लिए अतिशयोक्ति नहीं होगी, कि उनकी मृत्यु उनका दिल टूट जाने से हुई थी।

लोबसांग सामतेन के देहान्त से मैं बहुत दुखी हुआ, इसलिए कि हम दोनों बहुत घनिष्ठ थे, और इसलिए भी कि उनके अन्तिम दिनों में मैं उनके समीप नहीं था। उनसे अन्तिम बार मेरी भेंट दिल्ली में हुई थी, जब वे तिब्बती मेडिकल इंस्टीट्यूट के निदेशक की हैसियत से इसका कुछ काम करने आए थे। अपनी पत्नी को लेकर बस से धर्मशाला आने के स्थान पर वे अपने काम से ही वहाँ एक दिन और रुके रहे। इसके बाद उन्हें मेरे साथ वापस लौटना था। लेकिन स्टेशन पहुँचकर उन्होंने विचार बदल दिया। उनका काम अभी पूरा नहीं हुआ था, इसलिए उन्होंने रुक जाने का निश्चय किया। यह उनकी एक तरह से आदत ही थी। वे कभी अपने को महत्त्व नहीं देते थे। एक दिन बाद उन्हें फ्लू हो गया जिसका कोई कारण नहीं था। इसका निमोनिया हो गया, जो पीलिया में बदल गया, और तीन सप्ताह के भीतर वे चल बसे।

आज जब मैं लोबसांग सामतेन की याद करता हूँ, उनकी विनम्रता मुझे उनका मुख्य गुण लगती है। वे सामान्य तिब्बती की तरह मेरे साथ व्यवहार करते थे, और मुझे अपना भाई भी नहीं मानते थे। उदाहरण के लिए, जब कभी मैं घर वापस लौटता या किसी यात्रा पर निकलता, तब वे भी दूसरे तिब्बतियों की तरह लाइन में लगकर

फाटक पर मेरा इन्तज़ार करते और उन्हीं की तरह मेरा स्वागत करते अथवा शुभ यात्रा के लिए कामना करते। नम्र तो वे थे ही, करुणा भी उनमें भरपूर थी। एक दफ़ा मैंने उनसे उड़ीसा में स्थित एक कोढ़ियों की कॉलोनी का ज़िक्र किया। मेरी ही तरह वे भी दुखी प्राणियों की सेवा करने के लिए हरदम तैयार रहते थे। इसलिए जब मैंने इन कोढ़ियों की दुर्दशा का वर्णन किया और कहा कि क्या हम तिब्बती उनके लिए कुछ कर सकते हैं, तो वे एकदम रो पड़े और कहने लगे कि मैं स्वयं जो भी आवश्यक हो, करने को तैयार हूँ।

सन् 1979, 1981 और 1984 में अमेरिका की यात्राएँ करने के बाद उस देश के अनेक व्यक्तियों ने तिब्बत के लिए कुछ करने की इच्छा व्यक्त की थी। इसके सीधे परिणामस्वरूप जुलाई 1985 में अमेरिकी कांग्रेस के 91 सदस्यों ने अपने हस्ताक्षरों से पीपुल्स असेम्बली के अध्यक्ष ली ज़ियानियन को एक पत्र भेजा जिसमें कहा गया कि चीनी सरकार मेरे प्रतिनिधियों से सीधे वार्तालाप करें। पत्र में चीनियों से आग्रह किया गया कि 'वह' हिज़ होलीनेस दलाई लामा तथा उनके लोगों की अत्यन्त संगत तथा न्यायपूर्ण अपेक्षाओं पर गम्भीरता से विचार करें।

यह पहली दफ़ा तिब्बत को औपचारिक रूप से राजनीतिक समर्थन प्राप्त हुआ था—इससे मुझे उत्साह प्राप्त हुआ और मुझे लगा कि विश्व समाज अब हमारी माँगों को न्यायसंगत स्वीकार करने लगा है। इसके बाद अन्य देशों की जनता में भी हमारे प्रति रुचि उत्पन्न हुई और उनके द्वारा भी इसी प्रकार के कदम उठाए जाने लगे।

इसके बाद 1987 के आरम्भ में मुझे अमेरिकी कांग्रेस के वाशिंगटन-स्थित ह्यूमन राइट्स वॉच द्वारा भाषण देने का निमन्त्रण प्राप्त हुआ। इसे मैंने प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। शरद ऋतु में कार्यक्रम की तिथि निश्चित की गई। इस बीच मेरे कुछ पुराने मित्रों ने सुझाव दिया कि इस अवसर का उपयोग करने के लिए मैं कुछ ऐसे निश्चित उद्देश्य लोगों के सामने प्रस्तुत करूँ, जिनसे दुनिया का न्याय प्रिय समाज अपना लगाव महसूस कर सके। यह सुझाव मुझे अच्छा लगा और मैंने पिछले कुछ वर्षों से मन में चल रहे अपने विचारों को आकार देना आरम्भ किया।

जब मैं अमेरिका जाने के लिए बिल्कुल तैयार था, कांग्रेस ने तिब्बत में मानवाधिकारों के हनन के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इसमें यह भी कहा गया कि 1985 में राष्ट्रपति ली ज़ियानियन को लिखे उसके पत्र की उपेक्षा की गई है : 'इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि हिज़ होलीनेस दलाई लामा तथा उनके लोगों की अत्यन्त संगत तथा न्यायपूर्ण अपेक्षाओं के सम्बन्ध में कुछ किया गया है।

अमेरिका पहुँचकर 21 सितम्बर 1987 के दिन मैंने कैपिटल हिल पर भाषण दिया। उसमें मैंने जिस प्रस्ताव की रूपरेखा प्रस्तुत की, उसे पंचसूत्री शान्ति योजना के नाम से जाना गया। ये सूत्र इस प्रकार हैं :

1. तिब्बत का सम्पूर्ण प्रदेश शान्ति-क्षेत्र घोषित किया जाए।
2. चीनी जनता को तिब्बत में बसाने की नीति का परित्याग किया जाए, जिसके कारण तिब्बती जनता के अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता है।
3. तिब्बती जनता के मौलिक अधिकारों तथा लोकतन्त्री स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाए।
4. तिब्बत में प्राकृतिक वातावरण तथा सम्पदा की सुरक्षा की जाए, जो नष्ट किया गया है उसे पुनः स्थापित किया जाए, और आणविक हथियार बनाने तथा उसका कचरा डालने के लिए तिब्बत के इस्तेमाल को समाप्त किया जाए।
5. तिब्बत के भविष्य सम्बन्धी पारस्परिक वार्ता गम्भीरता से आरम्भ की जाए और तिब्बत तथा चीनी जनता के सम्बन्धों में बढ़ाया जाए।

मैंने संक्षेप में अपने सुझाव प्रस्तुत किए और श्रोताओं से प्रश्न पूछने के लिए कहा, मुझे लगा कि इनमें से कुछ लोग मुझे चीनी लग रहे हैं। मैंने उनसे पूछ लिया कि क्या वे चीनी हैं। पहले तो वे हिचके, लेकिन बोले, हाँ, वे चीनी समाचार एजेंसी ज़िन्हुआ के संवाददाता हैं। इस घटना के बाद मैंने हमेशा देखा है कि विदेशों में होने वाले मेरे सब कार्यक्रमों में बीजिंग अपने लोग भेजता है। ये लोग ज़्यादातर मेरे प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार ही करते हैं, हालाँकि कभी-कभी ये नकारात्मक तथा द्वेषपूर्ण भी हो जाते हैं और तब उनके चेहरे दोष की भावना से विकृत हो जाते हैं।

मैं अपनी पंचसूत्री योजना की कुछ व्याख्या करना चाहूँगा। इसका पहला सूत्र यानी खाम तथा आमदो सहित पूरा तिब्बत प्रदेश अहिंसा क्षेत्र में परिवर्तित कर दिया जाए—यह तिब्बत के बौद्ध राष्ट्र होने की शान्ति परम्परा के अनुरूप है। यह पड़ोसी देश नेपाल द्वारा की गई ऐसी ही घोषणा के अनुरूप है, कि वह शान्ति क्षेत्र है, और चीन ने उसका समर्थन भी किया है। यदि इस पर आचरण किया जाए तो एशिया के दो महान राष्ट्रों के बीच तिब्बत बफ़र राज्य के रूप में कार्य करेगा।

प्रस्तावित अहिंसा क्षेत्र के प्रमुख तत्त्व ये होंगे :

- तिब्बत के समूचे पठार का असैनिकीकरण कर दिया जाएगा।
- सभी प्रकार के न्यूक्लियर तथा अन्य सैनिक हथियारों का यहाँ न तो निर्माण और न भंडारण किया जाएगा।
- तिब्बती पठार का पूरा प्रदेश दुनिया के सबसे बड़े प्राकृतिक पार्क में परिवर्तित कर दिया जाएगा। पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों की रक्षा के लिए सख्त कानून बनाए जाएँगे; प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को नियन्त्रित किया जाएगा जिससे निश्चित पर्यावरण व्यवस्था को हानि न पहुँचे; और जनता की बस्तियों के लिए स्थायी विकास की नीतियाँ निर्धारित की जाएँगी।

- न्यूक्लियर ऊर्जा तथा अन्य ऐसी तकनीकी विधियों का प्रचलन, जिनसे हानिकर मलबे का निर्माण होता है, निषिद्ध होगा।
- राष्ट्रीय संसाधन तथा नीतियों को शान्ति-विस्तार तथा पर्यावरण-सुरक्षा की दृष्टि से संचालित किया जाएगा। जो संस्थाएँ शान्ति के प्रसार तथा जीवन के सब रूपों की रक्षा के लिए कार्य करती हैं, उनका तिब्बत में स्वागत किया जाएगा।
- मानव अधिकार की रक्षा के लिए कार्य करने वाली अन्तरराष्ट्रीय तथा प्रादेशिक संस्थाओं को तिब्बत में पूरा प्रश्रय दिया जाएगा।

इस प्रकार तिब्बत के अहिंसा क्षेत्र बन जाने के बाद भारत के लिए सभी सीमा क्षेत्रों से अपनी सेनाएँ हटा लेना आसान हो जाएगा। यह एक ऐसे अन्तरराष्ट्रीय अनुबन्ध के तहत किया जा सकेगा जिसमें तिब्बत, चीन, भारत तथा अन्य सीमावर्ती देश अपने-अपने देशों की सुरक्षा के प्रति आश्वस्त होकर परस्पर विश्वास की भावना से जीवन व्यतीत करेंगे। इससे प्रत्येक देश, विशेषकर चीन तथा भारत का हित साधन ही होगा, क्योंकि इससे न केवल उन्हें सुरक्षा प्राप्त होगी बल्कि सीमा प्रदेशों में रखी जाने वाली सेनाओं के समाप्त हो जाने से उन्हें पर्याप्त आर्थिक लाभ भी होगा। इतिहास पर नज़र डालें तो चीन और भारत के सम्बन्ध कभी तनावपूर्ण नहीं रहे हैं। इनका आरम्भ तभी हुआ जब चीन ने तिब्बत पर कब्ज़ा करके भारत के साथ अपनी सीमा सटा दी और 1962 का युद्ध हुआ। इसके बाद तो खतरनाक घटनाओं की परम्परा ही शुरू हो गई है।

दुनिया के दो सबसे आबादी वाले देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकते हैं—जो समूचे इतिहास में मैत्रीपूर्ण ही रहे हैं—जब उनके बीच के क्षेत्र का राष्ट्र दोनों का मित्र हो।

तिब्बत तथा चीन की जनता के बीच सम्बन्ध सुधारने का पहला कदम यह है कि दोनों के बीच विश्वास स्थापित किया जाए। पिछले तीन दशकों के आतंक तथा मारक समय में भूख, दंड, मृत्युदंड तथा आत्महत्याओं के कारण 12-13 लाख तिब्बतियों के प्राण गए हैं। लाखों लोग जेलों में पड़े सड़ रहे हैं। यह तभी सम्भव है जब चीनी सेना वापस चली जाए और सद्भाव का ईमानदारी से आचरण किया जाए। आज सारे तिब्बत में सेना बड़ी संख्या में तैनात है जिसे देखकर वहाँ के लोग अपने दमन की आशंकाओं से हमेशा भयभीत रहते हैं। सेना की वापसी ही वह पहला कदम हो सकता है जिससे तिब्बत के लोग चीनियों के प्रति भय छोड़कर अपने सामान्य जीवन के प्रति आश्वस्त हो सकें और चीनियों के साथ भविष्य में मैत्री तथा विश्वास का निर्माण करने के लिए तैयार हों।

दुर्भाग्य से, चीन ने प्रस्ताव के इस भाग को दोनों देशों के एक-दूसरे से अलग होने के रूप में लिया, जो मेरा मन्तव्य नहीं है। मेरा मन्तव्य इसके तार्किक परिणाम के रूप में यही है कि हमारे दो देशों के बीच यदि वास्तविक सौमनस्य स्थापित होना

है तो एक पक्ष को दूसरे के लिए कुछ करना आवश्यक होगा, भले ही यह कार्य प्रतीकात्मक ही क्यों न हो। अब चूँकि हानि तिब्बत की ही हुई है, हमारा सब कुछ नष्ट हो गया है, चीनियों को देने के लिए हमारे पास बचा ही कुछ नहीं है। इसलिए तर्कसंगत यही है कि, पारस्परिक विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य से, जो लोग रायफ़लें लेकर चलते हैं—भले ही वे छिपाकर रखी जाती हों—उन्हें देश से हटा लिया जाए। शान्ति क्षेत्र की स्थापना का मेरा अर्थ यही है : ऐसा प्रदेश जिसमें किसी के पास हथियार न हों। इससे दोनों पक्षों में परस्पर विश्वास ही उत्पन्न नहीं होगा, चीन को जबरदस्त आर्थिक लाभ भी होगा। तिब्बत में स्थायी रूप से सेनाएँ रखने पर होने वाला उनका व्यय बहुत ज़्यादा है, जो किसी भी विकसित हो रहे देश के लिए सही नहीं है।

मेरी पंचसूत्री शान्ति योजना का दूसरा भाग, तिब्बत के दुनिया में स्वतन्त्र प्रजाति के रूप में जीवन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि चीनियों को बड़ी संख्या में वहाँ बसने के लिए भेजकर उनकी संख्या को कम किया जा रहा है। 1980 के दशक के मध्य तक यह स्पष्ट हो गया था कि बीजिंग की सरकार तिब्बत के चीनीकरण की नीति योजनापूर्वक अपना रही है—जिसे कुछ लोग चोरी से 'अन्तिम हल' निकालना कहते हैं। अपने ही मातृभूमि में तिब्बतियों की जनसंख्या को धीरे-धीरे कम करके और उनका मताधिकार छीन कर उन्होंने यह कार्य करना आरम्भ कर दिया है। इसे रोकना आवश्यक है। इस प्रकार बहुत बड़ी संख्या में चीनी नागरिकों को तिब्बत भेजकर बसाना चौथे जेनेवा कन्वेंशन के भी विरुद्ध है। इसका परिणाम यह हुआ है कि तिब्बत के पूर्वी भागों में तिब्बतियों से चीनियों की संख्या बहुत बढ़ गई है। उदाहरण के लिए, किंघाई राज्य में जो आमदो का अंग है और जहाँ मेरा जन्म हुआ था, चीनी आँकड़ों के अनुसार, चीनियों की संख्या पच्चीस लाख तथा तिब्बतियों की केवल साढ़े सात लाख है। और, हमारी जानकारी के अनुसार स्वशासित तिब्बत प्रदेश-अर्थात् केन्द्रीय तथा पश्चिमी तिब्बत में भी तिब्बतियों की तुलना में चीनियों की संख्या अधिक हो गई है।

चीन की यह आबादी बढ़ाने की नीति नई नहीं है। उसने अन्य क्षेत्रों में भी इसका सुनियोजित ढंग से उपयोग किया है। कुछ ही समय पूर्व मंचू एक बिल्कुल अलग प्रजाति थी जिसकी संस्कृति तथा परम्परा उनकी अपनी थी। अब मंचूरिया में केवल 20 या 30 लाख ही मंचूरियाई रह गए हैं, जबकि चीनियों की संख्या साढ़े सात करोड़ हो गई है। पूर्वी तुर्किस्तान में, जिसे चीनी अब ज़िनजंग कहते हैं, सन् 1949 में 2 लाख चीनी थे, जो अब बढ़कर सत्तर लाख हो गए हैं, जो वहाँ की कुल जनसंख्या की आधी से अधिक है। इसी तरह इनर मंगोलिया का चीनी उपनिवेशीकरण हो जाने के बाद वहाँ चीनियों की संख्या 85 लाख तक जा पहुँची है, जबकि मंगोलियाई सिर्फ 25 लाख हैं। हमारा अनुमान है कि इस समय पूरे तिब्बत में 75 लाख चीनी हैं, जबकि तिब्बतियों की संख्या 60 लाख है।

स्वतन्त्र जन के रूप में तिब्बतियों के जीवित रहने के लिए यह आवश्यक है कि चीनियों को वहाँ बसने के लिए भेजना रोक दिया जाए, और जो चीनी वहाँ जाकर रहने लगे हैं, उन्हें चीन वापस भेज दिया जाए। नहीं तो बहुत जल्द तिब्बती टूरिस्टों के देखने की वस्तु और गौरवमय इतिहास के खंडहर बनकर रह जाएँगे। इस समय स्थिति यह है कि चीनी केवल आर्थिक कारणों से वहाँ रह रहे हैं, वहाँ का जीवन उनके लिए कठिन है, और पहाड़ी ऊँचाइयों पर रहने से होने वाली बीमारी से वे परेशान हैं।

मेरे प्रस्ताव का तीसरा भाग तिब्बती लोगों के मानवाधिकारों को लेकर है। इनका आदर किया जाना चाहिए। उन्हें फिर से सांस्कृतिक, बौद्धिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक रूप से अपना विकास करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए और लोकतन्त्र की सभी मौलिक सुविधाएँ उनके लिए उपलब्ध होनी चाहिए। दुनिया भर में मानवीय अधिकारों का सबसे अधिक उल्लंघन तिब्बत में ही हुआ है। एमनेस्टी इन्टरनेशनल तथा अन्य विश्व संस्थाओं ने इसकी पुष्टि की है। चीन सरकार की एक विशिष्ट नीति के तहत, जिसे वे 'पृथक्कीकरण तथा सम्मिलित' का नाम देते हैं, इस भेदभाव तथा समग्र अलगाव का व्यवहार किया जाता है। सच्चाई यह है कि अपने ही देश में तिब्बतियों को दूसरे दर्जे के नागरिक का स्थान दिया जाता है। ये लोकतन्त्र के मौलिक अधिकारों तथा सुविधाओं से तो वंचित हैं ही, इन पर औपनिवेशिक ढंग से शासन किया जाता है जो कम्युनिस्ट पार्टी तथा पीपुल्स लिबरेशन आर्मी के चीनी अधिकारियों द्वारा चलाया जाता है। यद्यपि चीनी सरकार ने कुछ मठों के पुनर्निर्माण तथा वहाँ पूजा इत्यादि करने की आज्ञा दे दी है, लेकिन धर्म के गम्भीर अध्ययन तथा आचरण को उसने वर्जित कर दिया है। इस प्रकार निर्वासन में रह रहे तिब्बतियों को जहाँ सन् 1963 में मेरे द्वारा प्रचलित संविधान के अन्तर्गत उन्हें सब प्रकार की लोकतन्त्री सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वहाँ मेरे हज़ारों-हज़ार देशवासी इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए तिब्बत की जेलों तथा श्रम-शिविरों में यातनाएँ सहने के लिए विवश हैं। तिब्बत में स्थिति यह है जो तिब्बती चीनियों के प्रति निष्ठा व्यक्त करता है, उसे 'प्रगतिशील' कहा जाता है, लेकिन जो व्यक्ति अपने देश के प्रति निष्ठा प्रदर्शित करता है उसे 'अपराधी' करार देकर दंडित किया जाता है।

मेरा चौथा प्रस्ताव यह है कि तिब्बत का प्राकृतिक पर्यावरण बनाए रखने के लिए गम्भीर प्रयत्न किए जाने चाहिए। न्यूक्लियर शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने के लिए इसका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए और न यहाँ न्यूक्लियर कचरा फेंका जाना चाहिए। तिब्बत के लोग जीवन के सब रूपों का सम्मान करते हैं। उनकी इस मौलिक भावना को बौद्धधर्म से भी बल प्राप्त होता है जो, मनुष्य तथा पशु, सब प्रकार के प्राणियों को मारने का निषेध करता है। चीनी आक्रमण के पहले तिब्बत प्रकृति का एक स्वस्थ, ताज़ा, तथा सुन्दर विस्तृत प्रदेश था।

खेद की बात यह है कि पिछले कुछ दशकों में तिब्बत का जंगली जीवन प्रायः पूरी तरह नष्ट हो गया है, और अनेक क्षेत्रों में तो जंगलों को अपार हानि पहुँची है। कुल मिलाकर, तिब्बत के कोमल पर्यावरण को एकदम नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है—और प्रदेश की ऊँचाई तथा खुश्की के कारण यहाँ प्रकृति के पुनर्जीवित होने में बहुत समय लग जाता है, जो निचले तथा नमी वाले प्रदेशों में नहीं होता। इस कारण आवश्यक यह है कि चीनी विनाश से जो भी कुछ बच रहा है, उसकी सुरक्षा की जाय और उसे पुनः स्वस्थ बनाने के प्रयत्न किए जाएँ।

इसके लिए पहला काम यह करना होगा कि यहाँ न्यूक्लियर हथियार बनाने का काम बंद किया जाए, और इससे भी ज़्यादा आवश्यक यह है कि न्यूक्लियर कचरा यहाँ जमा करना खत्म किया जाए। लगता यह है कि चीन यहाँ न केवल अपना कचरा फेंकना चाहता है, बल्कि दूसरे देशों का न्यूक्लियर कचरा भी यहाँ फेंकने की सुविधा देकर पैसा कमाना चाहता है। इससे न सिर्फ वर्तमान बल्कि भविष्य की पीढ़ियों के लिए भी खतरा उत्पन्न हो गया है। इसके अलावा, इससे स्थानीय दृष्टि से भी समस्याएँ पैदा हो जाएँगी जिनसे व्यापक विनाश हो सकता है। चीन को अपना कचरा भेजकर, जिसे हल्की आबादी के क्षेत्रों में दफनाया जा सके, लेकिन जिसकी तकनीकी साधारण किस्म की हो, समस्या का दूरगामी हल नहीं है।

तिब्बत की भावी स्थिति पर विचार-विमर्श के आवाहन द्वारा मैंने स्पष्टता और सुलह-सफाई की अपनी भावना को ही व्यक्त किया, जिससे न केवल तिब्बत और चीन की समस्या का दीर्घकालीन हल निकाला जा सके, बल्कि सारी दुनिया को जिससे लाभ प्राप्त हो—इस प्रकार कि प्रादेशिक शान्ति के द्वारा विश्व शान्ति की सम्भावना उत्पन्न हो। मैंने केवल चीनियों की आलोचना करने के लिए कुछ नहीं कहा। इसके विपरीत, मैं चीनियों की हर तरह से सहायता करने के लिए तैयार हूँ। मुझे आशा थी कि मेरे सुझाव उन्हें उपयोगी प्रतीत होंगे। लेकिन दुर्भाग्य से, उन्हें इसमें अलगाव की माँग ही प्रतीत हुई—मैंने इसमें 'प्रभुसत्ता' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया—और बीजिंग ने तुरन्त कठोर शब्दों में इसका विरोध आरम्भ कर दिया।

इससे मुझे ज़्यादा आश्चर्य नहीं हुआ। और तिब्बत के लोगों की प्रतिक्रिया पर भी मुझे आश्चर्य नहीं हुआ—यद्यपि मैंने इसकी अपेक्षा नहीं की थी। वाशिंगटन में मेरे भाषण के कुछ ही दिन बाद समाचार आने लगे कि ल्हासा में चीन के विरुद्ध ज़बरदस्त प्रदर्शन शुरू हो गए हैं।

15

वैश्विक दायित्व और तिब्बत

बाद में मुझे पता चला कि सितम्बर-अक्टूबर 1987 में हुए प्रदर्शन बीजिंग द्वारा मेरी पंचसूत्री शान्ति योजना का विरोध किए जाने के तुरन्त बाद आयोजित किए गए। ल्हासा के निवासी हज़ारों की संख्या में बाहर निकल आए और तिब्बत की स्वतन्त्रता बहाल की जाने की माँग करने लगे। आशा के अनुरूप, चीनी अधिकारियों ने हिंसा तथा क्रूरता से इसका दमन किया। हथियारबंद सैनिक प्रदर्शन रोकने के लिए उनपर चढ़ दौड़े और गोलियाँ बरसाकर उन्नीस लोगों को मार दिया तथा बहुतों को घायल कर दिया।

पहले तो चीनियों ने इस बात से इन्कार किया कि उन्होंने गोलीबारी की है। छह महीने बाद उन्होंने स्वीकार किया कि सुरक्षा दल के कुछ सदस्यों ने चेतावनी देने के उद्देश्य से लोगों के सिरों के ऊपर से कुछ गोलियाँ ज़रूर चलाई थीं। हो सकता है, इनमें से कुछ दूर जाकर गिरने के स्थान पर कुछ लोगों को लग गई हों। (जब मैंने यह सुना, तब मुझे आश्चर्य हुआ कि कहीं वे किसी नए गुप्त हथियार की चर्चा तो नहीं कर रहे हैं; तिब्बतियों का खून निकालने वाली विशेष गोली)।

इन प्रदर्शनों तथा उनके निर्दयी तथा खूनी दमन के समाचार सारी दुनिया में फैल गए और सन् 1959 के बाद पहली दफ़ा तिब्बत की स्थिति सुर्खियों में प्रकाशित की गई। लेकिन कुछ समय बाद ही मुझे इस घटना की विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई। इसके लिए मैं उन कुछ पश्चिमी पर्यटकों का कृतज्ञ हुआ जो उसी समय राजधानी में मौजूद थे।

इनमें से चालीस व्यक्तियों ने एक दल बनाया और जो कुछ उन्होंने देखा था, उसकी एक रिपोर्ट तैयार की। इससे मुझे ज्ञात हुआ कि दोनों प्रदर्शनों का स्वरूप एक ही था। आरम्भ में थोड़े-से भिक्षु जोखांग के सामने एकत्र हुए और नारा लगाने लगे : 'बो रांगज़ेन'—यानी 'तिब्बत को आज़ादी दो।' इनके साथ पहले सैकड़ों, फिर हज़ारों, तिब्बती बाहर निकल आए और वे आज़ादी की माँग करने लगे। इसके बाद तुरन्त सुरक्षा सैनिकों का एक दल वहाँ प्रकट हो गया। बिना चेतावनी दिए लगभग साठ भिक्षु तथा सामान्यजन गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें पुलिस स्टेशन में ठूँस

दिया गया। यह जोखांग के ठीक सामने है। भीतर ले जाने से पहले ही उन्हें बेदर्दी से पीटना शुरू कर दिया गया। इसी के साथ दर्शकों ने अधिकारियों से इन्हें छोड़ दिए जाने की माँग की। लेकिन दर्जनों सैनिक वीडियो कैमरे लेकर यहाँ आ गए और फोटो खींचने लगे। बाद में पहचान लिए जाने के डर से कुछ लोगों ने पुलिस पर पत्थर फेंकने शुरू कर दिए। कुछ तिब्बतियों ने पुलिस की गाड़ियों में आग लगाना और उन्हें तोड़ना शुरू कर दिया। इस पर सशस्त्र सैनिकों ने गोलियाँ बरसानी शुरू कर दीं। अधिकांश लोगों ने संयम भी दिखाया, और जब पुलिस अपने हथियार छोड़कर भागने लगी, तो उन्होंने बन्दूकें इकट्ठा करके उन्हें तोड़ना शुरू कर दिया।

1 अक्टूबर 1987 को हुए दंगे में, खेद की बात है, कि प्रदर्शनकारियों ने पुलिस स्टेशन में आग लगा दी, अपने साथियों को छुड़ाने के लिए दरवाज़ा तोड़ने के प्रयत्न में उन्होंने उसे जला दिया। इससे पहले सिपाही इमारत से बार-बार बाहर निकलते और कुछ लोगों को घसीटकर भीतर ले जाते और वहाँ उनकी पिटाई करने लगते थे।

अन्त में, जब भीड़ तितर-बितर हुई, लगभग एक दर्जन तिब्बती मारे जा चुके थे—इनमें कई बच्चे भी थे। उस रात, और उसके बाद की अनेक रातों में भी सैंकड़ों तिब्बतियों को उनके घरों से खींच-खींच कर निकाला जाता रहा। लगभग दो हज़ार व्यक्ति जेल में डाले गए। इनमें से ज़्यादातर को मारा-पीटा गया और दूसरे अत्याचार किए गए, और एक रिपोर्ट के अनुसार चालीस लोगों को फाँसी पर भी चढ़ाया गया।

आगे बढ़ने से पहले मैं अपने विदेशी मित्रों को धन्यवाद दूँ जिन्होंने, उनका यह काम न होने पर भी, अपने पीड़ित बन्धुओं की हर प्रकार से सहायता की। इस प्रकार के स्वप्रेरित कार्य ही मनुष्य के भविष्य के लिए आशा जगाते हैं। इनमें से कई स्त्री-पुरुषों ने तो बार-बार घायल तिब्बतियों की रक्षा और देखभाल के लिए अपने को दाँव पर लगाया। इन्होंने न केवल चीनियों की बर्बरता को अपनी आँखों से देखा, बल्कि उनके अनेक फोटो भी खींचे।

यद्यपि चीनियों ने तुरन्त तिब्बत में उपस्थित पत्रकारों तथा विदेशियों को देश से बाहर निकाल दिया, लेकिन उनके अत्याचारों के समाचार दुनिया भर में प्रकाशित हो गए। इसके परिणामस्वरूप कई पाश्चात्य देशों ने चीनियों को मानवाधिकारों का सम्मान करने की और सब राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर देने को कहा। बीजिंग सरकार ने इनके उत्तर में यह कहा कि यह उनका आन्तरिक मामला है और इसकी आलोचना करने का किसी को अधिकार नहीं है।

अब चूँकि तिब्बत बाहरी दुनिया के लिए बंद था, इसलिए कई महीने तक मुझे कोई समाचार नहीं मिला। लेकिन अब मुझे यह ज्ञात हो गया है, कि प्रदर्शनों की त्वरित प्रतिक्रिया के रूप में चीनियों ने राजनीतिक 'पुनर्शिक्षण' का एक व्यापक कार्यक्रम आरम्भ कर दिया। अक्टूबर के अन्त में उन्होंने एक प्रतिक्रियात्मक-प्रदर्शन का भी आयोजन करने का प्रयत्न किया, जिसमें भाग लेने वालों को एक सप्ताह

काम करने के बराबर का पैसा देने का लालच दिया गया। लेकिन उन्हें इस आयोजन को रद्द करना पड़ा, क्योंकि इसमें शामिल होने कोई नहीं आया। पीपुल्स लिबरेशन आर्मी ने कोई भी समाचार बाहर जाने से रोकने के लिए तिब्बत की सीमाओं को सील करने का हर सम्भव प्रयत्न किया। बीजिंग में स्थित सरकार पड़ोसी सम्प्रभु राष्ट्र नेपाल को प्रभावित करने में सफल हो गई। और उन्होंने उन 26 तिब्बतियों को जो किसी तरह चीनी जाल से बच निकले थे पकड़कर चीन के हवाले कर दिया। और इसी अवधि के दौरान चीनियों के ही एक स्रोत के द्वारा मुझे बताया गया—कि प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने का आदेश निश्चित रूप से दिया गया था।

सन् 1988 के आरम्भ में ल्हासा-स्थित चीनी अधिकारियों ने भिक्षु समुदाय को आदेश दिया कि हमेशा की तरह मोनलाम उत्सव तथा प्रार्थना कार्यक्रम आयोजित करें। (सन् 1986 में बीस वर्ष बाद पुनः आरम्भ किया गया था।) लेकिन भिक्षुओं ने इसे मनाना उचित नहीं समझा क्योंकि सैकड़ों व्यक्ति जेलों में बंद थे, इसलिए उन्होंने इसका प्रतिकार किया। इस पर बीजिंग—स्थित केन्द्रीय सरकार ने आदेश दिया कि योजना के अनुसार पर्व अवश्य मनाया जाए—उन्हें शायद यह आशा थी कि इससे दुनिया समझेगी कि तिब्बत में सब ठीक-ठाक चल रहा है। इसलिए भिक्षुओं पर दबाव डाला गया। लेकिन चीनी यह भी सोच रहे थे कि इससे दंगे भी भड़क सकते हैं। 28 फरवरी को बी.बी.सी ने समाचार दिया :

'ल्हासा क्षेत्र में हज़ारों चीनी सुरक्षा सैनिक तैनात किए गए हैं—सारे शहर में सभी सड़कों की नाकाबन्दी कर दी गई है। रात को हथियारबन्द सैनिकों की पंक्तियाँ सड़कों की पहरेदारी करती हैं, और लाउडस्पीकरों द्वारा जनता को सूचना दी जाती है कि घरों से बाहर न निकलें। एक सन्देश में तो यह कहा गया, ''आप लोग दुर्व्यवहार करेंगे, तो हम आपको मार डालेंगे।''

इसके बाद, मोनलाम से एक सप्ताह पहले, बीजिंग से अन्तरराष्ट्रीय समाचार एजेंसी रॉयटर द्वारा प्रसारित एक समाचार में कहा गया कि पचास मिलिट्री की गाड़ियाँ और हज़ार से ज़्यादा चीनी सैनिक, दंगों का सामना करने की तैयारी में, जोखांग के सामने अभ्यास कर रहे हैं।

ज़बरदस्त तनाव के वातावरण में उत्सव का आरम्भ हुआ। आरम्भिक समारोहों में बड़ी संख्या में सैनिक तैनात थे और प्रत्येक भाग ले रहे भिक्षु के साथ कम-से-कम दस सुरक्षा सैनिक चल रहे थे। इनके अलावा सादा कपड़ों में बहुत-से सिपाही आम जनता में घुले-मिले घूम रहे थे, और कई फोटो भी खींच रहे थे। लगता है कि कई सुरक्षा सैनिकों ने भी वेश बदल लिए थे, कुछ ने अपने सिर घुटा लिए थे और कुछ विग पहने थे, जिससे लोगों को लगे कि वे भिक्षु हैं अथवा ल्हासा से बाहर से आए हैं।

पहले तो शान्ति रही, लेकिन 5 मार्च को कुछ भिक्षुओं ने युल् दावा सेरिंग नामक तुल्कू को जिसके पिछले अक्टूबर में प्रदर्शन में भाग लेने के कारण, बिना

आरोप लगाए, गिरफ्तार कर लिया था, रिहा करने के लिए नारे लगाने शुरू किए। इसके बाद, प्रार्थना के अन्तिम चरण में सम्मिलित होने के लिए, जिसमें मैत्रेय बुद्ध की प्रतिमा बारखोर की परिक्रमा करती है, जो लोग इकट्ठे हुए थे, उन्होंने तिब्बत में चीनियों की उपस्थिति के विरुद्ध नारे लगाना और पुलिस पर पत्थर फेंकना आरम्भ कर दिया। इस पर सुरक्षा सैनिकों ने पहले डंडों से, फिर पशु हाँकने वाली बिजली की चाबुकों से उन्हें तितर-बितर करना शुरू किया। इसके बाद अंधाधुंध नहीं, बल्कि ताक-ताक कर लोगों का निशाना बनाकर उन्हें मारना शुरू किया। अब तिब्बती दलों और सैनिकों में जमकर लड़ाइयाँ शुरू हुईं और सैकड़ों तिब्बती हताहत हुए। दोपहर के समय पुलिस ने जोखांग पर आक्रमण किया और कम-से-कम एक दर्जन भिक्षुओं की हत्या कर दी। एक को उन्होंने पहले तो खूब मारा, फिर उसकी दोनों आँखें निकाल लीं और अन्त में छत से नीचे फेंक दिया। इस प्रकार तिब्बत का सबसे पवित्र मठ कसाई की दुकान बन गया।

ल्हासा का पूरा तिब्बती हिस्सा क्रोध से जल उठा और रात के समय करीब बीस चीनियों की दुकानें, जो हमेशा तिब्बतियों के प्रति घृणा उगलते थे, आग के हवाले कर दी गईं। इसी के साथ सुरक्षा सैनिक भी आक्रमण पर आक्रमण करते रहे और सैकड़ों स्त्री, पुरुष तथा बच्चों को खींच-खींचकर मारते-पीटते रहे।

इस समय चूँकि शहर में विदेशी बहुत कम थे, और उनमें पत्रकार एक भी नहीं था, मीडिया पर एकदम प्रतिबंध लगा दिया गया था, इसलिए इन घटनाओं के समाचार मुझे कई हफ़्तों के बाद ही प्राप्त हुए। लेकिन इसके साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि व्यापकता तथा कठोरता में पिछले शरद में हुए उपद्रवों की तुलना में ये कहीं अधिक भयंकर थे। नतीजा यह हुआ कि दो हफ्ते का कर्फ़्यू लगा दिया गया और कम-से-कम ढाई हज़ार लोगों को बन्दी बनाकर जेलों में डाला गया, तथा ल्हासा की समूची तिब्बती जनता को ज़बरदस्त आतंक का शिकार बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी गई।

एक बार फिर तिब्बतियों की इस निराशा से मुझे विशेष आश्चर्य नहीं हुआ, लेकिन इसके प्रति चीनियों की दुर्दान्त प्रतिक्रिया ने मुझे बहुत दुख पहुँचाया। विश्व समुदाय ने भी इस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की, और छह महीने में दूसरी बार, बहुत कम समाचार बाहर आने पर भी, दुनिया भर के प्रेस में इन घटनाओं को प्रमुखता से छापा गया। लेकिन, सदा की भाँति चीन ने इस बार भी इन घटनाओं को देश का आन्तरिक विषय बताकर किनारा कर लिया और प्रदर्शनों को कुछ 'प्रतिक्रियावादी और विभाजनकारी' तत्वों का कार्य बताया तथा मुझे स्वयं खतरनाक अपराधी घोषित कर दिया। उन्होंने कहा कि दलाई लामा ने जानबूझकर तिब्बत में ये उपद्रव कराए हैं और इसके लिए उसने अपने एजेंटों को यहाँ भेजा है। उनसे इसी की अपेक्षा

थी, यद्यपि मुझे यह सोचकर परेशानी हुई कि चीनियों ने अब खुले आम विदेशी पर्यटकों को इन दोनों घटनाओं के लिए ज़िम्मेदार ठहराया है।

मोनलाम प्रदर्शन की पहली पूरी रिपोर्ट मुझे ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, लार्ड एनल्स से प्राप्त हुई जो करीब एक महीने बाद ल्हासा से आए। बीजिंग सरकार ने एक स्वतन्त्र प्रतिनिधिमंडल के नेता के रूप में इन्हें स्वीकृति दी थी, जो तिब्बत में मानवाधिकारों की स्थिति का अध्ययन करने वहाँ गया था। उन्हें तथा उनके दल के सदस्यों को यह देखकर बहुत धक्का पहुँचा था कि तिब्बत में उनपर कैसे-कैसे अत्याचार किए जाते हैं। प्रदर्शनों के पश्चात् बन्दियों के उत्पीड़न के अनेक प्रमाण उन्हें प्राप्त हुए, और अनेक व्यक्तियों ने स्वयं अपनी आँखों से इन्हें देखकर उनके समक्ष प्रस्तुत किया था। यह रिपोर्ट 'इन्टरनेशनल एलर्ट' में प्रकाशित हुई जिसमें कहा गया कि 'इस संकट का तुरन्त तथा ठोस उपाय किया जाना आवश्यक है।'

जिस समय यह जाँच मिशन तिब्बत में था, मैं स्वयं ब्रिटेन में था, जहाँ मैं तिब्बती बौद्ध धर्म के रुचि रखने वाले कई लोगों के निमन्त्रण पर गया हुआ था। यहाँ के मीडिया की तिब्बत की स्थिति में वास्तविक रुचि देखकर मैं प्रभावित हुआ था। सन् 1988 में इस विषय में रुचि लेने वाले राजनीतिज्ञों ने यूरोप की पार्लियामेंट में भाषण देने के लिए मुझे आमन्त्रित किया जो मुझे अच्छा लगा। इसी समय पश्चिम के अनेक नेताओं ने चीन से माँग की कि वह तिब्बत के भविष्य के विषय में मुझसे बात करें।

यह सोचकर कि इस भाषण में मुझे अपनी पंचसूत्री शान्ति योजना, विशेष रूप से उसके पाँचवें भाग पर, फिर से कुछ कहने का अवसर मिलेगा, मैंने इसे स्वीकार कर लिया। जून 1988 में स्ट्रासबर्ग में मैंने यह भाषण दिया। इसमें मैंने कहा कि कुछ विशेष परिस्थितियों में यह सम्भव हो सकता है कि समूचा तिब्बत पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना के साथ रहे, जिसमें उस समय तक विदेशी मामले तथा सीमित सुरक्षा चीन के हाथ में रहें, जब तक शान्ति सम्मेलन सम्पन्न न हो जाए, उसके साथ बाद समूचे तिब्बत को शान्ति क्षेत्र घोषित कर दिया जाए। मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि निर्वासन में कार्यरत तिब्बत सरकार इस विषय पर जब भी वे चाहें, चीनी सरकार से बात करने को तैयार है। लेकिन मैंने यह भी कहा कि यह मेरा एक प्रस्ताव मात्र है और इस पर निर्णय लेने का अधिकार मुझे नहीं, तिब्बत की जनता को प्राप्त है।

इस बार भी बीजिंग का रुख नकारात्मक ही रहा। मेरे भाषण की भर्त्सना की गई और यूरोपियन पार्लियामेंट की, मुझे भाषण देने का अवसर प्रदान करने के लिए, तीखी आलोचना की गई। लेकिन इस वर्ष की शरद ऋतु में एक अच्छी बात यह हुई कि चीनियों ने इशारा दिया कि वे तिब्बत के भविष्य में विषय में दलाई लामा से बात करने को तैयार हैं। पहली बार उन्होंने स्वयं यह कहा कि वे न केवल दलाई लामा के स्थान बल्कि तिब्बत के बारे में भी बात करना चाहेंगे। यह उन्होंने

मेरे ऊपर छोड़ दिया कि यह चर्चा कहाँ की जाएगी। मैंने तुरन्त वार्ताकारों का एक दल घोषित कर दिया और प्रस्ताव किया कि जनवरी 1989 में जेनेवा में दोनों पक्ष इसके लिए एकत्र हों। इस स्थान का प्रस्ताव करने का मेरा एक कारण यह था कि यदि बातचीत में किसी स्तर पर मेरी आवश्यकता महसूस की जाए, तो मैं भी उसमें सम्मिलित हो सकूँ।

लेकिन दुर्भाग्य से, जैसे ही चीनी बातचीत के लिए तैयार हुए, उसके तुरन्त बाद उन्होंने इसके लिए शर्तें लगानी शुरू कर दीं। पहली बात तो उन्होंने यही कही कि बातचीत का स्थल बीजिंग होना चाहिए, फिर यह कहा कि विदेशी वार्ताकारों को शामिल न किया जाए, इसके बाद उन्होंने कहा कि निर्वासन में कार्यरत तिब्बत सरकार का कोई सदस्य भी उन्हें स्वीकार नहीं होगा, क्योंकि इस सरकार को उन्होंने स्वीकृति नहीं प्रदान की है। फिर उन्होंने कहा कि वे ऐसे किसी व्यक्ति से बात करने को तैयार नहीं हैं जिसने कभी भी तिब्बत की आज़ादी की बात कही है। अन्त में उन्होंने घोषणा की कि वे केवल मेरे ही साथ बात कर सकते हैं। यह सब बहुत निराशाजनक था। पहले तो उन्होंने बातचीत करने की स्पष्ट इच्छा व्यक्त की, लेकिन फिर उन्हीं ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि बातचीत सम्भव ही नहीं रही। और, यद्यपि मैं व्यक्तिगत रूप से चीनियों से बातचीत करने के लिए हमेशा तैयार हूँ, लेकिन इसकी तैयारी के लिए मेरे प्रतिनिधियों के साथ आरम्भिक चर्चा भी स्वाभाविक है। इसलिए अन्त में यद्यपि जेनेवा में ही बातचीत करना तय हो गया, लेकिन जनवरी 1989 आया और चला भी गया, परन्तु कार्यक्रम कुछ भी नहीं हुआ।

28 जनवरी 1989 को समाचार आया कि बीजिंग से, जहाँ वह रहते थे, तिब्बत की यात्रा करते समय पैंचेन लामा का देहान्त हो गया। उनकी आयु केवल 53 वर्ष की थी और इस समाचार से मुझे बहुत सदमा पहुँचा। मुझे लगा कि तिब्बत ने एक बड़ा स्वतन्त्रता-सैनिक खो दिया है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अनेक तिब्बती उन्हें विवादास्पद व्यक्ति मानते हैं। यह सच है कि 1950 के दशक के आरम्भ में, जब वे बहुत अल्पायु थे, उन्होंने चीनियों की बातें अपने लाभ के लिए, स्वीकार कर लीं लेकिन उनकी देशभक्ति में कोई कमी नहीं थी, इसका मुझे विश्वास है। और यद्यपि सन् 1978 में उन्हें जेल से छोड़ने के बाद चीनियों ने कठपुतली के रूप में उनका लाभ उठाया, वे अन्त तक उनका विरोध करते रहे। देहान्त से कुछ दिन पहले उन्होंने जो भाषण दिया, जिसकी रिपोर्ट 'ज़िन्हुआ' में प्रकाशित हुई, उसमें उन्होंने तिब्बत में चीनियों द्वारा की गई 'अनेक भूलों' की तीखी आलोचना की थी। यह उनके साहस का अन्तिम उदाहरण था।

दो दिन बाद अपने ताशिलहुनपो मठ में वे आखिरी बार प्रकट हुए, जहाँ अपने पूर्वज लामाओं की समाधियों की अर्चना करने के बाद हृदयगति रुक जाने से उनका

देहान्त हो गया। लोगों को लगा कि अपने ही मठ में उनकी मृत्यु सांकेतिक थी, यह सच्चे आध्यात्मिक गुरु की विशेष अभिव्यक्ति थी।

यद्यपि उनके देहान्त से पहले मैं उनसे नहीं मिल सका, लेकिन तीन दफ़ा फोन पर उनसे बात की थी। दो दफ़ा तो मैंने उनसे बीजिंग-स्थित उनके कार्यालय में उनसे बात की, जहाँ वे नेशनल असेम्बली के सदस्य थे; और एक दफ़ा तब जब वे विदेश गए थे। स्वभावतः, बीजिंग में उनसे हुई बातचीत नियन्त्रित थी, जो मुझे इसलिए पता है क्योंकि हमारी दूसरी बात के बाद चीनी समाचार पत्रों में उसका जो विवरण छपा, उसमें बहुत काट-छाँट की गई थी। लेकिन जब वे ऑस्ट्रेलिया में थे, तब वे अपने रक्षकों को एक निश्चित समय पर चकमा देकर बाहर आने में सफल हुए और फोन से मुझसे बात की—तब मैं पश्चिम जर्मनी में था। यह बातचीत ज़्यादा देर तक तो नहीं हो सकी, लेकिन जो भी हुई उससे मुझे सन्तोष हुआ कि वे अपने धर्म, देश तथा जनता के प्रति निष्ठावान हैं। इसलिए जब ल्हासा से मुझे उनके विरुद्ध समाचार प्राप्त हुए, कि वहाँ वह बड़े पैमाने पर व्यापार कर रहे हैं, और उन्होंने एक पत्नी भी रख ली है, तो मुझे ज़्यादा परेशानी नहीं हुई।

उनके देहान्त के बाद मुझे बुद्धिस्ट सोसायटी ऑफ चाइना से निमन्त्रण प्राप्त हुआ कि मैं बीजिंग में होने वाले उनके क्रियाकर्म में भाग लूँ। यह एक तरह से चीन की यात्रा करने का मेरे लिए सरकारी निमन्त्रण था। मैं जाना भी चाहता था लेकिन संकोच यह था कि यदि मैं जाऊँगा तो तिब्बत के सम्बन्ध में अवश्य बात होगी। यदि जेनेवा का सम्मेलन हो चुका होता तो इस यात्रा का कोई अर्थ भी होता। इसलिए स्थिति को देखते हुए मैंने नम्रतापूर्वक इनकार कर दिया।

इस बीच चीन के सख्त रवैये के दुखद परिणाम सामने आये। 5 मार्च 1989 को ल्हासा में तीन दिन बराबर प्रदर्शन होते रहे। मार्च 1959 के बाद तिब्बतियों के ये सबसे भयंकर प्रदर्शन थे, जिनमें हज़ारों-हज़ार लोग सड़कों पर उतर आए। इस बार चीनियों ने अपनी नीति कुछ बदली, और पहले दिन सुरक्षा सैनिक किनारे पर खड़े होकर प्रदर्शन होते देखते रहे, साथ ही कैमरों से फोटो भी खींचते रहे, जो उन्होंने रात को टेलीविज़न पर भी दिखाए। इसके बाद उन्होंने हर रोज़ बार-बार डंडे बरसाये और गोलियों की बौछार करते रहे। दर्शकों ने बताया कि उन्होंने तिब्बती घरों में ऑटोमेटिक बन्दूकें लगाकर पूरे-पूरे परिवारों को खत्म कर दिया।

दुर्भाग्य से तिब्बतियों ने इसकी प्रतिक्रिया में न केवल चीनी पुलिस तथा सैनिकों पर ही हमले किए, बल्कि निर्दोष चीनी नागरिकों पर भी आक्रमण किए। यह सुनकर मैं बहुत दुखी हुआ। तिब्बतियों के लिए हिंसा पर उतर आना कभी सफल नहीं हो सकता। यदि चीनी चाहें तो चीन के सौ करोड़ लोग हमारे साठ लाख लोगों को दुनिया से नेस्तनाबूद कर सकते हैं। इससे अच्छा यह है कि हमारे लोग कथित शत्रुओं को समझने का प्रयत्न करें। क्रोध आने की स्थिति में, और बेहद क्रोध की स्थिति

में तो विशेष रूप से, दूसरे पर पत्थर फेंकने की अपेक्षा उसे क्षमा कर देना ज़्यादा सही है। वास्तविकता यह है कि अधिक कठिनाइयों की स्थिति में ही, स्वयं अपना तथा दूसरे का भी, भला करने की सम्भावना सबसे अधिक होती है।

लेकिन सच्चाई यह है कि ज़्यादा लोगों के लिए इस प्रकार के शब्द यथार्थवादी नहीं होते। उनसे इसकी अपेक्षा करना ज़्यादती है। मेरे लिए तिब्बतियों से यह अपेक्षा करना, जो भयंकर कठिनाइयों में अपना एक-एक दिन बिता रहे हैं, कि वे चीनियों को प्यार करें, सही नहीं होगा। इसलिए मैं भले ही उसका समर्थन करूँ, कुछ हिंसा इन स्थितियों में स्वाभाविक है।

सच्चाई यह भी है कि मैं अपने देशवासियों के साहस का प्रशंसक हूँ और उनका आदर करता हूँ। इन प्रदर्शनों में शामिल होने वाले लोगों में अनेक स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े थे। पहली शाम सैकड़ों व्यक्ति गिरफ्तार किए गए, इसलिए दूसरे और तीसरे दिन प्रदर्शन करने वालों में ज़्यादातर उनके परिवार के लोग ही रहे होंगे। इनमें से अनेक अब तक जीवित भी नहीं होंगे। इनसे भी ज़्यादा जेलों में बंद हैं जिन्हें नियमित रूप से प्रतिदिन मारा-पीटा जाता है तथा यातनाएँ दी जाती हैं।

कुछ बहादुर विदेशियों के साहस के कारण, जिनमें से कई को स्वयं भी परेशानियाँ सहनी पड़ी होगी, इस दमन के समाचार बहुत जल्द बाहर आकर प्रकाशित किए जा सके। लेकिन पहले की ही तरह इस बार भी तिब्बतियों को विदेशों से अपार समर्थन प्राप्त हुआ : अमेरिका, फ्रांस तथा यूरोपियन पार्लियामेंट ने चीनी दमन की निंदा की—इसमें ढाई सौ के लगभग निहत्थे तिब्बती मारे गए थे, और बहुत बड़ी संख्या में लोग घायल हुए थे। अनेक सरकारों ने इस स्थिति पर 'गम्भीर चिन्ता' जताई, और इसके बाद 8 मार्च को लागू किए गए मार्शल लॉ की भी व्यापक आलोचना हुई।

ल्हासा में चीन द्वारा मार्शल लॉ लगाए जाने की घटना निश्चित रूप से भयंकर थी, क्योंकि 16 अक्टूबर 1951 को चीनी सेना ने जब पहली बार यहाँ प्रवेश किया था, उस समय से नगर निरन्तर सैनिक शासन के अन्तर्गत था। अब इसका अर्थ यह हुआ कि इसके बाद चीनी सरकार इसे पूरी तरह कत्लगाह बना देगी। दो दिन बाद, तिब्बती जनता के विद्रोह की तीसवीं वर्ष जयन्ती पर, इसलिए, मैंने देंग ज़ियाओ पिंग को एक अपील भेजी कि वे व्यक्तिगत रूप से दखल देकर मार्शल लॉ समाप्त करवाएँ तथा निर्दोष तिब्बतियों के दमन का अन्त करें। उनका कोई उत्तर नहीं आया। ल्हासा में विरोध प्रदर्शन के कुछ ही सप्ताह बाद चीन में आन्तरिक विद्रोह की खबरें आने लगीं। इन्हें अविश्वास तथा आतंक के मिले-जुले भाव से मैंने देखा, और जब कुछ प्रदर्शनकारियों ने भूख-हड़ताल की घोषणा की, तब मैं बहुत चिन्तित हो उठा। ये छात्र वास्तव में बड़े तेजस्वी, बड़े ईमानदार और एकदम निर्दोष थे, और इनके सामने अपना सारा जीवन जीने को पड़ा था। इनकी विरोधी उनकी अपनी ही सरकार

थी, जो बहुत कठोर और क्रूर थी। साथ ही, मैं चीनी नेतृत्व को कुछ प्रशंसा की दृष्टि से देखने को भी बाध्य हुआ, दुर्बल, बूढ़े मूर्ख लोग, जो इस भयंकर स्थिति में भी अपने विचारों को इतना कसकर पकड़े हुए थे। उनके सामने इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण थे कि उनकी व्यवस्था अब टूट रही है, सारी दुनिया में साम्यवाद असफल हो रहा है, और उनके अपने ही द्वार के बाहर लाखों लोग प्रदर्शन कर रहे हैं, लेकिन वे अपने विश्वासों को छोड़ने को तैयार नहीं हैं।

फिर जब स्थिति से निपटने के लिए सेना बुलाई गई, तब मैं आतंकित हो उठा। लेकिन राजनीतिक दृष्टि से देखा जाए तो इसे मैं लोकतन्त्री आन्दोलन के लिए एक मामूली ठोकर ही मानता हूँ। हिंसा का सहारा लेकर चीनी अधिकारियों ने इन छात्रों के प्रति आम चीनी जनता के मन में सहानुभूति ही उत्पन्न की होगी। ऐसा करके उन्होंने चीन में कम्युनिज़्म की उम्र आधे से दो-तिहाई तक कम कर दी। साथ ही, उन्होंने दुनिया को यह भी दिखा दिया कि दमन के लिए वे क्या-क्या कर सकते हैं : इसके बाद विश्व समाज को यह अवश्य विश्वास हो गया होगा कि तिब्बती अपने ऊपर किए गए जिन जघन्य अत्याचारों की चर्चा करते हैं, वे झूठ नहीं हो सकते।

व्यक्तिगत रूप से मुझे देंग ज़ियाओ-पिंग के लिए अफसोस ही होता है। अब उनके नाम में स्थायी रूप से कलंक लग गया है; जबकि यदि सन् 1989 का यह नरसंहार न होता तो अपने देश के महान नेताओं में उनकी गणना की जाती। उनके साथी नेताओं के लिए भी मुझे अफसोस होता है, क्योंकि पिछले दशक में वे अपने देश की छवि उज्ज्वल करने का जो प्रयत्न कर रहे थे, वह इस घटना के कारण धुलकर खत्म हो गई। मुझे लगता है कि जहाँ वे मेरे देशवासियों को प्रचार से प्रभावित करने में सफल नहीं हुए, अपने ही देश में उन्हें सफलता बहुत जल्द प्राप्त हो गई।

इस समय दुनिया के अन्य देशों में जो अच्छी घटनाएँ घटित हो रही हैं, उनके बिल्कुल विपरीत ल्हासा में 1989 के पूरे वर्ष मार्शल लॉ लगा रहा। इस दुखद स्थिति का सबसे ज़्यादा अहसास मुझे उसी शरद में अमेरिका की यात्रा के समय हुआ जब मुझे ज्ञात हुआ कि मुझे शान्ति के नोबेल पुरस्कार के लिए नामित किया गया है। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से यह समाचार मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था, मैंने महसूस किया कि तिब्बत की जनता के लिए यह बहुत उत्साहवर्धक होगा, क्योंकि वास्तव में इस पुरस्कार के विजेता वे ही थे। मेरे सन्तोष का कारण यह था कि करुणा, क्षमा तथा प्रेम के मूल्यों को इससे अन्तरराष्ट्रीय समर्थन प्राप्त हुआ है। इसके अलावा, मुझे यह भी प्रसन्नता थी कि इसी समय अनेक देशों के लोग यह अनुभव कर रहे थे कि शान्ति द्वारा परिवर्तन असम्भव नहीं है। पूर्वकाल में अहिंसक क्रान्ति के विचार को शायद एकदम आदर्शवादी माना जाता रहा होगा, लेकिन अब इसके विपरीत, अनेक घटनाएँ घटित होने से मुझे बहुत सन्तोष का अनुभव हुआ।

चेयरमैन माओ ने एक दफ़ा कहा था कि शक्ति बन्दूक की नली से निकलती है। उनका कथन आंशिक रूप से ही सही था : जो शक्ति बन्दूक की नली से निकलनी है, वह थोड़े समय तक ही प्रभावी रहती है। अन्त में, सत्य, न्याय, आज़ादी और लोकतन्त्र के प्रति जनता का प्रेम ही विजय प्राप्त करता है। सरकारें जो चाहें, करने को स्वतन्त्र हैं, लेकिन मनुष्य की भावना ही स्थायी महत्त्व का तत्व है।

सन् 1989 के अन्त में जब मैं उसी दिन बर्लिन पहुँचा, जिस दिन उसकी दीवार तोड़ी गई थी, तब मुझे इस सत्य का अनुभव हुआ। पूर्वी जर्मनी के अधिकारियों की कृपा से मैं दीवार की यात्रा भी कर सका। मैं जब वहाँ एक सुरक्षा केबिन के पास खड़ा था, एक वृद्ध महिला ने मुझे एक लाल मोमबत्ती दी। गहरी भावना से मैंने उसे प्रज्वलित किया और ऊपर उठाया। एक क्षण के लिए तो यह लगा कि यह नन्हीं-सी लौ हवा में बुझ जाएगी, लेकिन वह जलती रही, और मेरे चारों तरफ इकट्ठी भीड़ मेरे हाथों का स्पर्श करती रही, मैंने प्रार्थना की कि करुणा तथा जागृति की यह रोशनी सारी दुनिया में फैल जाए, और यह भय तथा दमन का अंधकार दूर कर दे। यह ऐसा क्षण था जो मुझे सदा याद रहेगा।

कुछ ऐसा ही अनुभव मुझे कुछ हफ्ते बाद चेकोस्लोवाकिया की यात्रा करने पर हुआ, जहाँ मैं राष्ट्रपति हैवेल का अतिथि था—जो अपनी राजनीतिक गतिविधियों के कारण जेल में रहने के बाद अब अपने देश के राष्ट्रपति चुन लिए गए थे। वहाँ पहुँचने पर एक बड़ी भीड़ ने मेरा भावपूर्ण स्वागत किया। बहुत से लोग उँगलियों से विजय चिह्न दिखाते हुए आँखों में आँसू भरे मुझे देख रहे थे। मैंने देखा कि अनेक वर्षों का तानाशाही शासन झेलने के बाद भी ये सब स्त्री पुरुष जीवन-शक्ति से भरपूर हैं और नव-अर्जित स्वतन्त्रता में कुछ कर दिखाने को आतुर हैं।

चेकोस्लोवाकिया के अध्यक्ष से प्राप्त इस निमन्त्रण के लिए—किसी देश के अध्यक्ष का यह मुझे यह पहला निमन्त्रण था—मैं बहुत सम्मानित अनुभव कर रहा था, इसलिए भी कि यह निमन्त्रण ऐसे व्यक्ति का था जिसने हमेशा सत्य के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की थी। मुझे राष्ट्रपति बहुत नम्र तथा ईमानदार लगे—वे मज़ाकिया भी थे। रात्रि को भोजन के समय, जब वे बियर का गिलास हाथ में लिए सिगरेट पी रहे थे, उन्होंने मुझसे कहा कि वे छठे दलाई लामा के प्रति गहरा अपनत्व महसूस करते हैं—जो अपनी दुनियादारी के लिए मशहूर थे। मैं सोचने लगा कि अब चेकोस्लोवाकिया में एक दूसरी क्रान्ति की जा सकेगी : भोजन के समय कम सिगरेट पीने की! लेकिन उनकी जिस बात ने मुझे सबसे ज़्यादा प्रभावित किया, वह थी राष्ट्रपति में दिखावे का अभाव। उन पर अपनी नई हैसियत का कोई असर दिखाई नहीं देता था, और उनकी बातचीत बहुत भावपूर्ण होती थी।

एक अन्य व्यक्ति जिनसे मैं सन् 1990 के आरम्भ में मिला और बहुत प्रभावित हुआ, बाबा आम्टे थे, जिन्होंने दक्षिण भारत में एक गाँव की स्थापना की थी। एक

बिल्कुल बंजर पड़ी ज़मीन पर उन्होंने एक बड़ी जीवन्त बस्ती बनाई थी, जिसमें बहुत से पेड़ खड़े थे, एक गुलाब के फूलों का बागीचा था, साग-सब्ज़ी का एक अलग बाग था, एक अस्पताल, वृद्धाश्रम, स्कूल तथा कार्यशालाएँ थीं। यह खुद अपने-आप में एक उपलब्धि थी, लेकिन इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह सब निर्माण कैदियों द्वारा किया गया था।

जब मैं यह सब देखने निकला तो मैंने पाया कि उनकी कमियों का इन पर कोई प्रभाव नहीं है। मैं एक शेड में गया जहाँ एक व्यक्ति साइकिल का पहिया ठीक कर रहा था। कोढ़ग्रस्त हाथों के ठूँठ से वह छैनी और हथौड़ा सँभाले इतने ज़ोर-शोर से पहिए की ठुकाई कर रहा था कि मैं दंग रह गया और सोचने लगा कि यह अपना कमाल दिखाने के लिए प्रदर्शन कर रहा है। लेकिन उसका आत्मविश्वास तथा लगन देखकर मुझे निश्चय हो गया कि उत्साह और सही आयोजन के द्वारा सब प्रकार के अपंग लोगों को समाज के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है और उन्हें आत्म सम्मान से जीवन बिताना सिखाया जा सकता है।

बाबा आम्टे एक विशिष्ट व्यक्ति हैं। अनेक कठिनाइयों से भरा जीवन बिताने के बाद अब वे भी बिलकुल अपंग हो चुके हैं, और रीढ़ की एक बीमारी के कारण या तो सीधे खड़े हो सकते हैं या लेट सकते हैं। लेकिन उनमें इतनी ऊर्जा है कि उनकी तुलना में कहीं अधिक स्वस्थ होते हुए भी मैं उनके बराबर काम नहीं कर सकता। मैं जब उनके बिस्तर पर बैठा, जिस पर वे लेटे हुए थे, उनका हाथ पकड़े बातें कर रहा था, मैं पूरे समय यही सोचता रहा कि सच्चे अर्थों में करुणामय व्यक्ति ये ही हैं। मैं उनसे कहने लगा कि मेरी करुणा तो मेरी बातों तक ही सीमित है, लेकिन उनकी करुणा उनके कार्यों में व्यक्त होती है। इस पर वे मुझे बताने लगे कि किस तरह उन्होंने अपना जीवन इस सेवा के लिए समर्पित करने का व्रत लिया था। एक दिन उन्होंने देखा कि एक कोढ़ी की आँखों में कीड़े भरे हैं। बस, उन्होंने उसी समय उसकी सेवा का निश्चय कर लिया।

मानवता के इस प्रकार के उदाहरण देखकर मुझे यह विश्वास हो गया है कि, एक दिन आएगा जब पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना द्वारा मेरे देशवासियों के ऊपर किए जा रहे अत्याचारों का अन्त हो जाएगा, क्योंकि चीनियों की करोड़ों की संख्या में कुछ हज़ार लोग किसी समय क्रूरता का आचरण भले ही कर रहे हों, मुझे विश्वास है कि उनमें लाखों लोग ऐसे भी होंगे जो दयावान होंगे।

अब मैं पुनः तिब्बत की अपनी कहानी पर वापस लौट आऊँ, जहाँ असन्तोष तथा दमन ल्हासा तक ही सीमित नहीं रहा है। सितम्बर 1987 के अन्त से मई 1990 तक देश के विभिन्न भागों से अस्सी से अधिक प्रदर्शनों के समाचार आ चुके हैं। इनमें से कुछ में तो बहुत थोड़े लोगों ने भाग लिया है और खून-खराबे की नौबत नहीं आई है। लेकिन इनके परिणामस्वरूप वहाँ भी चीनियों का दमन बहुत बढ़ गया

है और सारे देश में आतंक का एक नया दौर शुरू हो गया है। राजधानी ल्हासा में भी जहाँ तिब्बतियों की तुलना में चीनियों की संख्या अब बहुत ज़्यादा है, पिछले दिनों टैंक देखे गए हैं, और एमनेस्टी इन्टरनेशनल तथा एशिया वॉच ने अपनी रिपोर्टों से यह स्पष्ट कर दिया है कि सारे तिब्बत में कठोर दमन जारी है। चीनी अधिकारी बिना ज़रूरत लोगों को गिरफ्तार करते हैं, उन्हें मारते-पीटते तथा पीड़ाएँ पहुँचाते हैं, सज़ाएँ देते हैं और फाँसी पर भी लटका देते हैं—यह करना स्वभाव बन गया है।

इस परेशान करने वाली सूची में ऐसे बहुत-से लोगों का साक्ष्य भी जोड़ा जा सकता है, जो चीनी उत्पीड़न के शिकार होने के बाद किसी तरह उनके चंगुल से निकलकर भारत आ गए हैं। एक व्यक्ति ने, जिसका नाम इस भय से जाहिर नहीं किया जाएगा कि उसके परिवार को चीनी दरिन्दे यातनाएँ देना न आरम्भ कर दें, मानवाधिकार हनन का अध्ययन करने वालों को बताया कि किस प्रकार उसे पहले लम्बे समय तक कोठरी में नंगा और हथकड़ी पहनाकर रखा गया, साथ ही उसे गालियाँ, और यातनाएँ भी दी गईं। कई दफ़ा जेल के गार्ड रात में शराब पीकर उसके पास आते थे और मारपीट करते थे। एक रात उसका सिर दीवार से इतनी दफ़ा मारा गया कि उसकी नाक से खून बहने लगा, लेकिन वह सचेत बना रहा। उसने बताया कि उसे किस प्रकार सैनिक शिक्षण के लिए निशाने के रूप में भी इस्तेमाल किया गया। राज़ उगलवाने के उद्देश्य से दी जाने वाली यातनाओं में कई दफ़ा उसे कई दिन तक ठंडी कोठरी में खाना और कपड़ों के बिना तड़पने के लिए छोड़ दिया जाता था।

बन्दीगृह में पाँचवें दिन उसे तड़के ही उठाकर जेल के सामने मैदान में ले जाया गया। फिर दो गार्डों ने उसे ज़मीन पर दबोचा, फिर तीसरे ने उसका सिर पकड़कर उसे दस मिनट तक ज़मीन से टकरा-टकराकर मारा। इसके बाद उसने यातना की उस विशेष विधि का वर्णन किया जिसे वे लोग 'लटकता हुआ विमान' कहते हैं :

'मुझे ज़मीन से उठाकर दो सिपाहियों ने रस्सी से मेरी बाँहों को बाँधना शुरू किया। इस काफी लम्बी रस्सी के बीच एक लोहे की अंगूठी थी जिसे मेरी गर्दन के पीछे जमाया गया। फिर उसके दोनों सिरे मेरे कँधों के सामने से निकाल कर मेरी बाँहों में घुमाकर लपेटे गए जिनमें उँगलियाँ भी बँध गईं। अब रस्से से मुझे खींचकर मेरी पीठ में ज़ोर से घुटने मारे जिससे मेरी छाती में तेज़ दर्द उठा। फिर छत में लगे एक कड़े में रस्सी डालकर उसे इस तरह खींचा गया कि मैं हवा में उल्टा लटक गया। मैं बेहोश हो गया। पता नहीं, कब तक मैं इस हालत में बेहोश हवा में लटका रहा और कोठरी में मुझे होश आया। मैं वहाँ नंगा ज़मीन पर पड़ा था, हाथ में हथकड़ी थी और टखने बँधे हुए थे।'

चार दिन बाद उसे फिर नंगा कोठरी से बाहर निकाला गया, हाथों में हथकड़ियाँ लेकिन पैर खुले थे, उसे सवाल-जवाब के लिए कमरे में न ले जाकर एक पेड़ से बाँध दिया गया।

'एक सिपाही ने मोटी-सी रस्सी ली और मुझे पेड़ से बाँध दिया गया। रस्सी को बदन के ऊपर से नीचे तक पेड़ के साथ लपेटा गया। फिर सिपाही पेड़ के पीछे जा खड़ा हुआ, पैर तने से टिकाया और खींचकर रस्सी को कसा। पेड़ के इर्द-गिर्द चीनी सैनिक बैठे लंच कर रहे थे। उनमें से एक उठा और उसने अपने बर्तन का बचा-खुचा खाना, जिसमें मिर्च भी थी, मेरे मुँह पर दे मारा। इससे मेरी आँखें जलने लगीं और देर तक जलती रहीं। इसके बाद रस्सी खोल दी गई और मुझे कोठरी में ले जाया गया। आँखें बंद हो जाने के कारण मैं बार-बार गिरता था, और हर बार गिरने पर मुझे मारा जाता था।

दूसरे बहुत-से तिब्बतियों ने बताया कि प्रदर्शन के समय चीनी सिपाही उन्हें बार-बार बिजली के तारों से मारते रहते थे। एक लड़के के मुँह में तार घुसेड़ दिया गया जिससे उसमें घाव हो गए और वह सूज गया। और इसी तरह एक भिक्षुणी ने बताया कि किस तरह उसके दोनों गुप्तांगों में तार घुसेड़ कर उसे यातना दी गई।

यहाँ यह मान लेने का लोभ हो सकता है कि समग्र चीनी जाति इस प्रकार व्यवहार करती है, मेरा ख्याल है कि यह मानना गलत होगा। लेकिन सच यह भी है कि इस प्रकार की नीचता को नज़रअन्दाज़ भी नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए, यद्यपि अब मैंने अपने जीवन का अधिकांश निर्वासित के रूप में बिता लिया है, और इस पूरी अवधि में मैंने चीनी मामलों में गहरी रुचि ली है, जिसके परिणामस्वरूप मुझे 'चीन का अध्येता' भी कहा जा सकता है, लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं चीनी मस्तिष्क को पूरी तरह समझ पाने में सफल नहीं हुआ हूँ।

जब 1950 के दशक के आरम्भिक वर्षों में मैं चीन गया, मैंने देखा कि बहुत-से लोगों ने समाज में परिवर्तन लाने के लिए अपना सब कुछ दे दिया है। इस संघर्ष में बहुत-से लोगों को चोटें भी आईं और इनमें से बहुत-से लोग ज़बरदस्त आदर्शवादी थे, जो अपने अत्यन्त विशाल देश के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में खुशहाली लाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने एक बड़ी व्यापक व्यवस्था बनाई जिसमें हर एक को 'जीवन की छोटी-से-छोटी जानकारी दी जाती थी, यह भी कि उसे कितने घंटे सोने की ज़रूरत है। वे अपने आदर्शों के प्रति इतने ज़्यादा निष्ठावान थे कि उसे हासिल करने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहते थे। उनके नेता माओत्से तुंग बड़ी दृष्टि तथा कल्पना के धनी थे, और वे रचनात्मक आलोचना का महत्त्व समझते थे तथा इसे बढ़ावा भी देते थे।

लेकिन बहुत जल्द नया शासन आपसी मतभेद और क्षुद्र लड़ाइयों के कारण जैसे लकवे से ग्रस्त हो गया। मैंने अपनी आँखों से यह सब होते हुए देखा। फिर अपने को सुर्खरू बनाए रखने के लिए उन्होंने सच्चाई की जगह झूठी कहानियाँ गढ़ना शुरू कर दिया। जब मैं सन् 1956 में भारत में चाउ एन-लाइ से मिला और उन्हें अपने डर से अवगत कराया, तो उन्होंने कहा कि चिन्ता मत करो, सब ठीक हो जाएगा। लेकिन जो हुआ, वह सब इसका उल्टा ही था।

फिर जब मैं 1957 में तिब्बत लौटा, तब मैंने देखा कि चीनी अधिकारी खुलेआम मेरे लोगों पर अत्याचार कर रहे हैं, लेकिन ऊपर से उनका कहना यही था कि वे कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। ये लोग बेहिचक झूठ बोलते थे, और उसके बाद भी हमेशा यही करते रहे हैं। इससे भी बुरी बात यह थी कि बाहरी दुनिया, जो वे ऊपर से कहते थे, उसी को सच समझती थी। फिर सत्तर के दशक में कई पश्चिमी राजनीतिज्ञ वहाँ ले जाए गए और उन्होंने भी लौटकर यही कहा कि सब ठीक चल रहा है।

सच्चाई यह है कि चीनी आक्रमण के बाद से आज तक सीधे बीजिंग की नीतियों के कारण वहाँ दस लाख से ज़्यादा तिब्बती मारे जा चुके हैं। सन् 1965 में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने तिब्बत के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास करके स्पष्ट रूप से कहा था कि मेरे मातृ-प्रदेश पर चीन ने अधिकार करके वहाँ 'हत्या, बलात्कार तथा बिना कारण बताए गिरफ्तारी तथा बड़े पैमाने पर तिब्बतियों के साथ उत्पीड़न, क्रूरता तथा अमानवीय दुर्व्यवहार का बोल-बाला कर दिया है।'

मैं यह समझ पाने से असमर्थ हूँ कि इतने आदर्शवादी स्त्री-पुरुषों का आचरण किस प्रकार इतनी जघन्य तथा निरर्थक क्रूरता में परिवर्तित हो गया। मैं यह भी समझ नहीं पाता कि चीनी नेतृत्व के कुछ लोगों ने किस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर तिब्बती जाति को ही पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट करने का परामर्श दिया। प्रतीत होता है कि चीन ऐसा देश है जिसने अपना केन्द्रीय विश्वास खो दिया है—जिसके परिणाम स्वरूप पिछले इकतालिस वर्षों से उसकी अपनी जनता भी—साम्यवाद के नाम में—अपार कष्टों का जीवन व्यतीत कर रही है।

परन्तु इस सबके बाद भी कम्युनिज़्म मानव इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है, और आरम्भ में मैं स्वयं भी इसके प्रति बहुत आकृष्ट हुआ था। लेकिन कुछ समय बाद ही मैंने इसका कारण जान लिया, कि यद्यपि कम्युनिज़्म 'जनता' की सेवा करने का दावा करता है—जिसके लिए 'जनता के होटल', 'जनता के अस्पताल' इत्यादि बनाए गऐ हैं—परन्तु उनके लिए प्रत्येक व्यक्ति 'जनता' नहीं है, वे ही लोग 'जनता' हैं जिनका मत उनके कुछ चुने हुए लोगों की दृष्टि में 'जनता का मत' माना जाता है।

कम्युनिज़्म की कुछ अतियों का दायित्व पश्चिमी देशों को भी दिया जा सकता है। पहली मार्क्सवादी सरकारों का उन्होंने जो विरोध किया, उसके परिणामस्वरूप ये लोग अपनी रक्षा के प्रति विशेष सतर्क हो गए। वे प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वस्तु को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे, और सन्देह की इस गहरी प्रवृत्ति ने उनके लिए बड़ी परेशानियाँ उत्पन्न कीं—क्योंकि सन्देह मनुष्य की उस मौलिक प्रवृत्ति के विरुद्ध है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के प्रति विश्वास की भावना ही व्यक्त करता है। इसके उदाहरण के रूप में मैं अपने साथ बीती उस घटना को प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जब 1982 की अपनी मास्को यात्रा में मैं क्रेमलिन-स्थित लेनिन का कमरा देखने ले जाया गया। मेरे साथ सादा कपड़ों में एक सुरक्षा-सैनिक चल रहा था, जो

किसी भी क्षण गोली मारने के लिए तैयार दिखाई देता था, और उसी जैसी एक स्त्री मशीन की तरह तेज़ी से रूसी क्रान्ति का सरकारी इतिहास मुझे बताती चली जा रही थी।

जो हो, मेरी जो भी राजनीतिक मान्यता तथा स्थिति है, मेरा ख्याल है कि मैं अभी भी आधा मार्क्सवादी हूँ। पूँजीवाद से उस समय तक मेरा कोई झगड़ा नहीं है, जब तक वह मानवतावादी आचरण करता है, लेकिन मेरे धार्मिक विश्वास मुझे समाजवाद तथा विश्ववाद की दिशा में ही प्रेरित करते हैं, क्योंकि ये बौद्ध धर्म के ज़्यादा अनुकूल हैं। मार्क्सवाद के प्रति मेरे आकर्षण का एक बिन्दु यह भी है कि वह मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता मानता है। बौद्ध धर्म की मान्यता भी बिल्कुल यही है।

इसके विपरीत, मैं एक तथ्य यह मानता हूँ कि जो देश लोकतन्त्री व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीवाद का आचरण करते हैं, वहाँ साम्यवादी देशों की अपेक्षा कहीं अधिक आज़ादी है। इस प्रकार, अन्तिम रूप से मैं यह कहूँ कि मैं मानवतावादी शासन का पक्षधर हूँ, जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति की सेवा की घोषणा करती है—और जिसमें समाज को अपना योगदान दे सकने योग्य स्वस्थ, समर्थ व्यक्तियों के साथ-साथ युवा, वृद्ध और अपंग व्यक्ति भी शामिल हैं।

यह कहने के बाद कि मैं स्वयं को आधा मार्क्सवादी मानता हूँ, मैं यह कहूँ कि यदि मुझे किसी चुनाव में वोट डालने का अवसर प्राप्त हो, तो मैं किसी पर्यावरण के लिए काम कर रही पार्टी को अपना मत देना चाहूँगा। पिछले वर्षों में दुनिया में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ है कि प्रकृति की ओर उसका ध्यान आकर्षित हुआ है। यह धर्म या पवित्रता से सम्बन्धित विषय नहीं है। अपने ग्रह की सुरक्षा करना अपने घरों की देखभाल करने के समान है। चूँकि हम सब मनुष्य प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिए प्रकृति के विरुद्ध जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए मैं यह कहता हूँ कि पर्यावरण धर्म, नैतिकता अथवा पवित्रता का विषय नहीं है। ये सब वस्तुएँ तो वास्तव में विलास की सामग्रियाँ हैं, जिनके बिना भी हम जीवित रह सकते हैं। लेकिन यदि हम प्रकृति के विरुद्ध कार्य करते रहे तो हम स्वयं जीवित नहीं रह पाएँगे।

यह हमें स्वीकार करना होगा। यदि प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ जाएगा तो मानवता की हानि होगी। इसके अलावा, आज जीवित व्यक्तियों के नाते हमें भावी पीढ़ियों के लिए भी सोचना चाहिए—अन्य अधिकारों की तरह स्वच्छ पर्यावरण भी मानव का एक मूल अधिकार है। इसलिए अन्य लोगों के प्रति हमारा यह कर्तव्य भी है, कि हम उनके लिए एक स्वस्थ संसार छोड़कर जाएँ—अधिक स्वस्थ न भी छोड़ सकें तो इतना तो आवश्यक है, क्योंकि जैसा हमें प्राप्त हुआ था, उतना तो

देना ही चाहिए। यह सुनने में मुश्किल बात लगती हो, लेकिन है नहीं। क्योंकि यद्यपि हम स्वयं कितना क्या कर सकते हैं, इसकी तो निश्चित सीमा है, लेकिन दुनिया एकसाथ मिलकर क्या-कितना कर सकती है, इसकी सीमा अपार है। व्यक्तियों के रूप में हम सब पर यह निर्भर है कि हम जितना भी कर सकते हैं, उतना अवश्य करें। कमरे से बाहर निकलने पर बत्ती बुझाना हमें ज़रूरी नहीं लगता, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हमें यह काम नहीं करना चाहिए।

यही वह बिन्दु है, जहाँ, बौद्ध भिक्षु होने के नाते, मैं यह महसूस करता हूँ कि दैनंदिन-जीवन व्यतीत करने में कर्म का सिद्धान्त कितना उपयोगी है। एक बार जब आप प्रेरणा तथा कार्य के रूप में उसके प्रभाव का पारस्परिक सम्बन्ध समझ लेते हैं, तो हम इसके प्रति अधिक सचेत हो जाते हैं कि हमारे कर्म हमारे अपने ऊपर तथा दूसरों के ऊपर क्या प्रभाव डालेंगे।

इस प्रकार, तिब्बत की निरन्तर घट रही त्रासदी के बावजूद मुझे दुनिया में बहुत कुछ अच्छा होता दिखाई दे रहा है। मुझे यह बहुत अच्छा लग रहा है कि उपभोगवाद की सर्वोपरिता का विचार धीरे-धीरे कम हो रहा है और उसके स्थान पर यह विचार पनप रहा है कि पृथ्वी के साधनों की रक्षा की जाना चाहिए। यह बहुत आवश्यक है। देखा जाए, तो मनुष्य जाति धरती की सन्तान है। और यद्यपि इस समय तक हमारी माता ने अपनी सन्तान के व्यवहार को पूरी तरह सहा है, अब वह हमसे यह कहना चाह रही कि उसकी सहनशीलता अब समाप्त हो रही है।

मैं प्रार्थना करता हूँ कि एक दिन आएगा जब मैं पर्यावरण तथा प्रकृति की सुरक्षा का अपना सन्देश देने चीन देश भी जाऊँगा। चूँकि चीन की जनता के लिए बौद्ध धर्म कोई अपरिचित वस्तु नहीं है, इसलिए मुझे विश्वास है कि मैं व्यावहारिक क्षेत्र में उनके लिए कुछ उपयोगी हो सकूँगा। अन्तिम पैंचेन लामा के पूर्ववर्ती ने एक दफ़ा बीजिंग में कालचक्र का विधिवत् आयोजन किया था। यदि मुझे कभी यह आयोजन वहाँ करने का अवसर प्राप्त हुआ, तो मैं इसके लिए पहला व्यक्ति नहीं होऊँगा। बौद्धभिक्षु होने के नाते पूरा मानव-परिवार ही नहीं, समस्त दुखी जीवमात्र मेरी चिन्ता का विषय है।

मेरा विश्वास है कि मनुष्य के दुख का मूल कारण उसका अज्ञान है और लोग अपने लिए सुख तथा सुविधा प्राप्त करने के उद्देश्य से दूसरों को कष्ट देते हैं। परन्तु सच्चा सुख केवल आन्तरिक शान्ति तथा सन्तोष से प्राप्त होता है, जिसे प्राप्त करने का उपाय दूसरों की सेवा का भाव, प्रेम तथा करुणा का व्यवहार तथा क्रोध, लोभ और स्वार्थ का त्याग है।

कुछ लोगों को मेरी यह बात बचकानी लग सकती है, लेकिन मैं उन्हें याद दिलाना चाहूँगा कि हम दुनिया के किसी भी भाग से आए हों, हम सब मूलतः, एक

समान मनुष्य ही हैं। हम सब सुख प्राप्त करना तथा दुख दूर करना चाहते हैं। हमारी मौलिक आवश्यकताएँ तथा चिन्ताएँ एक ही हैं। इसके अलावा हम सब मनुष्य स्वतन्त्रता चाहते हैं और अपना भविष्य स्वयं निर्धारित करने का अधिकार चाहते हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। इस समय पूर्वी यूरोप से अफ्रीका तक जो भी परिवर्तन हो रहे हैं, उन सबसे यही व्यक्त होता है।

इसी के साथ यह भी सच है कि आज हमारे सामने जो समस्याएँ हैं—हिंसक संघर्ष, प्रकृति के विनाश, गरीबी, भूख, इत्यादि की समस्याएँ—वे सब मनुष्य द्वारा निर्मित समस्याएँ हैं। इन सबको सुलझाया जा सकता है, लेकिन मनुष्य का अपना प्रयत्न, एक-दूसरे की समझ तथा आपस में भाई-चारे के व्यवहार से ही इनको सुलझाना सम्भव है। यह कर सकने के लिए हमें पृथ्वी पर एक-दूसरे के साथ रह रहे व्यक्तियों के प्रति वैश्विक दायित्व का विकास करना आवश्यक है, जिसका आधार शुद्ध हृदय तथा संवेदना ही है।

अब, यद्यपि मैं स्वयं अपने बौद्ध धर्म की सहायता से प्रेम तथा करुणा का भाव उत्पन्न करने में सफल हो चुका हूँ, मुझे विश्वास है कि अन्य व्यक्ति भी, धर्म के द्वारा तथा उसके बिना भी, ये गुण प्राप्त कर सकते हैं। मेरा यह भी विश्वास है कि सभी धर्मों का यही उद्देश्य है—कि लोगों में अच्छाई का भाव उत्पन्न करना तथा उन्हें सुखी बनाना। इनकी ओर बढ़ने के मार्ग अलग हो सकते हैं, परन्तु लक्ष्य सभी के ये ही हैं।

हमारे जीवन पर विज्ञान का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, इसलिए हमें अपनी मानवता की याद निरन्तर दिलाते रहने के लिए धर्म तथा आध्यात्मिकता की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। इन दोनों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। दोनों एक-दूसरे के भीतर अन्तर्दृष्टि हमें प्रदान करते हैं। विज्ञान तथा बुद्ध की शिक्षाएँ, दोनों ही हमें सब वस्तुओं की मौलिक एकता का ज्ञान प्रदान करते हैं।

यह पुस्तक समाप्त करते हुए मैं तिब्बत के सभी मित्रों को धन्यवाद देना चाहता हूँ। आप सबने हमारे प्रति जो चिन्ता व्यक्त की है तथा जो समर्थन प्रदान किया है, उसने हम सबको हृदय में भीतर तक छुआ है, और उससे हमें यह साहस प्राप्त होता है कि हम आज़ादी और न्याय प्राप्त करने की अपनी लड़ाई, हथियारों के प्रयोग द्वारा न लड़कर, सत्य तथा निश्चय के अधिक शक्तिशाली साधनों की सहायता से, लड़ते रहने के लिए साहस प्राप्त कर सकें। मैं जानता हूँ कि आपको धन्यवाद देते हुए, तथा अपने देश के इस कठिन समय में आपसे यह निवेदन करने के लिए, कि हमें भूलिएगा नहीं, मैं तिब्बत की समग्र जनता का प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ।

हम स्वयं भी यह आशा करते हैं कि संसार को अधिक शान्तिपूर्ण, अधिक मानवीय तथा अधिक सुन्दर बनाने में हम भी कुछ योगदान कर सकेंगे। भावी स्वतन्त्र तिब्बत उन सबकी सहायता को तत्पर रहेगा जिनको इसकी ज़रूरत होगी, वह प्रकृति की रक्षा करेगा तथा शान्ति का पथ प्रशस्त करेगा। मुझे विश्वास है कि यथार्थ तथा व्यावहारिकता से आध्यात्मिकता को संयुक्त कर पाने की विशेष तिब्बती योग्यता हमें इस दिशा में विशेष योगदान करने का अवसर देगी, भले ही वह साधारण योगदान क्यों न हो।

अन्त में, मैं अपने पाठकों से उस एक प्रार्थना के शब्द बाँटना चाहता हूँ, जो मुझे हमेशा बहुत प्रेरणा तथा संकल्प प्रदान करती है :

यह आकाश जब तक विद्यमान रहे,
ये प्राणी जब तक जीवित रहें,
तब तक मैं भी संसार के दुख,
दूर करने का प्रयत्न करता रह सकूँ।

❑❑❑

मेरा देश निकाला

यह आत्मकथा है शान्ति नोबेल पुरस्कार से सम्मानित परम पावन दलाई लामा की, जिनकी प्रतिष्ठा सारे संसार में है और जिन्हें तिब्बतवासी भगवान के समान पूजते हैं। चीन द्वारा तिब्बत पर आधिपत्य स्थापित किए जाने के बाद 1959 में उन्हें तिब्बत से निष्कासित कर दिया और वे पिछले 51 वर्षों से भारत में निर्वासित के रूप में अपना जीवन जी रहे हैं।

1938 में जब वे केवल दो वर्ष के थे तब उन्हें दलाई लामा के रूप में पहचाना गया। उन्हें घर और माता-पिता से दूर ल्हासा के एक मठ में ले जाया गया जहाँ कठोर अनुशासन और अकेलेपन में उनकी परवरिश हुई। सात वर्ष की छोटी उम्र में उन्हें तिब्बत का सबसे बड़ा धार्मिक नेता घोषित किया गया और जब वे पंद्रह वर्ष के थे उन्हें तिब्बत का सर्वोच्च राजनीतिक पद दिया गया।

एक प्रखर चिंतक, विचारक और आज के वैज्ञानिक युग में सत्य और न्याय का पक्ष लेने वाले धर्मगुरु की तरह दलाई लामा को देश-विदेश में सम्मान मिलता है। यह आत्मकथा है देश निकाला पाने वाले एक निर्वासित शांतिमय योद्धा के संघर्ष की जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर उनके गंभीर चिंतन की झलक मिलती है और जीवन के लिए प्रेरणाप्रद विचार भी।

ISBN 81-7028-867-3

9 788170 288671

राजपाल